

आज़ाद हिन्द फौज की कहानी

भारत
का द्वितीय
स्वातन्त्र्य समर



पुरुषोत्तम नागेश ओक

भारत का द्वितीय स्वातन्त्र्य समर

(1943-45)

आज़ाद हिन्द फौज की कहानी

एक सैनिक की लेखनी से

पुरुषोत्तम नागेश ओक

आज़ाद हिन्द फौज में नेताजी के सहयोगी

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली

मूल्य : 220/- रुपये

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सदन
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
e-mail : indiabooks@rediffmail.com
दूरभाष : 23553624, 23551344

संस्करण : अक्तूबर 2007

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

प्रकाशकीय

भारतवर्ष को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने के लिए किए गए सन् 1857 के स्वातन्त्र्य संग्राम को प्रथम समर कहा जाता है। यह उचित ही है क्योंकि वह बड़े पैमाने पर, दृढ़तापूर्वक तथा वीरता से लड़ा गया था। यद्यपि अंग्रेजों ने इसे गदर का नाम ही दिया था। उस समय भारतीयों में स्वाभिमान था और उन्होंने इसे गदर मानने से इंकार कर दिया।

इसके उपरांत अंग्रेजों के सिंहासन को बुरी तरह हिला देनेवाला स्वातन्त्र्य समर एकमेव नेता सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में 1943-45 में लड़ा गया।

यह संग्राम पूरी तैयारी के साथ तथा नेता जी द्वारा स्थापित भारत की स्वतन्त्र सरकार ने आरम्भ किया था। यद्यपि युद्ध में कई कारणों से विजय नहीं मिली, इस पर भी तत्कालीन राजनीतिक घटनाएँ सिद्ध करती हैं कि भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में इस संग्राम का भारी योगदान था। अंग्रेज समझ गए थे कि भारत की राजनीतिक जागृति इस स्तर पर पहुँच चुकी है कि इसे अब अधीन रखना सम्भव नहीं है।

यह तो भारत की राजनैतिक दुर्व्यवस्था तथा नेताओं की दिशाहीनता थी कि आज़ाद हिन्द फौज का स्वतन्त्रता में योगदान समझते हुए भी हम इसे स्वातन्त्र्य संग्राम के रूप में मान्यता नहीं देते।

इस पुस्तक के लेखक श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक ने भी इस संग्राम में भाग लिया था तथा दो वर्ष तक नेताजी के साथ कार्य में संलग्न रहे। लेखक ने विस्तार से आज़ाद हिन्द फौज की पूरी कहानी और इसकी तैयारी का विधिवत् वर्णन किया है। आज़ाद हिन्द फौज के विषय में बहुत सी जानकारी जो भारत की जनता को नहीं है, इसमें मिलेगी ऐसा हमारा विश्वास है।

—योगेन्द्र दत्त

अनुक्रम

संसर्गजन्य रोग होने पर उसे अपना बिस्तर लेकर उस झोपड़ी में आकर सोने के लिए कहा जाता था। किन्तु सिरदर्द, पेटदर्द जैसी छोटी-मोटी बीमारियों के लिए औषधि दे दी जाती थी और प्रमाण-पत्र दे दिया जाता था कि इसे इतने-इतने दिन तक किसी भी प्रकार का काम न दिया जाए। ऐसी बीमारी की छुट्टी को 'अटेन्ड-सी' कहा जाता था। जो लोग कुछ दुर्बल हों किन्तु जिनको कोई पीड़ा न हो, उन लोगों को 'अटेन्ड-बी' लिखकर दिया जाता था। इसका अभिप्राय था कि उन्हें कोई साधारण बैठने का अथवा निरीक्षण आदि का कार्य देना; परिश्रम का कार्य नहीं करवाना। कुछ कामचोर लोग व्यर्थ ही रोग का बहाना बनाकर जाते थे। उन्हें 'एटेन्ड-ए' कहा जाता था जिसका अभिप्राय था कि इसे किसी प्रकार की कोई बीमारी नहीं है और यह किसी भी कार्य के योग्य है।

प्रत्येक सैनिक को प्रातःकाल उठकर प्रातर्विधि आदि से निवृत्त हो, चाय पीकर, अपना सामान ठीक प्रकार से रखना होता था। जिन्हें कोई शारीरिक पीड़ा हो, ऐसी टुकड़ियों के सब सैनिक मिलकर उनमें से किसी द्वितीय श्रेणी के अधिकारी के नेतृत्व में अनुशासन में चलकर डॉक्टर के पास जाँच के लिए ले-जाया जाता था। जापानी अधिकारियों द्वारा प्रतिदिन अगले दिन के लिए "आपकी छावनी से हमें तीन या चार हजार सैनिकों की आवश्यकता है, उनको कहीं पर काम करने के लिए ले जाना है" इस प्रकार का आदेश हर छावनी के मुख्य अधिकारी के पास आता था। इस कारण उन्हें प्रातःकाल आठ बजे तक छावनी के द्वार पर तैयार रखने का आदेश होता था। उस दिन-रात में छावनी का मुख्य अधिकारी उस छावनी की हर टुकड़ी के मुखिया को उसकी टुकड़ी की संख्या के हिसाब से पाँच, पचास अथवा पाँच सौ सिपाही काम के लिए दूसरे दिन प्रातःकाल साढ़े सात बजे फाटक के पास भेजने का आदेश देते थे।

जिस प्रकार पहले दिन निश्चित किया गया था, उसी प्रकार दूसरे दिन जापानी अधिकारी मोटर-लारियों के साथ आते थे तथा उन सबको एक-एक लारी में भरकर बन्दरगाह पर, अनाज के गोदामों आदि-आदि स्थानों पर काम करने के लिए ले जाते थे। वहाँ पर प्रातःकाल नौ बजे से दोपहर बारह बजे तक तथा दोपहर एक बजे से सायंकाल सात बजे तक इन सबको अनाज के बोरे, पैट्रोल की टंकियाँ आदि सामान जहाजों से अथवा मोटर-लारियों से उतारने या उन पर चढ़ाने के काम करने पड़ते थे। वे दोपहर बारह से एक बजे के मध्य साथ में लाया भोजन करते थे, अथवा उनकी छावनी से उनके लिए भोजन आ जाता था।

हर टुकड़ी में गोदाम की देखभाल करनेवाला एक अधिकारी नियुक्त होता

अध्याय पृष्ठ

पार्श्वभूमि

ईसवी सन् 1818 में पेशवाओं के पतन के उपरान्त हिन्दुस्थान की प्रभुसत्ता अंग्रेजों के हाथ में आ गई। तब से सन् 1947 तक, लगभग सवा–सौ वर्षों तक भारतीय सैनिकों द्वारा स्वप्रेरणा से चलाए गए सन् 1857 के स्वतन्त्रता–संग्राम को हिन्दुस्थान की दासता के इतिहास का प्रथम स्वातन्त्र्य समर गिना जाय, क्योंकि यह बड़ी दृढ़ता से और चिरस्थायी रूप में तथा बहुत बड़े पैमाने पर लड़ा गया था। उसके बाद अंग्रेजों के सिंहासन को उससे भी अधिक हिला डालनेवाला दूसरा स्वातन्त्र्य समर एकमेव नेता परम पूज्य नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व में सन् 1943 से 1945 तक लड़ा गया था।

यद्यपि यह युद्ध भी सन् 1857 के युद्ध के समान ही असफल रहा था, तदपि प्रथम युद्ध की अपेक्षा कितनी ही बातों में श्रेष्ठ गिने जानेवाले इस युद्ध को 'भारत का द्वितीय स्वातन्त्र्य समर' नाम देना ही अधिक शोभनीय होगा। सौ–सवा–सौ वर्षों की दासता के कारण अनेक लोगों के मन इतने दुर्बल हो गए होते हैं कि उन्हें 'स्वतन्त्रता संग्राम' जैसा नाम भी या तो भयप्रद या हास्यास्पद लगने लगता है। यह ठीक ही है, क्योंकि जो लोग खाकी वस्त्रधारी व्यक्तियों को देखकर ही डर जाते हैं, बैडमिंटन के एक–दो मैच खेलकर ही जो मानते हैं कि उन्होंने बहुत व्यायाम कर लिया है तथा 'न पकड़ूँगा शस्त्र हाथों में मैं' जिन्होंने यह संकल्प कर लिया हो और जिनकी महिलाओं को पूना से रेल द्वारा मुम्बई तक जाने के लिए किसी के साथ की आवश्यकता होती है, ऐसे लोगों को, उन्हीं के अन्य बन्धुओं ने अनेक प्रकार के कष्ट झेलकर राज्यसत्ता के विरुद्ध युद्ध किया तथा उसमें प्राणोत्सर्ग भी किया तो, यह तो केवल व्यर्थ की बड़ाइयाँ ही लगें, इसमें आश्चर्य की ऐसी कौन–सी बात है?

कोई भी सुसंगठित, सशस्त्र क्रान्ति की चिरस्थायी तथा बड़े पैमाने पर लड़ी गई लड़ाई, 'स्वतन्त्रता संग्राम' के नाम से अभिहित होने की पात्र है तथा इसीलिए 1943 से 1945 तक का नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और उनकी 'आजाद हिन्द फौज' ने जो लड़ाई लड़ी, उसे भारत का 'द्वितीय स्वातन्त्र्य समर' कहा ही

जाना चाहिए। इन दोनों संग्रामों के बीच में जो अन्य सशस्त्र अथवा निश्शस्त्र प्रयत्न हुए उनका, कम या अधिक मात्रा में अपने अन्तिम ध्येय की दृष्टि से तथा जागृति उत्पन्न करने के रूप में लाभ तो हुआ, परन्तु उसे एक जागृति अथवा आन्दोलन से अधिक व्यापक नाम नहीं दिया जा सकता।

सन् 1857 की अपेक्षा 1943 का प्रयत्न प्रत्येक दृष्टि से सुसंगठित तथा सुनियोजित था। सन् 1857 के समर से पूर्व भारतीय सैनिकों में अन्दर ही अन्दर बहुत अधिक असन्तोष पनप रहा था। तब उसी का अकल्पित रूप से ऐसा प्रस्फुटन हुआ कि वह बड़वानल की भाँति सारे देश में फैल गया। इसके विपरीत 1943 में पूरी तरह विचार करने के उपरान्त तथा पूर्ण तैयारी के साथ नेताजी द्वारा स्थापित 'भारत की स्वतन्त्र सरकार' ने औपचारिक रूप से तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करते हुए अंग्रेज तथा अमेरिकन लोगों के विरुद्ध युद्ध आरम्भ किया था।

पहले स्वतन्त्रता-संग्राम में हिन्दू तथा मुसलमानों ने अपने-अपने झण्डों के तले, अलग-अलग नेताओं के नेतृत्व में स्वतन्त्र रूप से युद्ध किया। किन्तु इस द्वितीय स्वातन्त्र्य संग्राम में हिन्दुस्थान के विभिन्न प्रान्तों के सैनिकों ने अकेले एक व्यक्ति सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व तथा एक ही तिरंगे झण्डे के तले युद्ध किया। इस युद्ध में भारतीय सैनिकों के पास कम मात्रा में सही, परन्तु अंग्रेजों के समान ही आधुनिक युद्ध-सामग्री की सब व्यवस्था थी। पाश्चात्य देशों के पास जिस प्रकार जहाज, हवाई दल, टैंक, फौलादी गाड़ियाँ, तोपें, बन्दूकें आदि युद्ध-सामग्री थी, उसी प्रकार परन्तु कुछ कम मात्रा में, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की सेना को भी युद्ध-सामग्री उपलब्ध थी। 1857 के स्वातन्त्र्य समर को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता, महत्त्व तथा किसी प्रकार की सहायता प्राप्त नहीं थी। परन्तु 1943 के युद्ध को यह सब पूर्णतया प्राप्त थी।

यह तो हुई भौतिक दृष्टि। किन्तु मानसिक दृष्टि से भी 1943 का स्वतन्त्रता-संग्राम अधिक जागृतिपूर्ण था। सारा धन चुरा लिये जाने के बाद जागे हुए मालिक को जिस प्रकार एक प्रकार की उदासीनता तथा क्रोध आता है, कुछ-कुछ उसी प्रकार की मानसिकता 1857 में भारतीय जनता की थी। अब—वह चोर कौन है ? कहाँ का है ? इसके हमारे ही घर में सदा के लिए रहने पर कौन-कौन-सी समस्याएँ उत्पन्न होंगी ? इसके साथी कौन-कौन-से हैं ? हमारे समान ही अन्य किन-किन को इसने लूटा है ? इसको हम अपने घर से किस प्रकार निकालें ? इस कार्य में कौन-कौन हमारी सहायता कर सकता है ? इसकी समझ अब भारतीय जनता को कुछ-कुछ हो गई थी तथा इस समझ से यह द्वितीय स्वातन्त्र्य समर,

जहाँ तक सम्भव हो सका उस सिद्धता के साथ लड़ा गया।

इस द्वितीय स्वतन्त्रता-संग्राम में मैंने भी थोड़ा-बहुत भाग लिया था। अत: इस युद्ध का आरम्भ, उसका पूर्ण वर्णन, तथा उसके साथ-साथ आनेवाली आनुषंगिक गाथाओं का मुझे स्वयं अनुभव होने से और सुनी हुई तथा देखी हुई घटनाओं के आधार पर इसका सर्वांगीण विवेचन इस ऐतिहासिक ग्रन्थ में करने की मैंने ठानी है—युद्ध के आह्वान के लिए किस-किस प्रकार की तैयारी की आवश्यकता होती है? धन-धान्य, औषधियों आदि का संग्रह कैसा तथा कितना होना चाहिए? यातायात के साधन कार्यक्षम रखने में कैसी-कैसी रुकावटें आएँगी और क्यों? अन्तिम विजय प्राप्त करने तक किन-किन बातों की आवश्यकता होती है? नेताजी सुभाषचन्द्र बोस सुदूरपूर्व के इस क्षेत्र में कैसे आए? उनके द्वारा की गई आजाद हिन्द सरकार की स्थापना, 'रानी ऑफ झाँसी रेजिमेण्ट' का ध्येय तथा कार्य, जापान, जर्मनी, इटली तथा अन्य मित्र राष्ट्र आदि से नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा स्थापित आज़ाद हिन्द सरकार के सम्बन्ध, विभिन्न लोगों के आचार तथा विचार, इनकी स्वतन्त्रता के प्रयत्न इत्यादि में उल्लेख उचित प्रसंगानुसार इसमें विवेचित किया गया है।

प्रस्तुत इतिहास-ग्रन्थ 'सह्याद्रि' में ही सर्वप्रथम प्रकाशित हो, ऐसा प्रथम विचार किया गया था। 'सह्याद्रि' के लिए यह ग्रन्थ लिखने का आग्रह गुरुवर्य साहित्य-सम्राट श्री रा० तात्यासाहेब तथा नरसिंह चिन्तामण केळकर जी ने किया।

सुदूरपूर्व के स्वतन्त्रता-संग्राम का सुसंगत तथा समग्र इतिहास और उससे उठनेवाले प्रश्न, इस दृष्टि से यह ग्रन्थ जहाँ तक हो सके परिपूर्ण हो, ऐसा मेरा प्रयास रहा। 'गंगावतरण' में गंगा के प्रबल वेग को जटाधारी शंकर अपनी जटाओं में धारण करें, उनसे इस प्रकार की प्रार्थना महाराज भगीरथ ने की थी। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में तो स्वयं शंकर जी ने ही मुझे भगीरथ प्रयत्न करने के लिए उद्यत कर इस इतिहासरूपी गंगा का पावन जल सह्याद्रि के मस्तक पर बिना प्रयास प्रवाहित रखने के लिए प्रेरित किया। अत: इस सम्बन्ध में सब-कुछ विपरीत ही हुआ। इस 'गंगा' की प्रबल धारा से 'सह्याद्रि' में किसी अन्य विचार-प्रवाह को स्थान नहीं मिलेगा; इतना ही नहीं, अपितु छ: मास तक 'सह्याद्रि' इसमें पूर्णतया निमग्न हो जाएगा, जब ऐसा लगने लगा तो फिर स्वतन्त्र पुस्तक के शीर्ष पर ही उस 'गंगा' की जिम्मेदारी आ गिरी, अर्थात् इस गंगा से पवित्र होनेवाले पाठक तथा ग्रन्थकार 'भगीरथ' ऐसी मुख्य प्रेरणा करनेवाले 'शंकर' के सदैव ही कृतज्ञ रहेंगे।

इस इतिहास में जिनके विषय में लिखा गया है, ऐसे व्यक्ति अथवा

घटनाएँ, जिनके सम्बन्ध में यदि कुछ कम या अधिक शब्द कहे गए हों तो वे दोनों प्रकार से किसी व्यक्तिगत तौर पर कतई नहीं लिखे गए हैं, परन्तु केवल 'भारत माता' को स्वतन्त्र कराने के लिए अगले व्यक्ति को यदि ठोकर लगती है तो पिछला व्यक्ति स्वयमेव सँभल जाय, इस हेतु से ही लिखा गया है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के विषय में लिखते समय अथवा उनकी अन्य महान् व्यक्तियों से तुलना करते समय कभी कहीं किसी अतिशयोक्ति अथवा तुलनात्मक दृष्टि से कोई ऊँच-नीच का भेद दिखाया गया हो तो इससे किसी का भी अनादर करने का ग्रन्थ लिखनेवाले का कोई भी हेतु नहीं है।

मनुष्य-प्राणी तो कभी भी सर्वगुण-सम्पन्न नहीं हो सकता। किसी एक व्यक्ति के गुण दूसरे व्यक्ति में नहीं मिलते। अतः यदि किसी एक विशेष व्यक्ति के बारे में लिखते समय उस व्यक्ति के अमुक-अमुक गुण दूसरे व्यक्ति में नहीं हैं, ऐसा कहने का यह उद्देश्य नहीं है। दूसरे व्यक्ति में कोई भी गुण नहीं अथवा पहला व्यक्ति सब गुणों से परिपूर्ण है, कि दूसरे व्यक्ति के गुणों का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ की श्रेणी में नहीं आता, इतना ही कहा जाएगा। लव तथा कुश के चरित्र लिखते समय अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों ही एक-दूसरे से श्रेष्ठ थे, ऐसा उस-उस ग्रन्थ में लिखना पड़ेगा जिसमें उनके विषय में लिखा जाएगा। इसके अलावा श्रेष्ठ व्यक्तियों के परस्पर गुण तथा अवगुण लिखनेवाला ग्रन्थ-लेखक, स्वयं को श्रेष्ठ समझता है ऐसा समझने का अर्थ तो अर्थ का अनर्थ करना होगा। वस्तुतः भारतमाता के ही क्या, अपितु समस्त संस्कार के सब श्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए इस लेखक के मन में बहुत ही आदरभाव विद्यमान है।

—पुरुषोत्तम नागेश ओक

10 गुडविल कॉलोनी
औंध, पुणे-411007

अध्याय एक

स्वतन्त्रता-संग्राम का जन्म-स्थल

द्वितीय स्वतन्त्रता-संग्राम की अभियोजना सुदूरपूर्व के जिन प्रदेशों में हुई उन प्रदेशों की यत्किंचित् जानकारी होना, इस संग्राम की पूरी कल्पना होने की दृष्टि से आवश्यक है। प्रशान्त पेसिफिक महासागर के विस्तृत जल-डमरू पर छः हजार छोटे-छोटे द्वीप हैं। इनमें से अधिकांश डच लोगों के अधिकार में हैं और थोड़े-बहुत अंग्रेजों, अमेरिकनों, पोर्चुगीजों आदि के अधिकार में हैं। इन देशों के कुछ द्वीपों पर अधिकार किये हुए इतने वर्ष बीत जाने पर भी कभी-कभी कोई एक द्वीप ऐसा भी मिल जाता है कि जिस पर किसी का भी अधिकार नहीं दीख पड़ता अथवा प्रत्यक्ष किसका अधिकार है, यह जानने की कोई सुविधा नहीं होती। वहाँ काले, बौने, जंगली लोग रहते हैं, अर्थात् इतने विस्तीर्ण तथा छोटे-छोटे प्रदेशों का राज्य-शासन चलाना विश्व के शान्तिकाल में भी कठिन हो जाता है, तब फिर युद्ध-काल में तो उसका रक्षण लगभग असम्भव ही है, यह बात आसानी से किसी की भी समझ में आ जाएगी।

नीचे समानान्तर रेखा में धनुष की प्रत्यंचा के समान सुमात्रा, जावा, बाली व आस्ट्रेलिया इत्यादि प्रदेश तथा उन पर धनुष की आकृति के समान मलय, स्याम, हिन्दचीन, चीन, जापान, अल्युशियन द्वीप, अलास्का, कनाडा तथा अमेरिका आदि देश हैं। इस धनुष के मध्य में फिलिपीन्स, बोर्नियो, न्युगिनी तथा हवाई आदि देश हैं।

पूर्व एशिया में जब युद्ध के बादल मँडराए, तब मंगोलियन अर्थात् पीत-वर्ण जाति के लोग और विशाल नीले समुद्र से व्याप्त इस प्रदेश को, रक्त धाराओं के छींटों ने इसे इन्द्रधनुष का ही स्वरूप प्रदान कर दिया, ऐसा कहने में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं होगी। अपना सामान फैलाकर जिस प्रकार यात्री रेलगाड़ी में जितना सम्भव हो उतना स्थान घेर लेते हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य प्रवासियों द्वारा पूर्व दिशा के इन विस्तृत प्रदेशों में जो भी स्थान मिला वहीं पर

अपना झण्डा गाड़ दिया। डच, पोर्चुगीज, अंग्रेज, अमेरिकन, फ्रैंच, इत्यादियों द्वारा पर्याप्त स्थान अपने अधिकार में कर लेने के कारण एक ने दूसरे देश को जितनी आवश्यकता हो उतना स्थान घेर लेने के लिए न तो रोका और न ही उसका विरोध किया। इसके साथ ही उन-उन देशों के पिछड़े हुए लोग भी आधुनिक शस्त्रास्त्रों से, अर्थात् तोप, बन्दूक, पिस्तौल इत्यादि के अभाव में अधिक प्रतिकार करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार पूर्व एशिया में पाश्चात्य साम्राज्यशाही आरम्भ हो गई।

इनमें से कुछ सीमा तक विशेष रूप से जागृत और उन्नत केवल दो ही पूर्व के देश हैं—चीन तथा जापान। इन दोनों में से भी पुराना तथा बहुत बड़ा देश चीन अपनी आन्तरिक कलह से बेज़ार हो गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन में एशिया में आगे बढ़ने की शक्ति का लेश भी शेष नहीं रहा। इसके विपरीत अंग्रेज, अमेरिकन, फ्रांस, जर्मनी आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्य की आकांक्षाओं के समक्ष इन्हें अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता, बाजार, व्यापार इत्यादि तो सब-कुछ गँवाना ही पड़ा, परन्तु इसके अतिरिक्त मुख्य-मुख्य स्थान, जहाज के बेड़े तथा हवाई अड्डे और कितने ही सार्वभौमिकता के अधिकारों से उनको वंचित होना पड़ा।

एशियायी देशों की गर्दन पर बैठे हुए इस गोरे भूत को देखकर जापान देश तो समय पर ही जाग गया। इस समय तक जापान देश में ईसाई मिशनरी घुस गए थे और उन्होंने अपना धर्मान्तरण का दुष्कार्य भी आरम्भ कर दिया था। कर्म-धर्म-संयोग से इस घुसपैठ के अत्यन्त गम्भीर परिणामों को ध्यान में रखकर जापानियों ने समय रहते ही इस विषबेल को समूल नष्ट करने की ठानकर कुछ दुष्ट पादरियों को फाँसी पर चढ़ा दिया, कुछ को देश से बाहर निकाल फेंका। उनके व्यास-पीठों को विनष्ट कर दिया। और फिर इसके बाद केवल कुछ डच लोगों को एक या दो पत्तनों पर प्रवेश देने के अतिरिक्त अन्य किसी भी विदेशी को जापान ने अपने देश के किसी भी भाग में किसी भी कारण से प्रवेश नहीं करने दिया।

विदेशियों के साथ आवागमन करनेवाले, जापान से बाहर जाने का प्रयत्न करनेवाले तथा कई वर्षों तक अन्यान्य देशों में रहकर वापस जापान में आनेवाले किसी भी जापानी व्यक्ति को भी मृत्युदण्ड दिया जाएगा, ऐसी कठोर व्यवस्था कर दी। जापान ने इस प्रक्रिया में कई वर्षों तक एकाकी जीवन-यापन किया। किन्तु भविष्य में, जापान देश के द्वार अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए खुलवाने में एक अमेरिकी मल्लाह कमाण्डर पेरी आधुनिक उपकरणों से सुसज्ज एक जहाजी बेड़े के साथ जापान के तट पर आया और फिर समय को देखकर

आवश्यकतानुसार कभी प्यार से अवसर उचित जानकर तो कभी बलप्रयोग करके भी उसने अपना कार्य सिद्ध किया और अपने प्रयत्न में सफल होकर वह जैसे-तैसे जापान में प्रविष्ट हो ही गया।

जब जापान ने अनुभव किया कि अब एकाकी रहकर संन्यासी वृत्ति से कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है, तब उसने सर्वप्रथम अमेरिका से अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री का करार किया। जब एक बार यह आरम्भ हो गया तो फिर उसके बाद एक के बाद एक इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, आदि देशों ने भी जापान से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। उस समय जापान का सम्राट नाममात्र के लिए ही केवल शासन-सत्ता का स्वामी था, जबकि सारी सत्ता शोगुन अर्थात् प्रधानमन्त्री के पास ही थी। किन्तु सत्ता के गलियारों के भीतर चलनेवाले षड्यन्त्रों, देश के सूबेदार और सरदारों आदि द्वारा किया गया विद्रोह और अनेक सैनिक वृत्ति के युवकों की सत्ता-लोलुपता आदि के कारण विदेशियों से अपने देश की रक्षा कर पाना प्रधानमन्त्री को असम्भव-सा लगने लगा। ऐसी स्थिति में अत्यन्त दूरदर्शिता का परिचय देते हुए राजकीय चातुर्य को स्थापित करते हुए उसने सारा शासकीय कार्यभार राजा के हाथ में सौंप दिया और स्वयं इन सब झंझट-झमेलों से निवृत्त होकर अलग हट गया।

जापान में राजघराने के प्रति अत्यन्त आदर-भाव व्याप्त होने के कारण सारे सरदार अपने-अपने कलहों को भूलकर राजा के कार्य में हाथ बँटाने के लिए तत्पर हो गए। सबके सहयोग से तथा दूरदर्शी राजकर्मियों के परामर्श से यह निश्चय किया गया कि अब जापान देश को एकान्तप्रियता तथा यथास्थिति का मार्ग छोड़कर प्रगति की ओर अग्रसर होना चाहिए। ऐसा निश्चय हो जाने के उपरान्त सन् 1868 में 'मेजी टेन्नो हेका' नामक जापान के सम्राट ने सत्ता के सारे सूत्र अपने हाथ में ले लिये।

वह वर्ष अर्थात् 1868 का वर्ष, आधुनिक जापान का जन्म-वर्ष गिना जाता है। उसी वर्ष जापान के सम्राट ने अगला कार्यक्रम स्पष्ट करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण पत्रक प्रसारित किया, जिसमें कहा गया था कि जापान किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं रहेगा, किन्तु हर प्रकार की उन्नति यथा शिक्षा, शारीरिक सौष्ठव, मानसिक उन्नति, युद्ध-सामग्री, सेना और वाणिज्य जैसे प्रत्येक क्षेत्र में विश्व के अन्य देशों की भाँति ही उनकी बराबरी करेगा। इस प्रसारण के साथ ही इस पर कार्यान्वयन भी आरम्भ हो गया। कानून, व्यापार के तत्त्व, काम-धन्धा आदि सीखने के लिए जापान ने अपने देश के कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थियों को उन-उन विषयों में विशेषज्ञता-प्राप्त देशों में शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए भेज दिया।

उदाहरणार्थ जर्मनी में भेजे गए विद्यार्थियों को सैनिक प्रशिक्षण लेने के निर्देश दिये गए और कहा गया कि वे शारीरिक और सैनिक प्रशिक्षण, शस्त्रास्त्र-संचालन तथा शारीरिक और मानसिक उन्नति एवं प्रत्येक नागरिक को शत-प्रतिशत देशभक्ति के रंग में किस प्रकार रँगा जाता है इत्यादि सब-कुछ जानकर और सीखकर ही आएँ।

इसी प्रकार फ्रांस से विधि-विधान और पाश्चात्य कला, इंग्लैंड से अन्तर्राष्ट्रीय तथा राजकीय चातुर्य और सुनियन्त्रित राज्य का शासन एवं अमेरिका से आधुनिक यान्त्रिक प्रगति करने की विद्या सीखने की योजना बनाकर उसके अनुसार प्रत्येक देश के अच्छे गुणों को आत्मसात् करना और अवगुणों को त्याग देना, इस प्रकार का निश्चय किया। इसके साथ ही ये सब तत्त्व छोटे बच्चों की पुस्तकों तक ही सीमित नहीं रखे, अपितु उन्हें राष्ट्रीय जीवन के विकास के लिए भी लागू किया।

इस प्रकार उन-उन विधाओं में पारंगत राष्ट्रों में सैकड़ों की संख्या में अपने दूत भेजकर जापानी लोगों ने आधुनिक प्रगति की संजीवनी से शिथिल हो रहे अपने राष्ट्र को पुनरेण पुनर्जीवित तथा सशक्त किया। इसके अतिरिक्त भी उन-उन देशों के विशेषज्ञों को जापान में आमन्त्रित कर उनसे अपने नागरिकों को प्रशिक्षण दिलवाया, जिससे वे लोग शास्त्र, उद्योग, कला आदि क्षेत्रों में निष्णात हो गए। उन्होंने इस प्रकार की किसी बात के लिए कोई स्थान ही नहीं छोड़ा कि किसी छोटी-से-छोटी वस्तु के लिए भी परमुखापेक्षी होना पड़े। सभी कुछ अपने देश में ही उत्पन्न करने की व्यवस्था की।

इसके विपरीत जापान के मौसम अथवा अन्य प्राकृतिक वस्तुएँ भी यदि किसी एक उद्योग के लिए अनुकूल नहीं हों, तो भी उसे कृत्रिम प्रकार से उत्पन्न करके उन्होंने उस उद्योग में भी उन्नति प्राप्त की और इस प्रकार विश्व-बाजार पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उदाहरण के लिए जापान में दुग्ध और दुग्ध-उत्पाद की मात्रा बहुत ही कम है। सामान्य जापानी मनुष्य को दही क्या वस्तु है और उसको किस प्रकार बनाया जाता है तथा उसको किस प्रकार अथवा किसके साथ खाया जाता है, आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। तदपि राष्ट्रीय प्रगति की परिपूर्णता की दृष्टि से जापान ने गाय के दूध का पाउडर बनाकर उसके बन्द डिब्बों को इंग्लैंड, अमेरिका जैसों को भी सस्ते मूल्य पर निर्यात किया। हमारी दृष्टि से यह सामान्य-सी लगनेवाली बात हो सकती है।

मुझे इसका अनुभव बैंकाक में लेफ्टिनेंट कुनी झगा जी से बातचीत के अवसर पर हुआ। एक बार जब वे मुझसे मिलने के लिए आए तो मैं उस समय

भोजन कर रहा था। उनसे भोजन करने के लिए कहा तो उन्होंने बताया कि उन्होंने भोजन कर लिया है। तब मैंने उनसे कहा कि वे कम से कम थोड़ा-सा दही ग्रहण कर लें। तब उन्होंने चम्मच से दही अपने मुख में डाला और चटख़ारे लेते हुए उन्होंने कहा, 'ओह! कोरेबोनान् देस्का?' अर्थात् यह क्या वस्तु है?

मैंने उनसे उन्हीं की भाषा में कहा, 'कोरेनो नामाएवा दही देस्' अर्थात् इसका नाम दही है।

'मो देस्का। ताईहेन योगेशि देसने।' अर्थात्—अच्छा, ऐसी बात है? यह तो बड़ा ही स्वादिष्ट है!

उस काल में रेशमी और सूती तथा गरम वस्त्र, काँच की वस्तुएँ, चीनी-मिट्टी की वस्तुएँ, दूध तथा मक्खन के डिब्बे, रंग, खिलौने, इत्यादि छोटी-बड़ी सब वस्तुओं में अन्य पाश्चात्य देशों से स्पर्धा करने की जापान ने ठानी और उसे पूर्ण करके दिखाया।

न केवल इतना अपितु तोप, बन्दूक, युद्धपोत, वायुयान, टैंक, मोटर-गाड़ियाँ आदि-आदि युद्ध की सामग्री का भी उत्पादन उन्होंने आरम्भ कर दिया। परन्तु इस सारे कार्य को उन्होंने बड़ी गुप्त रीति से सम्पन्न किया; किसी को भी इस विषय में ज्ञात होने ही नहीं दिया। विदेशियों को तो उन्होंने इसका भेद नहीं ही दिया, अपितु सामान्य स्वदेशी जापानियों को भी इस विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो पाया था। सेना तथा युद्ध-विशेषज्ञों में कुछ वरिष्ठ अधिकारियों को ही केवल इन कल-कारखानों के विषय में जानकारी थी कि वे उनके देश में कहाँ स्थित हैं।

जब ऐसी अफवाह उड़ी कि जापान पूर्वी एशिया में युद्ध प्रारम्भ कर सकता है, उस समय एक पढ़े-लिखे किन्तु बुद्धि से नितान्त मूर्ख ब्रिटिश सैनिक अधिकारी ने छाती ठोंककर कहा, "जापानियों के पास तो सन् 1911 में हमसे लिये हुए केवल दो-चार वायुयान हैं तथा इसके बाद सन् 1914-18 के विश्वयुद्ध के टूटे-फूटे कुछ अन्य वायुयान हैं।"

इस प्रकार हर तरह से पूरी गुप्तता रखकर और पाश्चात्य देशों की आँखों में धूल झोंककर जापान ने अपने देश की आकांक्षाओं को पूरा करने की तत्परता से एक-एक पग आगे बढ़ाया। महाभारत के अनुसार जब द्रोणाचार्य ने एकलव्य को युद्धविद्या सिखाने से मना कर दिया, तब जिस प्रकार उसने उनको गुरु मानकर उनकी मिट्टी की प्रतिमा बनाकर उसके सम्मुख सम्पूर्ण श्रद्धा से धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त की, उसी प्रकार जापान देश ने भी प्रत्यक्षतया जो सम्भव नहीं था वह दृढ़ निश्चय के आधार पर तथा उन्हीं विदेशियों की अप्रत्यक्ष सहायता तथा प्रयोगों से उसको प्रत्यक्ष कर दिखाया, और अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया, अर्थात्

विदेशियों ने जिन वायुयानों को टूटे और पुराने कहकर फेंक दिया था, उन्हें लाकर तथा जो भी यन्त्र-सामग्री उपलब्ध हो सकी उसमें अपनी बुद्धि से कुछ सुधार करके एक प्रबल युद्ध-बल का निर्माण करके दिखा दिया।

हम कितनी सिद्धता रखते हैं, इस बात की जानकारी लेने के लिए जापान ने 1904 में रशिया के विरुद्ध युद्ध का आह्वान कर दिया और एक वर्ष के अन्दर ही, 1905 में उसने अपने शत्रु को पराजित भी कर दिया। इस युद्ध में जापानी सेना तथा उसके जहाजी बेड़ों ने अपनी उपयोगिता और सिद्धता को प्रत्यक्ष कर दिया। इस युद्ध के एडमिरल टोगो का सुप्रसिद्ध जहाज जापान में अब ऐतिहासिक वस्तुओं के संग्रहालय में एक दर्शनीय वस्तु तथा राष्ट्रीय अभिमान की स्मृति के रूप में सदा के लिए सुरक्षित रखने का निर्णय लिया गया है।

यान्त्रिक युग के शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध पाश्चात्य देशों ने सैकड़ों वर्षों से एशिया के देशों को दासता की शृंखला में जकड़ लिया था। इसलिए दासता के अंधड़ों के सिवाय कुछ भी न दीख पड़नेवाले एशियायी देशों की प्रवृत्ति निराश तथा उदासीन हो गई थी। जापान की इस विजय से, पश्चिमी देशों को पराजित करना कोई असम्भव बात नहीं है तथा हमें भी पाश्चात्य देशों की दासता को दूर कर स्वतन्त्रता प्राप्त करना सम्भव है, ऐसी आशा की किरण सब पूर्वी देशों को दृष्टिगोचर होने लगी।

इसके बाद सन् 1933 में जापान ने चीन देश के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। यह युद्ध जापान की पिछले महायुद्ध में पराजय होने तक निरन्तर अर्थात् लगभग दस-बारह वर्ष तक चलता रहा था। जापान की सेना युद्ध का प्रत्यक्ष प्रशिक्षण प्राप्त करने के उद्देश्य से युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर चीन की सीमा पर युद्ध करने के लिए गई थी। इस प्रकार चीन देश की युद्धभूमि जापानी सैनिकों के प्रशिक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण अंग बन गई।

जापान ने पिछले रणकुण्ड में कूदने की तैयारी किस प्रकार और कब की थी, इस पर अब हम विचार करते हैं।

जापान के देशवासी एक परिवार की भाँति रहते हैं। उनका सम्राट उनके लिए पिता के समान है और वहाँ की दस करोड़ प्रजा (यह संख्या उस समय की है) उसकी सन्तति के समान है। इस प्रकार की मनोभूमि जापान के प्रत्येक बच्चे की बनाई जाती है। इस एक विशिष्ट मनोभूमि के कारण, प्रत्येक कार्यालय के चपरासी से लेकर बड़े न्यायाधीश तथा मन्त्री तक, अलग-अलग विभागों के अधिकारी अथवा साधारण कार्य करनेवाले भी सप्ताह में एक-दो बार महल की घास काटना, सफाई करना तथा सार्वजनिक स्थलों पर कार्य करना आदि कार्य

बड़े योग से, मानो वह उनका अपना निजी कार्य हो, इस भावना से करते हैं और वे किसी भी कार्य को निम्न श्रेणी का अथवा हेय भी नहीं समझते हैं।

प्राथमिक पाठशाला से लेकर उच्चतम विश्वविद्यालय के छात्र भी इस प्रकार सार्वजनिक उद्यानों में कार्य करने के लिए स्वेच्छा से आते हैं। देश के लिए आत्माहुति देनेवाले सैनिकों को वहाँ पर विशेष आदर और सम्मान प्राप्त है। सारा देश एक परिवार है—यह भावना होने के कारण तथा विश्व के श्रेष्ठ और वरिष्ठ स्थान प्राप्त करने का देशवासियों का निश्चय होने के कारण, सारे देशवासियों द्वारा अत्यधिक कष्ट सहन कर अपने देश को ऊर्जित अवस्था प्राप्त कराने का सिद्धान्त वहाँ पर रूढ़ हो गया है।

जापान देश की भूमि तो अत्यन्त सँकरी है और उसमें अनेक द्वीप तथा खाड़ियाँ थीं। वहाँ की भूमि बड़ी ही पथरीली थी। वहाँ की जनसंख्या तीव्रता से वृद्धिगत होती जा रही थी। इस कारण जहाँ भी स्थान मिले—मार्गों के किनारे, बड़े मैदानों में, पहाड़ों पर, जहाँ भी दो-चार फुट का स्थान देखा, वहीं पर धान और सब्जी आदि उगाना प्रत्येक जापानी का कर्त्तव्य है—ऐसी शिक्षा प्रत्येक नागरिक को दी गई। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति ने जिसको जहाँ पर भूमि दिखाई दी वहीं पर कुछ न कुछ बोकर उत्पादन आरम्भ कर दिया। जापानियों का प्रमुख आहार चावल और मछली है। अन्य लोगों की भाँति उन्हें ऐशो-आराम का जीवन अथवा स्वादिष्ट एवं पौष्टिक पदार्थ अच्छे न लगते हों ऐसी बात नहीं है, किन्तु वे उस समय उन्हें बहुत महँगे मिलते थे, यह उनकी विवशता थी।

जापानियों को अपने देश को सुदृढ़ पृष्ठभूमि पर स्थिर करने के लिए अनाज, लोहा, टीन, रबर, चमड़ा आदि सभी महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी वस्तुएँ भारी मूल्य चुकाकर इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस, हॉलैंड आदि पश्चिमी देशों में प्राप्त सामग्री उनके एशिया-खण्ड के देशों से लेनी पड़ती थीं। कर्मचारियों का वेतन न्यूनातिन्यून निर्धारित कर, अनेक प्रकार के कष्ट झेलकर, यहाँ तक कि भूखे रहकर भी उन्होंने इस सामग्री को क्रय किया और फिर उनसे अपने देश में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन कर उन्हें सस्ते मूल्य पर देकर तथा उसके लिए अत्यधिक जकात और चुंगी भुगताकर भी उन्होंने भले ही अनेक कष्टों का सामना किया हो, किन्तु अपने उद्देश्य को नहीं भुलाया।

इस सबमें उनका उद्देश्य था अपना साम्राज्य स्थापित करना; और यदि यह सम्भव नहीं हुआ तो कम से कम पाश्चात्य देशों को एशिया-खण्ड से बाहर खदेड़कर एशियाई देशों के साथ पारस्परिक हित के समझौते करना। जो देश केवल साम्राज्यवाद की गर्मी से ठाने बैठे थे कि वे कच्चा माल भी महँगा बेचेंगे

और पक्के माल पर भी अत्यधिक कर लगाएँगे, उनसे जापान की पूरी नाकाबन्दी हो रही थी। जिस प्रकार शेयर बाजार में पैसा लगानेवाले उस बाजार में तथा अन्य और कहीं एक-दूसरे के साथ सहयोग करके ही नहीं अपितु अनेकानेक प्रकार के छल-कपट करके, किसी बिना पैसेवाले को उसमें घुसने से वंचित कर देते हैं, उसके लिए रंचमात्र भी स्थान नहीं छोड़ते, उसी प्रकार इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस, हॉलैण्ड इत्यादि देश चीन जैसे आधे गुलाम देशों को जापान की सहायता करने ही नहीं देते थे। उन देशों में परस्पर सदा झगड़ा बना रहे—अपने इस उद्देश्य में वे एक प्रकार से सफल हो गए थे।

इस प्रकार प्रत्येक दिशा से निराश होने के कारण युद्ध का आह्वान करने के अतिरिक्त जापान के लिए अन्य कोई उपाय शेष ही नहीं रह गया था। अब मात्र युद्ध ही एक मार्ग अवशिष्ट है, ऐसा जब जापानियों को निश्चय हो गया तो वहाँ के वयोवृद्ध जनरल टोयामा तथा अन्यान्य वयोवृद्ध विद्वानों ने योजनानुसार जापान को युद्धक्षम बनाने का निश्चय किया। इस स्थिति में जापान के प्रत्येक नागरिक ने भले ही वह नर हो अथवा नारी, अधिकाधिक परिश्रम कर और न्यूनातिन्यून वेतन स्वीकार कर, अपने देश की सुदृढ़ नींव रखी। इस कार्य में जापान के नागरिकों में कौन सर्वाधिक स्वार्थ-त्याग करता है, इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा ही चल पड़ी थी। इस प्रकार अधिक से अधिक देश की उत्पादन-क्षमता को बढ़ाकर तथा देशवासियों का वैयक्तिक व्यय कम-से-कम करके, बचत की गई। उस बचत से, उस राष्ट्रीय सम्पत्ति से, जापान ने धन-धान्य, यन्त्र-सामग्री, शस्त्रास्त्र-निर्माण के लिए आवश्यक लोहा, वस्त्रों के लिए कपास, चमड़ा तथा युद्ध के लिए आवश्यक सब प्रकार की सामग्री प्राप्त की और अत्यन्त धीरता और गम्भीरता से, अनेक वर्षों तक अत्यधिक कष्ट सहन कर, ध्येय पर अपनी दृष्टि रखकर उत्पादन को महत्त्व प्रदान किया।

उस समय जापानियों की दशा कुछ-कुछ उस असहाय महिला जैसी थी जिसका पति असमय में दिवंगत हो गया हो और अपनी पत्नी की गोद में एक नन्हा बालक छोड़ गया हो। उस बालक का पालन-पोषण जिस प्रकार वह विधवा पत्नी इस आशा से करती है कि बड़ा होकर वह उसका आश्रय-स्थल बनेगा, जापानियों ने भी इसी प्रकार की आशा में वे सब कष्ट और यातनाएँ सहन कीं।

जिस समय सन् 1939 में योरोप में युद्ध आरम्भ हुआ, उस समय जापानी सेना पाँच-छ: वर्ष तक अंग्रेजों और अमेरिकनों के साथ युद्ध कर सके, इतनी युद्ध-सामग्री जापान ने तैयार करके एकत्रित कर ली थी। युद्ध तो आरम्भ हो ही गया था और युद्ध-सामग्री भी संचित की जा चुकी थी। एक प्रकार से यह ऐसा

योग बन गया था जिसमें किसी उपयोगी सहयोगी की ही आवश्यकता थी। योरोप में युद्ध आरम्भ होना ही युद्ध में कूद पड़ने का उपयुक्त संयोग बन गया है, ऐसा जापानियों ने निश्चय कर लिया था तथा विश्व-पटल के निरन्तर बदलते रहनेवाले रंगों पर से भी उसने अपनी दृष्टि को हटाया नहीं था।

सन् 1940 के जून मास में फ्रांस की पराजय हो गई तो उस समय जापान ने एक और पग आगे बढ़ा दिया। पूर्व में हिन्द-चीन पर उस समय फ्रांस की सत्ता थी। 'उनकी रक्षा के लिए हम अन्य देशों के साथ सहयोग करने के लिए तत्पर हैं तथा साथ ही चीन जैसे जापान के प्रबल शत्रु-राष्ट्र को हिन्द-चीन से इसके बाद कोई सहायता न मिल सके, इसका हमें ध्यान रखना होगा।' इस लक्ष्य को सम्मुख रखकर सन् 1940 के जुलाई मास में जापान ने अपने कुछ अधिकारी हिन्द-चीन हैनाय, सायमान इत्यादि प्रमुख स्थानों पर नियुक्त कर दिए। यह एक प्रकार का हिन्द-चीन में उसका चंचु-प्रवेश जैसा तो था ही, साथ ही वहाँ की स्थिति पर दृष्टि रखने में भी सुविधा थी कि ऐसी स्थिति में कितना और आगे बढ़ा जा सकता है। इन अधिकारियों के माध्यम से वहाँ की फ्रेंच सेना के वहाँ के घेरे तथा उसकी प्रतिकार-क्षमता की पूरी जानकारी भी जापान को मिल गई। इस प्रकार जापान का तिहरा उद्देश्य सिद्ध हो गया।

यह सब हो जाने पर शीघ्र ही अगले मास में जापान ने फारमोसा, जो जापान के शासन में था और जो उनके देश की दक्षिण दिशा में स्थित एक द्वीप था और उसके साथ ही हैनान जो कि चीन के समीपवाला द्वीप था, वहाँ पर अपना जहाजी बेड़ा तथा सेना को एकत्रित करके उसे हिन्द-चीन की ओर भेज दिया। मैत्री भाव से यह सेना प्रविष्ट हो रही है, इस प्रकार का एक पत्र जापानी अधिकारियों ने फ्रैंच गवर्नर जोन उकू को केवल बारह घंटे का समय देकर भेज दिया। किन्तु फ्रैंच गवर्नर इसको स्वीकार करने में टालमटोल करने लगा तो जापानी सेना सीधे हिन्द-चीन में प्रविष्ट होकर आगे बढ़ती गई और फिर हिन्द-चीन के हायन नामक नगर पर तोपों से एक-दो गोलाबारी भी कर दी।

फ्रैंच गवर्नर ने इसका प्रतिकार करने की अपेक्षा एक प्रकार से 'स्वागतम्' की घोषणा-सी कर दी। इसके उपरान्त हिन्द-चीन से सायगान तथा अन्य महत्त्वपूर्ण ठिकानों पर जापान ने अपने जहाजी बेड़े तथा हवाई अड्डे स्थापित कर दिए। सेना के शिविर तैयार कर दिए तथा मित्रता का करार करके वहाँ पर युद्ध-सामग्री एकत्रित करनी आरम्भ कर दी। अमेरिका तथा इंग्लैंड के विरुद्ध जापान को जो युद्ध का आह्वान करना था, उस दृष्टि से यह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पग था। क्योंकि जापान से फिलिपीन्स, मलय अथवा जावा, सुमात्रा

आदि द्वीपों पर आक्रमण करने के लिए हिन्द-चीन आधी दूरी पर था—यह बड़े लाभ की स्थिति थी। यहाँ से हवाई जहाज से आक्रमण करना, जलपोतों से खाद्य सामग्री पहुँचाना तथा सेना को उतारना आदि सारे कार्य अत्यन्त ही सरल थे।

यह सब तो था ही, इससे अधिक महत्त्व की दूसरी बात यह थी कि फ्रेंच भी थे तो गोरे ही। ऐसी स्थिति में 'पानी की अपेक्षा रक्त गाढ़ा होता है' इस न्याय से जापान ने इंग्लैंड, अमेरिका के विरुद्ध युद्ध का आह्वान करने के पश्चात् हिन्द-चीन में यदि फ्रेंच लोगों की सत्ता निष्कंटक चालू रहती, तब वे निश्चित ही तटस्थता को छोड़कर इंग्लैंड और अमेरिका की सहायता करने लगते तथा उन्हें आश्रय भी दे देते। इंग्लैंड और अमेरिका ने भी, चाहे उनकी इच्छा होती अथवा न होती, जापान पर आक्रमण करने के लिए वह सुविधाजनक स्थान होने के कारण हिन्द-चीन को अपना अड्डा बना लिया होता।

हिटलर ने हॉलैंड, बेल्जियम, फ्रांस आदि पर जो आक्रमण किया वह केवल साम्राज्य-स्थापना की तृष्णा से नहीं, अपितु एक बार युद्ध आरम्भ किया तो फिर शत्रु के तथा अपने बीच के अन्तर को यथाशीघ्र कम करके सीधे शत्रु के प्रमुख अड्डे पर आक्रमण करना ही पड़ता है, इस सिद्धान्त का अनुसरण करने के उद्देश्य से किया था।

इस प्रकार हिन्द-चीन को जापान ने यदि अपने अधिकार में कर लिया तो इसमें उसकी युद्ध-नीति ही थी। यहाँ से समर-भूमि निकट थी। इतना ही नहीं, अपितु उसको वहाँ से समर-भूमि का निरीक्षण-परीक्षण कर पाना सरल सम्भव था। इस प्रकार पूरी तैयारी हो जाने के उपरान्त जापान ने 8 दिसम्बर 1941 को अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इस घोषणा के तुरन्त बाद ही इंग्लैंड ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया। इस प्रकार एक ओर जापान, जर्मनी तथा इटली तथा दूसरी ओर इंग्लैंड, अमेरिका तथा रशिया, इस प्रकार के गुट बन गए।

भारत के द्वितीय स्वातन्त्र्य समर का इतिहास लिखना छोड़कर मैंने व्यर्थ की इस रामकथा को लिखना क्यों आरम्भ कर दिया, अनेक लोग इस प्रकार की बात सोच सकते हैं। परन्तु इस स्वातन्त्र्य समर का जिन सुदूरपूर्व के युद्ध से उद्‌भव हुआ था, उसका पूर्व-परिचय प्राप्त किये बिना तथा इस समर में जापान के सहयोग को समझे बिना अपने इस स्वातन्त्र्य समर की यथार्थ कल्पना होना सम्भव नहीं था।

अध्याय दो

सुदूरपूर्व में युद्ध आरम्भ

सन् 1941 के दिसम्बर मास का आरम्भ था। अभी तक जर्मनी हर स्थान पर अपनी विजय-पताका फहराता जा रहा था। उस समय की ही घटना है। अमेरिका के उस समय के राष्ट्राध्यक्ष रूज़वेल्ट के पास जापान के वकील के रूप में कुरुस तथा समझौता-वार्ता करने के लिए दूत नोयामा की जोड़ी कार्यरत थी। वह यह अनुमान लगाने में व्यस्त थी कि भाईचारे से क्या कोई समझौते का मार्ग निकल सकता है या नहीं।

किन्तु अमेरिका ने जब देखा कि जापान समझौता करने के लिए तत्पर है तो उसने अपना रुख कड़ा कर लिया। न केवल इतना अपितु उसने जापान के विरुद्ध कड़े उपाय करने आरम्भ कर दिए। परिणामस्वरूप 1941 के दिसम्बर की 5 तथा 6 तारीखों में जापान के विभिन्न हवाई, थल-सैनिक तथा जहाजी बेड़ों के अड्डों पर कुछ विशेष प्रकार की हलचल आरम्भ कर दी। सैनिकों से लदे हुए जहाज दक्षिण की ओर जाते दिखाई देने लगे। किसी ने इस कार्यवाही पर किसी प्रकार की चूँ-चाँ नहीं की। विदेशी संवाददाताओं को यदि किसी प्रकार कहीं से इनकी भनक मिल भी जाती तो जब वे इनके विषय में जापानी अधिकारियों से पूछते तो वे कह देते 'हमें तो कुछ भी ज्ञात नहीं है।' किसी भी विषय पर मौन धारण करने के लिए जापानी लोग बड़े प्रसिद्ध हैं। महत्त्वपूर्ण कार्यों में गुप्तता रखने का गुण जापान के नागरिकों ने तथा विशेषतया उनके सैनिकों ने पूर्णतया आत्मसात् किया हुआ है। यह साधना उनके राष्ट्रीय प्रशिक्षण की अत्युत्कर्षता की द्योतक है। यदि कभी कोई अपरिचित व्यक्ति किसी जापानी अधिकारी से उसका नाम भी पूछ लेता तो वह जापानी अधिकारी उस अपरिचित की ओर इस प्रकार देखता मानो वह उससे डरता है अथवा उस पर उसे सन्देह है। इसके सर्वथा विपरीत भारतीय लोग बहुत ही छिछले तथा बड़बोले होते हैं। वे व्यर्थ की बातों में ही उलझ जाया करते हैं।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस सदा ही कहा करते थे कि भारतीय व्यक्ति को किसी रहस्य को गुप्त रख पाना बड़ा कठिन लगता है। अन्य लोगों की गुप्त बातों को वे जान पाएँ, इसके लिए कई बातों के विषय में या तो वे पूछेंगे ही नहीं, किन्तु हम बहुत बड़े हैं और हमें अन्य लोगों की बहुत-सी रहस्यमयी बातें या गतिविधियाँ विदित हैं, ऐसी डींग मारते हुए जो बातें नहीं बतानी चाहिए सर्वप्रथम उन्हें ही बता देते हैं।

जापानी तथा अंग्रेजों की सेना में महत्त्वपूर्ण तथा गुप्त रहस्यों के विषय में एक मुख्य अन्तर यह है कि अंग्रेजी सेना में यदि किसी सैनिक द्वारा कोई गुप्त कार्य करवाना हो तो उसकी टुकड़ी में वरिष्ठ अधिकारी से प्रारम्भ कर छोटे सिपाही तक उस कार्य का निर्देश पहुँचाया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो उन सब अधिकारियों को लगता है कि छोटे सैनिक को सीधा सम्मान देकर उनका अपमान किया गया है। इसे उन्होंने 'प्रॉपर चैनल' अर्थात् 'उपयुक्त प्रक्रिया' का नाम दिया हुआ है। यदि भूल से किसी स्वैराचारी बड़े अधिकारी ने नई प्रथा डालकर स्वयं ही कोई कार्य छोटे सिपाही को करने के लिए कह दिया तो बीच के अधिकारी इसमें स्वयं को भयंकर रूप से अपमानित अनुभव करते हुए उस सिपाही को डाँट-डपटकर उस कार्य की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं।

अभिप्राय यह है कि अंग्रेजी शैली से पढ़े हुए भारतीय सैनिक अधिकारी भी इसी स्वभाव-विशेष के अनुसरणकर्त्ता होते हैं। किन्तु इसके सर्वथा विपरीत जापानी सेना में गुप्त कार्य के विषय में बतानेवाला तथा उस कार्य को कार्यान्वित करनेवाला, इन दोनों के अतिरिक्त किसी अन्य तृतीय व्यक्ति को किसी बात की सूचना नहीं होती। यह प्रथा ही बन जाने के कारण बीच की श्रेणी के अधिकारी इस विषय में जिज्ञासा व्यक्त ही नहीं करते। अपने अत्यधिक विश्वासपात्र मित्र के पास अथवा अपने जन्मदाता माता-पिता के पास भी जापानी सैनिक कभी भी गोपनीयता का कोई रहस्य उद्घाटित नहीं करते।

सन् 1941 के 8 दिसम्बर की घटना है। प्रातःकाल चार बजे का समय था। मैं सिंगापुर की छावनी में मीठी नींद में सोया हुआ था। मेरे कुछ मित्र मेरे कमरे के पास आकर जोर-जोर से कुण्डी खटखटाते हुए मेरा नाम पुकारने लगे। उनके कोलाहल से मेरी नींद खुल गई। मैं क्षणभर के लिए यह समझ नहीं पाया कि आज इन सबको क्या हो गया है। परन्तु दूसरे क्षण मुझे अपने चारों ओर बाहर के वातावरण से चीख-पुकार, भाग-दौड़, दरवाजों के खोलने-बन्द करने की आवाजें, सीढ़ियों पर उतरने-चढ़ने की धमधमाहट, इस प्रकार की गड़बड़ सुनाई देने लगी।

मैं बिस्तर पर से उठा और जल्दी से कमीज पहनकर बाहर निकला। बाहर देखा तो काफी भीड़ जमा थी और सबकी दृष्टि उत्तर दिशा की ओर आसमान पर लगी हुई थी। मैं भी उस भीड़ में सम्मिलित होकर उस ओर ही देखने लग गया।

दूर, हमसे लगभग पाँच या छः मील की दूरी पर ऊपर क्षितिज में आठ-दस वायुयान चील की भाँति चक्कर काटते हुए, नीचे की ओर आग के गोले बरसा रहे थे। वे बम थे। अपने जीवन में प्रथम बार हमने इस प्रकार का यह अस्त्र देखा था। वही दृश्य आगे के साढ़े तीन वर्षों के लिए रण-संग्राम का 'अथ' सिद्ध हुआ था।

हम देख रहे थे कि उस ओर के क्षितिज पर तेज प्रकाश दिखाई दे रहा था। परन्तु इस प्रकार सहसा ही युद्ध आरम्भ हो जाएगा यह विचार भी हम लोगों में से किसी के मन में आया ही नहीं था। इसके अतिरिक्त वे वायुयान भी हमसे पर्याप्त दूरी पर होने के कारण हमारे लिए उस समय वह केवल आतिशबाजी जैसा ही दृश्य था। उसी कौतूहल से हम उसे निहार रहे थे।

हम लोगों ने उस समय यह मान लिया कि ब्रिटिश हवाई सेना का यह छद्म युद्ध का अभ्यास चल रहा होगा। आधे घंटे के बाद सहसा हमने देखा कि वे सारे वायुयान उसी दिशा में विलीन हो गए हैं। जिस प्रकार दीपावली के अवसर पर अथवा किसी बारात में आतिशबाजी देखने को मिलती है, इस प्रकार यह नया दृश्य क्या होगा इस प्रकार की विस्मय की स्थिति में भी पाँच बज गए थे। अभी उठने का समय हुआ नहीं था, इसलिए हम लोग फिर से जाकर अपने बिस्तरों में जा सोए। दिन चढ़ने पर हम सब उठे और अपने दैनिक कार्यों में लग गए। उस समय हम लोग 'रिइन्फोर्समैन्ट कैंप' में रह रहे थे।

'रिइन्फोर्समैंट कैंप' सैनिकों के लिए लगभग धर्मशाला जैसा ही होता है। उसमें रहनेवाले सैनिकों को, रेलवे स्टेशन पर प्रतीक्षालय में थोड़े समय के लिए रहनेवाले यात्रियों के समान अधिक कुछ करने के लिए होता ही नहीं। स्थानान्तर अथवा नए स्थान पर नियुक्तिवाला व्यक्ति अपने निर्धारित स्थान पर जाने से पहले अथवा अवकाश पर जानेवाला व्यक्ति जहाज अथवा रेलगाड़ी की व्यवस्था होने तक उसमें रह सके, उसके लिए 'रिइन्फोर्समैंट ग्रुप' नाम से एक विभाग बनाया जाता था; अर्थात् जिस प्रकार धर्मशाला में चौकीदार, मुन्शी, भण्डार-प्रमुख, रसोइया, सफाई-कर्मचारी आदि उस धर्मशाला में आकर निवास करनेवालों के लिए नियुक्त किए जाते हैं, उसी प्रकार 'रिइन्फोर्समैंट ग्रुप' सेना के इस यूनिट के लिए, कैप्टन अथवा मेजर स्तर का एक अधिकारी, कैंप-कमाण्डर के रूप में नियुक्त किया जाता है। उसके सहायक के रूप में स्टोर-कीपर, अकाउँट क्लर्क,

रसोइया और स्वीपर्स आदि विभिन्न पदों पर सैनिक ही नियुक्त कर दिए जाते हैं।

इस प्रकार का एक 'रिइन्फोर्समैंट ग्रुप' सिंगापुर के विद्याधरी क्षेत्र में स्थापित किया गया था। सिंगापुर में जहाज से आनेवाले सैनिकों को, मलय में कहीं भी अपनी सेना की टुकड़ियों में अथवा रास्तों के कार्य पर उपस्थित होने से पूर्व इस विद्याधरी 'रिइन्फोर्समैंट कैंप' में रहने की बारी आती थी। इसी प्रकार की बारी हम पर आई थी और हम वहाँ पर सन् 1941 के नवम्बर की 30 तारीख को पहुँच गए थे। यह कैंप रबड़ के पेड़ों से घिरे घने जंगल में था।

सिंगापुर तथा मलय में चारों ओर नगर तथा ग्रामों की सीमा छोड़कर अन्य स्थानों पर रबड़ के वृक्ष पंक्तिबद्ध लगभग दस-दस फुट के फासले पर लगाए होते हैं। किसी विशाल सभा-मण्डप में लगे स्तम्भों की पंक्तियों की भाँति, किसी भी ओर से देखने पर इन वृक्षों की समानान्तर रेखाएँ दूर-दूर तक सँकरी होती हुई दिखाई देती हैं। रबड़ के पेड़ से अभिप्राय सामान्य मनुष्य यह अर्थ निकालते हैं कि इन पेड़ों से रबड़ का उत्पादन होता होगा, किन्तु यह धारणा नितान्त भ्रमात्मक है। यदि इस वृक्ष का अस्पष्ट-सा वर्णन करना हो तो हमारे यहाँ जिस प्रकार जामुन का वृक्ष होता है वैसा ही यह भी होता है। इन वृक्षों को यदि समानान्तर और विपुल संख्या में लगाया जाय तो उनकी छाया इतनी घनी होती है कि उसमें सूर्य-प्रकाश तक प्रवेश नहीं पा सकता। इस प्रकार के रबड़ के वृक्षों से भरी भूमि को 'रबड़ एस्टेट' नाम दिया जाता है। ऐसे 'रबड़ एस्टेट' में यदि आप बैठें तो यह आभास होगा कि आप किसी मण्डप में बैठे हैं और वहाँ पर सदा सायंकाल के समय की-सी ही अनुभूति होगी।

उस स्थान का 'विद्याधरी' नाम भी मूल संस्कृत शब्द विद्याधरी का ही द्योतक है। मलय के 'जोहोरबारु' जागीरदारों के राजकुल की एक महिला का यह नाम था। उस महिला का अन्तिम संस्कार उस स्थान पर किया गया था, अतः उस श्मशान-भूमि का नाम ही 'विद्याधरी' पड़ गया था। इससे सिद्ध होता है कि सिंगापुर द्वीप 'जोहोर' स्थानाधिपतियों का ही था। अंग्रेजों ने उनसे ही इसे खरीद लिया था। इस श्मशान-भूमि की पिछली ओर रबड़ के घने उपवनों के मध्य में विद्याधरी सैनिकों के कमरे थे। ऊपर झोपड़ियों की भाँति तमाल-पत्रों के अथवा अन्य पत्रों के छप्पर थे; अन्य सामान पूर्णतया काष्ठ का ही था। लगभग 40 फुट लम्बे तथा 10 फुट चौड़े—इस प्रकार अलग-अलग बीस-पच्चीस फुट तक ये झोंपड़े भारतीय लोगों के लिए ही बनाए गए थे। यहाँ से लगभग आधे मील के अन्तर पर गोरे लोगों का कैंप था।

यहाँ पर रहने के लिए जो लोग आए हुए होते हैं, उनको किसी प्रकार का

कोई कार्य नहीं करना पड़ता—यह भ्रम नहीं रहना चाहिए। कोई काम हो अथवा न हो, किन्तु दास लोगों की भाँति भारतीय सैनिकों को किसी न किसी काम पर लगाए रखना अंग्रेज अधिकारियों का कार्य होता था। अपनी रोबदार वर्दी पहनकर प्रात: एक बार भारतीय सैनिक शिविर का चक्कर लगाना एक सामान्य बात बन गई थी। प्रात:काल साहब जब चक्कर लगाने आते तो वहाँ पर सब ठीक-ठाक होने पर भी उसको उस प्रकार मान लेना और यह कहना कि सब ठीक है, इससे उनको ऐसा लगता है मानो उन्होंने कुछ काम किया ही नहीं। अत: बिना कारण कुछ-न-कुछ किसी-न-किसी काम में अथवा बात में कमी निकालना, अपने-आपको बहुत समझ है ऐसा दिखाना तथा सेना के अनुशासन और स्वच्छता के विषय में कुल मिलाकर स्वयं को अत्यधिक समझ है ऐसा रोब दिखाकर अलग-अलग प्रकार की आज्ञाएँ देना, अपनी जाँच का एक लम्बा-चौड़ा ब्यौरा तैयार करके उसमें स्वयं ही अंकित किये गए पाँच या छ: छोटे-छोटे बदलावों को क्लर्क अथवा लिपिक को पाँच-छ: प्रतियाँ बनाने को कहकर मध्याह्न के समय उसपर हस्ताक्षर करना। सायंकाल बीयर पीते हुए मानो बहुत सारा काम किया है ऐसा जताते हुए आलतू-फालतू गप्पें मारना तथा अपने आधीन काम करनेवाले सब लोगों को मूर्ख मानकर उनकी निन्दा करना, यह अंग्रेजों द्वारा दासों के साथ बर्ताव करने का ढंग हमारे हिन्दुस्थानी अधिकारियों ने जैसे का तैसा सीखा है।

नवम्बर की 30 तारीख से युद्ध होने की बड़ी अफवाह होने के कारण किसी भी कारण से कैंप छोड़कर सिंगापुर नगर में अथवा अन्य किसी भी स्थान पर जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।

कैंप से आठ-दस मील की दूरी पर सिंगापुर द्वीप में ही अलेक्ज़ान्ड्रा नामक द्वीप का एक भाग है। वहाँ एक बड़े पर्वत के निचले भाग में चारों ओर गुफाएँ खोदकर उन्हें पत्थर-सीमेंट से भलीभाँति सुदृढ़ करके रखा गया है। उनमें सिंगापुर द्वीप पर पाँच-छ: वर्ष तक बड़ी सरलता से युद्ध जारी रखा जाए इतना गोला-बारूद का संग्रह विद्यमान था। चारों ओर चौकियाँ और रखवाले, लोहे की पट्टियों की नाकाबान्दी आदि पूरा पक्का प्रबन्ध किया गया था। इस परिसर के भीतर रेलगाड़ी का एक मार्ग भी बनाया गया था। 'रिइन्फोर्समैंट कैंप' के सैनिकों की सौ-दो सौ की टुकड़ियाँ मोटरगाड़ियों में बैठाकर यहाँ आठ-आठ घंटों की फटीग ड्यूटी के लिए अर्थात् गोला-बारूद की पेटियाँ भण्डार-गृहों से मालगाड़ी के डिब्बों में भरना तथा मालगाड़ियों से फिर से भण्डार-गृहों में अथवा लारियों में भरना, ऐसी मजदूरी के लिए भेजे जाते थे।

उन्हीं दिनों अर्थात् उस कैंप में रहते हुए ही दीनानाथ तथा कान्तिचन्द्र झादू

नामक दो शिक्षित काश्मीरी बन्धुओं से मेरा परिचय हुआ जो कालान्तर में गहन मित्रता में परिणत होता गया। इनमें से दीनानाथ अंग्रेजी विषय में एम० ए० था। उसके भाई कान्तिचन्द्र ने बी० एस-सी० किया हुआ था। विभिन्न प्रकार की मीठी बातें कहकर तथा विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दिखाकर अंग्रेजों ने ऐसे अनेक शिक्षित तथा उच्च श्रेणी के लोगों को उस समय की भारतीय सेना के हीन तथा निकृष्ट जीवन में फाँस लिया था।

विगत पृष्ठों में 8 दिसम्बर सन् 1941 के प्रात:काल की उस बमबारी के दृश्य को देखने के उपरान्त हम लोग फिर से सो गए थे। प्रात:काल यथासमय उठने के उपरान्त हम सब लोग अपने-अपने कामों में लग गए थे। यह अंग्रेजों की ही कोई झूठमूठ की लड़ाई होगी, ऐसा कुछ सोचकर हमने उस ओर कुछ अधिक ध्यान दिया ही नहीं था। जापान जैसा 'दुर्बल' एशियाई देश प्रबल अंग्रेजों के विरुद्ध भी कहीं युद्ध की घोषणा कर सकता है ? क्या उसमें इतना सामर्थ्य है ? ऐसा हम सब लोग सोचते थे। जापान ने न तो कभी युद्ध का कोई संकेत दिया था और न ही उसने कभी यह विज्ञापित किया था कि वह युद्ध की घोषणा करनेवाला है या उसके लिए तैयारी कर रहा है। इससे पूर्व भी दो-चार दिनों तक अंग्रेजों के तोपखाने से आकाश में काल्पनिक वायुयानों पर वास्तव में ही गोलाबारी का अभ्यास होता रहा था। इस परिप्रेक्ष्य में हमने यही मान लिया कि यह भी कोई इसी प्रकार का छद्म युद्ध होगा।

प्रात:काल 8-9 बजे के लगभग गाँव के लोग हमारे कैंप में नित्यप्रति दूध आदि देने के लिए आया करते थे। जब वे लोग आए तो उन्होंने बताया कि उनके ग्रामों में बम गिरे हैं जिनसे अनेक मकान नष्ट हो गए हैं और अनेक व्यक्ति हताहत हुए हैं। इस समाचार के फैलते ही मध्याह्न के समय सैनिकों में युद्ध आरम्भ होने की कानाफूसी आरम्भ हो गई।

सायंकाल 7 बजे नित्यप्रति ही उपस्थिति ली जाती थी तथा कोई नया आदेश हो तो वह सुनाया जाता था। उस दिन भी जब सब सैनिक इसके लिए पंक्तिबद्ध खड़े हुए तो मलय के उत्तर दिशा की सीमा पर जापानी तथा भारतीय सेना में युद्ध होने का कुछ छुटपुट समाचार भी सुनाया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा-रूपी पर्दा जब दूर हुआ तथा सुदूरपूर्व में जब युद्ध की घंटी बजी तो इसे युद्ध आरम्भ करने की पहली घोषणा मानकर दिसम्बर मास की 8 तारीख को, भोर के हवाई हमलों में जापान ने अन्धाधुन्ध जहाँ कहीं भी गिरे, इस प्रकार बम गिराए। उस दिन ही उसी समय सुदूरपूर्व के प्रदेशों में अनेक स्थानों पर जापानियों ने हवाई आक्रमण किए। उनमें से हवाई द्वीपों में पर्लहार्बर

पर किया गया हमला बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बड़ा प्रबल था। अमेरिका- खण्ड से तो फिलिपीन्स के टापुओं तक बीच के टप्पे पर 'हवाई' नाम का एक द्वीप है। यही प्रशान्त महासागर के अमेरिकी जहाजी बेड़ों का प्रमुख अड्डा भी था। इस भाग में यदि युद्ध छेड़ना हो तो इस अड्डे के अमेरिकन बेड़ों को नष्ट करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। जापानियों ने उसे अपने पहले ही आक्रमण में सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लिया। इस प्रकार अचानक आक्रमण करने के कारण जापान पर उसके शत्रु राष्ट्रों ने बहुत रोष प्रकट किया।

9 दिसम्बर 1941 को दोपहर के समय एक निरीक्षण करनेवाले जापानी वायुयान ने जावा द्वीपसमूहों से अपना कार्य समाप्त कर आते-आते सिंगापुर में स्थित अंग्रेजी जहाजी बेड़ों के 'प्रिंस ऑफ वेल्स' तथा 'रिपल्स' नामक जहाज मलय के पूर्वी तटों पर युद्ध के रंगारंग प्रशिक्षण के लिए खुले समुद्र में आते देखे। उन्होंने तुरन्त ही सैगाँव के मुख्यालय से वायरलैस द्वारा यह समाचार प्रसारित कर दिया। वहाँ से उस वैमानिक को उस जहाज की सतह पर रहने के लिए कहकर थोड़ी देर के उपरान्त उसे छुड़ाने के उद्देश्य से दूसरा जहाज भेजा गया। इस प्रकार दूसरे दिन प्रातःकाल तक उन्होंने वह निरीक्षण चालू रखा और अगले दिन तीन वायुयान 'समुद्र स्वामिनी' नाम से प्रसिद्ध ब्रिटेन के वे दो बड़े जहाज डुबोने के कार्य पर भेजे गए।

9 दिसम्बर को प्रातः दस बजे यह संस्मरणीय युद्ध आरम्भ हो गया। इन दोनों जहाजों की पाँच या छः बड़ी तोपों तथा मशीनगनों ने इन तीनों वायुयानों की दिशा में फूत्कार करना आरम्भ कर दिया। आकाश में चील पक्षी की भाँति गोल चक्कर काटनेवाले इन तीन वायुयानों के चारों ओर तोपों के गोले गिरकर मिट्टी के ढेलों के आकार के काले-काले धुएँ के बादल मानो अभी फूटना चाहते हों, ऐसा दृश्य उस समय बन गया था। इस प्रकार द्वेष और क्रोध से मानो वे वायुयान एक के बाद एक इधर-उधर चक्कर काटकर उन जहाजों पर प्रबल वेग से झेपकर उन तोपों के बिल्कुल पास से आवाज करते हुए बम तथा मशीनगन के गोलों की बरसात करते हुए ऊपर से निकल जाते थे। नीचे से तोपों की गड़गड़ाहट, ऊपर से वायुयानों की घनघनाती हुई भीषण ध्वनि, उसमें 'धड़ाम-धम' तोपों की गर्जन, टट्-टट्-टट्-टट्-टट्-ठक्क-ठक्क-ठक्क ऐसे मशीनगन की कर्ण-कर्कश गर्जना! कुछ बम जहाजों के चारों ओर, उनसे लगकर अथवा इधर-उधर पानी में गिरने लगे। जहाजों ने भी जितना सम्भव हुआ उतने टेढ़े-मेढ़े मोड़ लेकर बम के आक्रमण से बचने का प्रयत्न किया।

इतने में 'प्रिंस ऑफ वेल्स' नामक पताका-नौका पर ठीक उसके

बीचोंबीच एक-दो-तीन बम गिराकर उसकी कमर को तोड़ दिया। स्प्रिंग के पिंजरे में जकड़े जाने पर जिस प्रकार चूहे की कमर चिमट जाती है तथा खुले विस्फारित नेत्रों से जिस प्रकार वह हिलडुल भी नहीं सकता, तथा मुँह से बोल भी नहीं निकलते, ऐसी स्थिति में वह स्तब्ध और भयभीत चुपचाप लेटा हुआ रहता है, ठीक ऐसी ही स्थिति उस समय उस जहाज की हो गई थी। यह स्थिति देखकर उस पर आरूढ़ नौसैनिक तथा मल्लाह आदि को यह समझने में विलम्ब नहीं हुआ कि यह जहाज अब जल-समाधि लेनेवाला है, अतः वे समुद्र में छलाँग लगाने लगे।

इस सारी आपाधापी के मध्य 'रिपल्स' नामक जहाज के संचालकों ने कदाचित् यह समझा कि वायुयानों का ध्यान इस समय उनकी ओर नहीं है, अतः उन्होंने वहाँ से दौड़कर निकल जाने का यत्न किया। उधर वैमानिकों के पास कदाचित् बम का भण्डार समाप्त होने लगा था। दूर भागते हुए जहाज का पीछा करते-करते वायुयानों का ईंधन भी समाप्त होने की सम्भावना दिखाई दी। ऐसी स्थिति में शिकार हाथ से छूटा जा रहा था। तब उन तीन वायुयानों की टोली के मुखिया ने दृढ़ निश्चय किया—'युद्ध आरम्भ होने के उपरान्त मृत्यु से कैसा भय? मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, आज नहीं तो कल।'

उसने अपने वायुयान की गति तीव्रतर कर दी और एक जोर की तथा आखिरी झेप लेकर उस जहाज की दीवार के बीचोंबीच टक्कर मार दी। वायुयान के पंखे से जहाज की जब टक्कर हुई तो उससे जहाज की तो कमर ही टूट गई। जापानी पायलट के शरीर की धज्जियाँ उड़ गईं, परन्तु 'रिपल्स' जहाज भी स्थिर नहीं रह सका और समुद्र में समा गया।

सिंगापुर में स्थित अंग्रेजों के सुदूरपूर्व में जो जहाजी बेड़ा था, वह इन दो बड़े जहाजों के टूटने अथवा डूबने से लगभग समाप्त ही हो गया था। यह समाचार इसके दो दिन बाद अर्थात् दिसम्बर की 12वीं तारीख को चारों ओर फैल गया। 'अभेद्य' और 'अजेय' समझे जानेवाले इन जहाजी बेड़ों का अन्त, युद्ध आरम्भ होने के केवल दो ही दिनों में हो गया। इस एक ही झटके से अंग्रेज साम्राज्य का झुकता हुआ डोला केवल प्रचार के खोखले पैरों पर ही अधिष्ठित है, ऐसा उस समय जिस प्रकार अनेकों को ज्ञात हुआ, उसी प्रकार यह भी लोगों ने समझ लिया कि जापान अब केवल खिलौने उत्पादन करनेवाला देश नहीं रह गया है, अपितु जापान अब युद्ध को भी मात्र एक खेल ही समझने लगा है।

अध्याय तीन

जापान का अचानक आक्रमण

उत्तरी मलय के पूर्वी तट पर स्थित एक बन्दरगाह का नाम है 'कोटा बारू'। दिसम्बर मास की सात तारीख की आधी रात बीतने और 8 तारीख प्रारम्भ होने के समय की ही बात है। उस बन्दरगाह में समुद्र के भीतर करीब एक फर्लांग पर कँटीली तारों की बाड़ लगाई हुई थी। उसके इस ओर समुद्र का रेतीला तट था। उसके पास ही रबड़ के वनों में सैनिकों की बैरकें थीं। अंग्रेजी सेना में नियुक्त भारतीय सैनिकों की एक टुकड़ी वहाँ पर तैनात कर दी गई थी। चारों ओर चौकियाँ बनाकर पहरेदार बैठाए गए थे।

सिपाहियों के कानों में ऐसी अफवाहें पड़ रही थीं कि सुदूरपूर्व में कदाचित् शीघ्र ही युद्ध आरम्भ होनेवाला है। फिर भी अंग्रेजों ने इस प्रकार का दुष्प्रचार कर रखा था 'जापानी क्यों युद्ध करने लगे?' इस कारण सभी सैनिक इसी पर विश्वास किये हुए थे। उस टुकड़ी का अजीतसिंह नाम का एक सैनिक समुद्र के तट पर चक्कर लगा रहा था। रात के लगभग एक बजे का समय होगा। अजीतसिंह ने देखा कि दूर समुद्र में एक स्थान पर एक झिलमिल करता दीया-सा दिखाई दे रहा है। उसने सोचा कि किसी मछवारे को समीप में कहीं मछली नहीं मिली होगी तो वह मछली पकड़ने के लिए दूर तक चला गया होगा, उसका ही यह प्रकाश होगा। ऐसा विचार कर उसने उस दृश्य को गम्भीरता से नहीं लिया।

अजीतसिंह चक्कर लगाता रहा। जब काफी देर हो गई तो उसने एक बार फिर उस ओर देखा। अजीतसिंह को लगा कि वह दीया तो उसके काफी निकट-सा आ गया है। अजीतसिंह का पहरा देने का समय दो बजे समाप्त हो गया। उसने उस सैनिक को उठाया, जिसकी अब बारी थी और स्वयं अपने बिस्तर पर सोने के लिए जाने लगा। जाते-जाते उसने अपने साथी सिपाही को उस दूर पर दिखाई देनेवाले दीये का उल्लेख भी कर दिया। एक घंटे बाद जब उस सिपाही ने उस दीये की ओर दृष्टि की तो उसे उस प्रकाश के आस-पास बड़े काले जहाज के

अग्रभाग जैसी अस्पष्ट रूपरेखा दिखाई दी। उसने जाकर प्रमुख पहरेदार को उस विषय में बताने का विचार किया। उस समय जिस गोरे लेफ्टिनेंट की पहरेदारी की जिम्मेदारी थी, उसके द्वार पर जाकर उसकी कुण्डी खटखटाई। लेफ्टिनेंट जाग गया। देर रात तक शराब पीते रहने के कारण वह विलम्ब से सोया था। उसे उस समय जगाए जाने पर क्रोध आ गया और उसने बड़बड़ाते हुए अंग्रेजी में बकना आरम्भ किया जिसका अभिप्राय था—यहाँ से दूर भाग जाओ! साथ ही एक भद्दी-सी गाली भी दे डाली। तदपि हमारा स्वामिभक्त हवलदार उसे 'साब साब' कहकर जगाता रहा। विवश अंग्रेज को बाहर आना पड़ा। उसके पैर अभी भी लड़खड़ा रहे थे।

लेफ्टिनेंट के होश ठिकाने नहीं रहे जब उसने उस जहाज की ओर देखा। उसने दूरभाष से सिंगापुर में मुख्यालय से सांकेतिक भाषा में पूछा, 'क्या युद्ध आरम्भ हो गया है?' वहाँ से भी सांकेतिक भाषा में ही उत्तर मिला कि इस विषय में उन्हें कुछ भी ज्ञात नहीं है; लन्दन अथवा दिल्ली से इस विषय में कोई समाचार नहीं आया है। उन्होंने यह भी चेतावनी दे डाली कि केवल सन्देह की स्थिति में गोलीबारी करके स्थिति को मत बिगाड़ना! उस अधिकारी ने फिर एक अन्य अधिकारी को उठाया और उसको दूरभाष के समीप तैनात कर दिया।

इधर पूछताछ हो ही रही थी कि उधर उस जहाज से छोटी-छोटी नौकाएँ समुद्र में डाली जाने लगी थीं। डोरियों तथा सीढ़ियों की सहायता से सैनिक उनमें सवार होने लगे। इस प्रकार नावों को खेते हुए वे सैनिक समुद्र-तट की ओर तीव्रता से बढ़ने लगे। किनारे पर स्थित भारतीय सेना की टुकड़ियों में भी कुछ गड़बड़-सी दिखाई देने लगी। इतना होने पर भी सबको जगाकर सावधान करने की आवश्यकता नहीं समझी गई, क्योंकि लन्दन अथवा दिल्ली से सरकार की इस प्रकार की कोई आज्ञा अभी तक आई नहीं थी। किसी शत्रु की क्या जुर्रत कि वह सरकारी हुक्म की परवाह किये बिना युद्ध आरम्भ करे? ये कौन लोग हैं तथा वे लोग इस दिशा में क्यों आ रहे हैं? यह आज एक नई प्रकार की क्या गड़बड़ होने लगी है? किनारे पर स्थित सैनिक टुकड़ी को इस विषय में कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। तभी उन्होंने देखा कि बहुत-सी नावें समुद्र के किनारे पर आ लगी हैं। उनमें आरूढ़ सैनिक उतरे और उन्होंने हँसिया जैसे हथियारों से समुद्र के किनारे की घास को जल्दी-जल्दी साफ करना आरम्भ कर दिया। उनकी पीठ पर लगी बन्दूकें लदी हुई थीं। मेड़ को काटकर वे लोग तुरन्त किनारे पर कूद गए।

उनके पीछे-पीछे उनके साथ ही आए हुए परन्तु पहले ही जमीन पर

कँटीली मेड़ के पीछे छिपे बैठे हुए उनके साथी सैनिक भी उस अन्धकार से जैसे राक्षसों का समूह उत्पन्न हो गया हो उस प्रकार उठकर तारों की मेड़ को तोड़कर दौड़ते हुए इन नावों से आनेवाले सैनिकों के साथ मिल गए।

रबड़ के उन जंगलों में यह स्तब्ध किन्तु भयंकर भाग-दौड़ चल रही थी। कहीं से किसी की कोई आवाज नहीं आ रही थी, कोई एक शब्द भी नहीं बोल रहा था। उसी समय उस भारतीय सैनिक ने जब गोली चला दी तो उस काली अँधियारी रात में और उस नीरवता में उस गोली की घुप्प-सी ध्वनि चारों ओर गूँज गई। किन्तु दूसरे ही क्षण वह पहरेदार बड़ी भयंकर चीख के साथ धराशायी हो गया। उस आक्रामक सेना ने एक स्वर से ऐसी कर्कश ध्वनि निकाली कि सारा आकाश गर्ज उठा और उसके साथ ही उस सेना ने दौड़कर उस छावनी पर धावा बोल दिया।

'जापानी आ गए, जापानी आ गए!' चारों ओर इस प्रकार की चीख-पुकार सुनाई देने लगी। किन्तु सब व्यर्थ था। कोई तो सोता ही परलोक सिधारा, कितने ही सैनिक अर्द्ध-जागृतावस्था में अपनी अन्तिम यात्रा पर चले गए तथा जो किसी प्रकार सजग हो चुके थे, उन्होंने भागकर अपने प्राणों की रक्षा करने का यत्न किया। जापानियों ने सैनिकों के कमरों में, रसोईघर में, भण्डार-गृह में, जहाँ-जहाँ सन्देह हुआ, घुस-घुसकर एक-एक को पार लगाया और सारी सामग्री को बिखेर कर रख दिया। जो भी अंग्रेज दिखाई दिया उसकी गर्दन पर या तो तलवार चली या फिर उसकी छाती में संगीन घोंप दी गई। गोरेपन के इस भेद के कारण अनेक भारतीय गोरे रंग के सैनिक भी अंग्रेज समझे गए और उन्हें भी परलोक पठा दिया गया।

जापानी युद्ध-कला की यह विशेषता है कि वे जहाँ पर भी पहली कुमुक भेजते हैं उसमें सभी प्रकार से दक्ष सैनिकों और अधिकारियों को भेजा जाता है, जिससे कि प्रथम आक्रमण पर किसी प्रकार की पराजय का सामना न करना पड़े। अतः मलय पर किये जानेवाले इस आक्रमण के उद्‌घाटन-समारोह के लिए चुने गए ये जापानी सैनिक क्रुद्ध मुद्रावाले तथा अंगारों के समान लाल-लाल आँखोंवाले (सम्भवतया जानबूझकर मद्यपान करने के कारण) तगड़े, ऊँचे, सशक्त और काले वस्त्र धारण किये हुए थे। किसी-किसी ने दाढ़ी भी बढ़ा रखी थी, अतः उनका चेहरा तो और भी भयानक लग रहा था। उनके पैरों में ऊपर से कपड़े के और नीचे रबड़ के ऐसे जूते थे जिनके अगले भाग में अंगूठा तथा अन्य अंगुलियों के मध्य एक ऐसा स्थान था जिससे वे यथाशीघ्र पेड़ों पर चढ़ सकते थे। फिलिपीन्स, जावा, सुमात्रा, सिंगापुर आदि नगरों पर आरम्भ में जो टुकड़ियाँ भेजी

गईं वे सब इसी प्रकार की थीं। उनके सिर पर धारण के लिए खाकी रंग के गरम कपड़े के टोपे थे। सूर्य की किरण उनकी आँखों में न पड़ने पाए, इस प्रकार उस टोपी के अग्रभाग में एक गोलाकार पट्टी उनके मुख पर छाई रहती थी। अरबी, सिद्दी अथवा मुगल लोगों के सिर के टोपों से जोड़ी गई कपड़े के परदे के समान तीन छोटी पट्टियाँ जिस प्रकार उनकी टोपियों के अन्दर से निकलकर उनके दोनों कानों पर तथा पीछे गरदन पर लटकती थीं, उसी प्रकार जापानी सैनिकों की इस गरम टोपी को भी तीन पट्टियाँ अन्दर से जोड़ी हुई होती थीं। वे परदों के समान उनके दोनों कानों पर से तथा गरदन के पिछली ओर नीचे लटकती रहती थीं।

जिन देशों में जो-जो सैनिक आक्रमण करने के लिए उतरते थे, उन-उनको उस वेश में आवश्यक उन सब बातों का प्रशिक्षण वर्षों से दिया होता था। मलय (मलाया) में उतारे गए जापानी सैनिकों तथा अधिकारियों को मलय देश का भूगोल, मलय देश की भाषा तथा (अंग्रेज और भारतीय सेना से युद्ध करना पड़ेगा अत:) थोड़ी- बहुत टूटी-फूटी अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाएँ भी आती थीं। अधिकारियों को अंग्रेजी अच्छी आती थी। फिलिपीन्स द्वीप पर जो सेना उतारी गई थी उन्हें टामा लोग (फिलीपीनों की भाषा) तथा अमेरिकन भाषा भली प्रकार आती थी। डच लोगों के प्रदेश में अर्थात् जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों पर उतारने के लिए उन्हें डच लोगों के आचार-विचार, मलयाली (जावा, सुमात्रा की भाषा भी मलयाली ही है) तथा डच भाषा इत्यादि विषयों का सम्पूर्ण अध्ययन कई वर्षों से कराया जाता था।

जब मलय के उस कोटा बारू के किनारे पर सूरज उगा, तब तक उस छावनी को इस प्रकार ध्वस्त कर दिया गया था कि उसका स्वरूप बड़ा ही वीभत्स दिखाई दे रहा था। इसके अतिरिक्त वहाँ पर अन्य जापानी छोटी-मोटी नौकाओं से और अधिक सेना उन समुद्र-तटों पर उतारी जा रही थी। यत्र-तत्र जापानियों की चौकियाँ तथा पहरेदार नियुक्त कर दिये गए थे। जापानी अधिकारी क्रुद्ध चेहरों से अपनी सेना की व्यवस्था करते हुए, उन्हें अनेकानेक प्रकार की आज्ञाएँ देते हुए इधर से उधर आ और जा रहे थे। प्रत्येक जापानी सैनिक के शरीर पर तथा उसके सिर के लोहे के टोप पर स्थान-स्थान पर हरे पत्ते और घास लगा रखी थी। इस प्रकार सज्जित हो जाने से शत्रु-सैनिक हवाई जहाजों से जल्दी पहचाने नहीं जाते। हरे-भरे जंगलों में ऐसे लोग जल्दी से छिपकर उसमें तद्रूप हो जाने के कारण टोह लेने के लिए आए शत्रु-पक्ष के विमानों को ऐसा नहीं जान पड़ता कि वहाँ पर सैनिक शिविर है, अपितु उन्हें ऐसा लगता है कि यह भी वनप्रान्त ही है।

जंगलों में कई स्थानों पर खंदकें खोदकर उनमें बन्दूकधारी सैनिक प्रविष्ट हो गए। जहाजों से तोपें और मोटरगोड़ियाँ उतारी गईं। दोपहर के बारह बज गए। जापानी सैनिकों ने सूखे हुए अंजीर के छिलकों के समान दीखनेवाली, चपटी, सुखाई हुई मछलियाँ निकालकर आग पर पापड़ के समान भूनीं और चावल पकाकर उसके साथ खाने लगे।

स्याम में स्थित जापानी सेना भी स्याम से मलय में पाडोगबसार नामक स्थान पर चलकर आ गई। अंग्रेज तथा भारतीय सेनाएँ पीछे हट गई थीं। पूरे साल-भर खेलनेवाला छात्र परीक्षा सिर पर आने पर हड़बड़ाकर जिस प्रकार पुस्तकों की तलाश में इधर-उधर घूमता है, घबराकर परेशानी अनुभव करता है, उसी प्रकार अंग्रेज सेना के अधिकारी ठीक युद्ध के समय वहाँ के मार्ग और पगडंडियाँ आदि दिखानेवाले मार्गदर्शक मानचित्रों को ढूँढने लगे तो उन्हें विदित हुआ कि किसी के भी पास उस प्रकार के मानचित्र हैं ही नहीं।

युद्ध आरम्भ होने के बाद प्रत्येक टुकड़ी के अंग्रेज अधिकारियों ने अधिक से अधिक सेना भेजी जाय, इस प्रकार के सन्देश पर सन्देश, दूरभाष, आकाशवाणी, तार, पत्र तथा दूतों आदि की सहायता से सिंगापुर के मुख्य कार्यालय को भेजे गए। वर्षा के दिनों में उत्पन्न हुए कीड़े-मकौड़ों के समान सैकड़ों की संख्या में मरने के लिए तैयार दास भारतीय सैनिकों पर तैनात अंग्रेज बच्चों को युद्ध क्या होता है, यह भी विदित नहीं था। नेपोलियन के समय से ही अंग्रेजों का युद्ध-कौशल वास्तव में विलुप्त हो चुका था, यह कहना किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है।

जल्दी से सेना भेजो—ऐसे सन्देश तो तार से भेजे जा सकते हैं, परन्तु सेना तो तार से नहीं आ सकती थी। उधर तार भेजने के उपरान्त उस स्थान पर न जाने कितने ही परिवर्तन हो गए होते हैं। दिन में तीन या चार बार जापानी वायुयान शोर मचाकर सिर पर मँडराते हुए निकल गए थे। समस्त संसार में प्रथम श्रेणी का राष्ट्र माने जानेवाले देश का एक भी वायुयान जापानी वायुयानों के प्रतिरोध के लिए ऊपर नहीं उड़ा। यह देखकर अंग्रेजी तथा भारतीय सेना का मनोबल टूट गया। हर कोई अंग्रेजों के मुख्यालय को दोष देकर भाग खड़ा हुआ। किसी प्रकार कोई ठीक से व्यवस्था थी नहीं।

मलय में तीन-चार स्थानों से समुद्र में तथा भूमि पर प्रवेश करने के उपरान्त जापानियों ने अपनी तोपों से शत्रु की अग्रिम पंक्ति की छावनियों पर मार करना आरम्भ कर दिया। उनके वायुयान भी उन छावनियों पर जाकर बार-बार बम और मशीनगन के आक्रमण करने लगे। जापानी सैनिकों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ

(एक टुकड़ी में तीन से पाँच तक सैनिक) एक-एक करके इधर-उधर फैलकर रबड़ की झाड़ियों से कभी जमीन पर रेंगकर और कभी पेड़ों या झाड़ी-झुरमुटों में छिपते-छिपाते, गड्ढों के पीछे से या रबड़ के पेड़ों पर चढ़कर, वहाँ से बन्दूकों तथा मशीनगनों की सहायता से गोलियाँ बरसाने लगतीं। अपनी शक्ति तथा सामग्री की जहाँ तक बन पड़े उतनी बचत करने की अपनी विचारशैली का जापान ने उस युद्ध की गड़बड़ी में भी त्याग नहीं किया। तीन-चार सैनिक असली बन्दूकों से गोलियाँ चलाते तथा अन्य सैनिक खिलौने-सी बन्दूकों से जोकि साधारणतया मेलों के अवसरों पर बच्चों को प्रसन्न करने के लिए क्रय की जाती हैं, उनसे कर्कश ध्वनि निकालकर गोली दागने जैसा अभिनय करते थे। फिर भी इस प्रकार के खिलौनों की सामूहिक ध्वनि भी मशीनगन से निकली गोली के समान ही होती थी जिससे शत्रु-पक्ष यह अनुमान लगाकर कि जापानियों के पास बहुत शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद है, भयभीत हो जाय। इससे दूसरा यह भी अनुमान लगता था कि शत्रु के सैनिकों की संख्या भी कदाचित् बहुत अधिक है।

तब यान्त्रिक बल से सुसज्जित इस प्रबल शत्रु का प्रतिकार करना व्यर्थ होगा—ऐसा जानकर अंग्रेज तथा भारतीय सिपाही 'तौबा ! तौबा! दुश्मन आया! भागो भागो!' ऐसा कहते हुए दौड़कर भाग जाते थे। इस प्रकार सिंगापुर में पच्चासी हजार भारतीय, ऑस्ट्रेलियन तथा अंग्रेजी सैनिकों में से दस प्रतिशत सैनिकों ने भी युद्ध की समाप्ति तक, आमने-सामने, प्रत्यक्ष युद्ध-भूमि पर जापानी सैनिक देखा ही नहीं होगा। जापानी सैनिक पेड़ों पर चढ़कर अथवा झाड़ियों में अन्यान्य स्थानों पर छिपे हुए संख्या में कुल तीन होते, परन्तु अदृश्य होकर वे अचानक ऐसी गोलाबारी करते कि उससे अंग्रेज सेना इतना भयभीत हो जाती थी कि शत्रु कहाँ पर है, यह देखने के लिए भी वे उस स्थान पर टिकते नहीं थे।

अध्याय चार

सुदूर-पूर्व की राजनीति

सन् 1940 में हिन्द-चीन पर अधिकार कर जब जापानी स्याम देश की पूर्वी सीमा पर आ गए, तब आगे-पीछे मलय और ब्रह्मदेश (बर्मा) अथवा ब्रिटिश प्रदेशों पर आक्रमण करने के लिए हमें स्याम में प्रविष्ट हो जाना चाहिए—चतुर जापानी इसे भलीभाँति समझ गए थे। इतना समझ लेने के उपरान्त कि किसी भी प्रकार स्याम में प्रविष्ट होना है, इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर उनको अपना आगामी पग किस प्रकार बढ़ाना है इसका आरम्भ तभी से कर दिया था।

स्याम में उनका राजकीय प्रतिनिधि रहता ही था। उसके माध्यम से उन्होंने स्याम की सरकार के पास एक सन्देश पहुँचाया। उसमें कहा गया कि 'आप और हम पूर्वी एशिया के स्वतन्त्र राष्ट्र हैं। इसलिए विश्व के इस भाग में शान्ति और सुव्यवस्था रखने का दायित्व हम दोनों का है। इस दायित्व को भली प्रकार निभाने के लिए हमें मित्रता के नाते से आपके प्रदेश में निम्नलिखित चार सुविधाएँ प्रदान की जाएँ—

1. हमें आपके हवाई अड्डे, बन्दरगाह और सैनिक अड्डों का प्रयोग करने की अनुमति दी जाय।

2. आपके देश की रेलगाड़ी का उपयोग करने की भी हमें अधिकाधिक सुविधा प्रदान की जाय।

3. हमारे जहाजों, सेना तथा वायुयानों के आवश्यकतानुसार संचालन के लिए आपकी ओर से पूर्ण सहयोग प्रदान किया जाय।

4. इसके अतिरिक्त अन्यान्य सब बातों में आपके अधिकारियों का पूर्ण सहयोग हमें प्राप्त होते रहना चाहिए।

हिन्द-चीन पर अधिकार करने से पहले उसके साथ भी जापान ने कुछ ऐसी ही माँगें गवर्नर-जनरल जान उकू के सम्मुख प्रस्तुत की थीं। फ्रांस के पराजित हो जाने तथा हिन्द-चीन के 'अनाथ' हो जाने पर जापान ने सीधे बारह

घंटों का समय देकर तथा त्वरित सन्देश भेजकर शस्त्रों के बल पर हिन्द-चीन से वे माँगें मनवा ली थीं।

वास्तव में युद्ध आरम्भ करने से पहले स्याम से यह खेल खेलना सम्भव नहीं था। इसलिए उसने प्यार से समझौते की बात आरम्भ कर दी। स्याम भी समझता था कि अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में उतरने की उसकी तैयारी है नहीं, अत: उसने सोचा कि समझौता कर लेना चाहिए। तदपि उसने इस पर विचार करने के लिए कुछ समय चाहा और यह निश्चय किया कि समय आने पर जो देश बलवान् होगा उसके साथ ही वह समझौता करेगा।

स्याम का वर्तमान राजा आनन्द महीदल अपने अध्ययन के लिए बाल्यकाल में ही स्विट्ज़रलैंड चला गया था। उसकी अनुपस्थिति में उस समय वहाँ पर अधिकारी पद पर अधिष्ठित प्रजामण्डल केवल नाम के लिए ही था। वास्तव में सत्ता तो पिबुल संग्राम (पिबुल सोखाम) नामक महत्त्वाकांक्षी प्रधानमन्त्री के हाथ में थी। वह तथा उसके सहायक सैनिक अधिकारी ही उस समय उस देश के वास्तविक राज-काज देखनेवाले थे। जापान के साथ दोनों पक्षों में समझौता करने के उद्देश्य से वार्त्तालाप करने के लिए एक स्यामी शिष्टमण्डल भेजने का निश्चय किया गया। इस प्रकार उन देशों के मध्य गुप्त वार्त्ता आरम्भ हुई। उस समय दोनों देशों ने एक-दूसरे के देश के राज्यकर्मियों की मन्शा क्या है, यह जानने का यत्न किया।

सन् 1941 के दिसम्बर मास में सुदूरपूर्व में युद्ध आरम्भ होने के दो दिन पूर्व ही स्याम में स्थित जापानी वकील ने स्याम के परराष्ट्र-मन्त्री तथा प्रधानमन्त्री से मिलकर स्पष्ट शब्दों में सारी स्थिति से अवगत करा दिया था। स्याम ने अनुभव किया कि अब इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रहा है। अंग्रेज और अमेरिका हमारी सहायता करने के लिए आने में पूर्णतया असमर्थ हैं—यह भी उसकी समझ में आ गया। इस स्थिति में स्याम ने जापान के साथ परस्पर सुरक्षा का समझौता कर लिया। समझौता होते ही उसी दिन स्याम की पूर्वी सीमा पर पूर्णतया सज्ज जापानी सेना तीव्रता से स्याम में प्रविष्ट हो गई। देखते ही देखते उसने स्याम की दक्षिण दिशा की सीमा पर आकर डेरा डाल लिया। इस प्रकार वह स्याम के सारे देश पर छा गई।

स्याम और हिन्द-चीन, इन दो देशों पर अधिकार करते समय जापान ने बड़ी धूर्तता का परिचय दिया। इन देशों में प्रविष्ट होते ही जापान ने वहाँ के आकाशवाणी केन्द्र, पुलिस चौकियाँ, हवाई अड्डे, जहाजी बेड़े तथा सेना के अड्डों, बारूद के भण्डारों, रेलवे स्टेशन तथा बस-अड्डे एवं मार्गों के

अनेकानेक अन्य प्रमुख स्थानों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

यह सब संचालन जापान ने बड़ी शीघ्रता से किया। किसने किस स्थान पर अधिकार करना है, पहले से ही इसकी सुव्यवस्थित रूपरेखा तैयार कर ली गई थी, जिससे कि समय आने पर किसी भी प्रकार की हड़बड़ी, जल्दबाजी, झगड़ा, बरबादी आदि समस्याएँ न उपस्थित हों। केवल चौबीस घंटों के समय के अन्दर ही हर महत्त्वपूर्ण स्थान पर जापानियों का पूर्ण अधिकार हो गया था। उसके बाद उस स्थान को ऐसा स्वरूप दे दिया गया था मानो वे वहाँ पर कई वर्षों से रह रहे हों।

सन्धि अथवा करार में स्पष्ट रूप से शर्त रखी गई हो अथवा न रखी गई हो, 'सम्पूर्ण सहकार्य' इस एक मसव्विदे में सारी बातें सम्मिलित हैं—ऐसा मानकर जापानी सेना ने प्रत्येक मुख्य-मुख्य अधिकारी के साथ (उसके ऊपर) अपना एक-एक अधिकारी बैठा दिया । स्याम के प्रधानमन्त्री से चर्चा (अर्थात् साम-दाम-दण्ड-भेद ये सब उपाय) करनेवाला उसका राज्य-प्रतिनिधि, उनके परराष्ट्रमन्त्री से गुप्त चर्चा करने के लिए अपना दरबारी वकील, पुलिस के अधिकारियों की सहायता करने के लिए अपने पुलिस अधिकारी, सेना, जहाजी बेड़े तथा हवाई दल आदि के लिए 'उचित' परामर्श देने के उद्देश्य से उनके उन-उन स्थानों के अधिकारियों के साथ अपना एक अधिकारी अवश्य रहे—इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई थी।

जापान के इंग्लैंड और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध आरम्भ करने से पूर्व स्याम बार-बार चिल्ला-चिल्लाकर बता रहा था कि 'पूरे विश्व में चाहे जहाँ कहीं कुछ भी होता रहे परन्तु हम युद्ध से पूर्णतया अलिप्त रहते हुए तटस्थ रहेंगे।' अंग्रेज तथा अमेरिकन इस घोषणा से धोखा खा गए। परदे के पीछे जापान ने स्याम का अँगूठा अपने करार पर लगवा लिया था। इंग्लैंड तथा अमेरिका उस ओर देखते ही रह गए। सन् 1941 के दिसम्बर की 8 तारीख आते ही जापान ने स्याम से मलय में थोड़ा-सा प्रवेश कर ही लिया।

अध्याय पाँच

भारतीय स्वातन्त्र्य समर का बीजारोपण

पूर्व की ओर समुद्र से और उत्तर की ओर भूमि-मार्ग से स्याम देश में, ऐसे दो प्रमुख मार्गों से जापानी सेना मलय में प्रविष्ट हो गई। प्रत्यक्ष युद्ध आरम्भ होने से पूर्व शूरता की, पराक्रम की तथा अपनी शक्ति की बड़ी-बड़ी डींगें हाँकनेवाले अंग्रेज पीछे हटने लगे। आवश्यकता के अनुसार सेना तथा शस्त्रास्त्र हमारे पास नहीं हैं—ऐसा उन्होंने चिल्लाना आरम्भ कर दिया था।

जापानियों के हवाई जहाज तीन, छः, नौ अथवा सत्ताईस, ऐसे समूहों में आकर युद्धभूमि के आगे पाँच-पचास मील तक के प्रदेशों में अंग्रेजों की छावनियों पर तथा रेलगाड़ियों पर बम तथा गोलियाँ बरसाकर चल दिया करते थे। अंग्रेजों के हवाई अड्डों पर इधर-उधर बिखरे हुए हवाई जहाज, केवल दिखाऊ होने के कारण उड़ने में पूर्णतया अक्षम थे। अपने हवाई अड्डों के नकली हवाई जहाज़ के समूह को देखकर शत्रु भयभीत हो जाए और युद्ध करने का साहस न करे—यही उसमें अंग्रेजों का उद्देश्य था।

मलय में स्थित अंग्रेजी साम्राज्य की सेना में अधिकतर भारतीय, उससे कम आस्ट्रेलियन तथा बहुत ही कम संख्या में ब्रिटिश सैनिक थे। उनकी संख्या क्रमशः 75,000, 25,000 तथा 10,000 थी। अधिकांशतया भारतीय सैनिकों को ही अंग्रेजों की डाँट-फटकार सुननी पड़ती थी। किन्तु आस्ट्रेलियन सैनिकों को भी वह डाँट फटकार थोड़ी-बहुत पड़ती ही थी। इसके कारण ये दोनों सेनाएँ मन-ही-मन अंग्रेजों के प्रति रोष-भावना रखती थीं।

मलय में स्थित अंग्रेजों की इस सेना की सहायता के लिए कोई किसी प्रकार के हवाई दल की व्यवस्था नहीं की गई थी। उसका कारण यही था कि अंग्रेजों की सेना में हवाई दल तो नाममात्र के लिए ही था, उसे किस-किस की सहायता के लिए तैनात किया जाता?

इससे भी बढ़कर दयनीय स्थिति यह थी कि हवाई जहाजों द्वारा गिराए

जानेवाले बमों की संख्या करीब-करीब नहीं के बराबर ही थी।

परिणामस्वरूप युद्ध आरम्भ होने पर इस साम्राज्य की सेनाओं ने जल्दी-जल्दी पीछे हटना आरम्भ कर दिया।

कोटाबारू और पासांग बसार आदि स्थानों पर नियुक्त घबराई हुई तथा अस्त-व्यस्त अंग्रेजी सेनाओं ने करीब तीस मील पीछे स्थित ब्रिटिश साम्राज्य की सेनाओं की छावनी में जाकर शरण लेने का निश्चय किया, किन्तु उन्हें इस प्रकार भागने का भी अवसर नहीं मिल सका। जापानी सैनिक इतनी तीव्रता से उनका पीछा कर रहे थे कि मार्ग में स्थित रबड़ के जंगलों में उन दोनों सेनाओं की परस्पर मुठभेड़ हो ही गई। उस स्थिति में अन्य कोई उपाय शेष न रह जाने के कारण ब्रिटिश सेना को जापानी सेना से दो-दो हाथ करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

मुगल साम्राज्य के पतन के समय गुरिल्ला युद्ध लड़नेवाले मराठें सैनिक कब कहाँ से अचानक आ धमकेंगे, इसका जैसे मुगल सैनिकों को अता-पता नहीं होता था, उसी प्रकार जापानी सैनिक भी पर्वत, नदी-नालों और बीहड़ वनों को पार कर अनपेक्षित रूप से सहसा आ धमकते थे जिसकी ब्रिटिश सेना कल्पना भी नहीं कर सकती थी। वे पीछे हटते हुए जब किसी प्रकार वहाँ से निकल भागकर किसी घने जंगल में छिपने का निश्चय करते कि तभी रबड़ के पेड़ों के झुरमुटों से जापानियों की सहसा गोलीबारी आरम्भ हो जाती थी।

जित्रा छावनी के पश्चिम में पाँच-छः मील पर एक गाँव था। वहाँ से सीधे समुद्र के किनारे तक एक मार्ग जाता है और वहीं से एक मार्ग पर्लिस संस्थान की राजधानी कागार की ओर जाता है। अंग्रेजों की सेना पीछे हटती हुई इस स्थान तक पहुँच ही पाई थी कि सहसा जापानी सेना ने उसको घेर लिया। पीछे हटनेवाली इस सेना में भारतीय सैनिक और अनेक अंग्रेज अधिकारी थे। इन अधिकारियों में कैप्टन मोहनसिंह नामक पंजाब रेजीमेन्ट के एक अधिकारी भी थे। इनके साथ लेफ्टिनेंट पट्टनायक थे। पट्टनायक ओड़ीसा-वासी डॉक्टर थे। इनके साथ ही कुछ गोरखा सिपाहियों की सेना थी। कुल मिलाकर इनकी संख्या दो सौ के लगभग होगी। ये सब जापानी सेना की पकड़ में आ गए।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, जिनके नेतृत्व में स्वतन्त्रतारूपी वृक्ष कालान्तर में पल्लवित हुआ तथा अक्याब से इम्फाल तक का 1,50,000 चौरस मील के प्रदेश तथा अण्डमान और निकोबार द्वीपों की स्वतन्त्रता के रूप में जो फला, उस वृक्ष का बीज 12 दिसम्बर 1941 के दिन जित्रा छावनी से पाँच-छः मील के अन्तर पर मिला, यदि ऐसा कहा जाए तो कुछ गलत नहीं होगा।

जापानी युद्ध के मुख्यालय में 'हिकारी कीकन' नाम से एक विभाग प्रतिस्थापित है। इस विभाग में हिन्दी भाषा तथा भारतवर्ष के विषय में जाननेवाले विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाता है। इस विभाग के अधिकारी जापानी सेना की अग्रगामी टुकड़ियों के साथ रखे जाते हैं। भारतीय सैनिकों को युद्धबन्दी बनाने के बाद से तो उस युद्ध के अन्त तक युद्धबन्दियों के विषय में सब प्रकार के निर्णय करने का अधिकार जापान के सैनिक मुख्यालय द्वारा इसी विभाग के अधिकारियों को सौंपा गया था। इस विभाग के प्रमुख थे मेजर फूजीवारा। मेजर फूजीवारा जापान के एक प्रसिद्ध सरदार घराने से सम्बन्धित थे। लेफ्टिनेंट कुनी झगा को अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान होने के कारण उनको फूजीवारा के दुभाषिये का कार्य सौंपा गया था। ये फूजीवारा के कनिष्ठ अधिकारी पद पर नियुक्त थे।

कैप्टन मोहनसिंह और उनके साथ लगभग उनके दो सौ सैनिक जब जापानियों द्वारा युद्धबन्दी बना लिये गए तो उनको उपरिलिखित उन दो अधिकारियों के पास ले-जाया गया। उन दोनों में परस्पर वार्तालाप आरम्भ हुआ। मेजर फूजीवारा बड़े बलिष्ठ और गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति लगते थे। उस समय उनकी आयु लगभग चालीस वर्ष की होगी। चिंता और अतिव्यस्तता के कारण उनका चेहरा झुर्रियों से भरा हुआ दीखता था। तदपि एक प्रकार का सौम्य तेज उनके चेहरे पर सदा ही झलकता हुआ दिखाई देता था। इसी प्रकार लेफ्टिनेंट कुनी झगा का शरीर मोटा-तगड़ा था और वे बड़े विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे। उस समय उनकी आयु लगभग 26-27 वर्ष की रही होगी। गोरे रंग के लाल गालों तथा बड़े पेटवाले और मोटा चश्मा चढ़ाए हुए कुनी झगा बड़े विचित्र दिखाई देते थे।

जापानी सेना द्वारा बनाए गए युद्धबन्दियों का वर्गीकरण करके उनमें से अंग्रेजों, आस्ट्रेलियाइयों को तथा भारतीय और अन्य एशियाई सैनिकों को तत्काल अलग-अलग कर दिया जाता था। वे ध्यान रखते थे कि भारतीय तथा अन्यान्य एशियाई सैनिकों की परस्पर फिर कभी भेंट न होने पाए। इन भिन्न-भिन्न वर्ण के सैनिकों को विभिन्न छावनियों में नजरबन्द रखा जाता था। अंग्रेज जहाँ-जहाँ भी गए उन्होंने वहाँ के लोगों के लिए बड़े-बड़े कारागार, जिनमें पत्थर की दीवारें और लोहे के द्वार, भारी-भारी मोटी जंजीरें और मोटे-मोटे ताले लगे हुए थे, युद्धबन्दी बनने के उपरान्त उनको ही वे उपलब्ध हुए।

वास्तव में तो जब घमासान युद्ध हो रहा होता था तो उस समय जापानी सैनिकों को यह सोचना ही नहीं पड़ता था कि गोरी चमड़ीवाले इन सैनिकों को बचाकर किस कारागार में डाला जाए। वे तो आँख मूँदकर उनको मौत के घाट

उतार देते थे। ऐसे में काले भारतीय या एशियाई सैनिक भी सामने हों तो उनको भी बचाया नहीं जाता था, सबको यमलोक पहुँचाना ही उस समय जापानी सैनिकों का कर्त्तव्य होता था। यह तो सामान्य-सी बात थी। वह समरांगण था, न्यायालय नहीं जहाँ यह विचार किया जाता कि गोरों को मारो और कालों को बन्दी बनाओ।

मुझे कुछ-कुछ इस प्रकार स्मरण होता है कि लाल-लाल आँखोंवाले, क्रोधित चेहरेवाले, काले-नीले वस्त्र धारण किये हुए, युद्ध के नशे में मस्त हृष्ट-पुष्ट सैनिक अंग्रेजी सेना की एक छावनी पर टूट पड़े थे। शत्रुओं को नष्ट करके वे आगे बढ़ गए। आगे जाकर उन्होंने देखा कि वहाँ के चौराहे पर भारतीय पहरेदार खड़ा था। भारतीय सिपाही ने जब भयानक चेहरों वाले सैनिकों को आते देखा तो उसने बन्दूक पकड़कर अपने दोनों हाथों को ऊपर उठा दिया। किन्तु उस समय जापानी तो युद्ध के मद में मस्त थे। एक सैनिक ने उसके ऊपर उठे हाथों का ख़याल न करके अपनी छुरी उसके पेट में घोंप दी। इतना ही नहीं, दूसरे सैनिक ने उसकी पीठ पर अपनी छुरी घोंप दी। एक क्षण में उसको यमलोक भेजकर वे लोग आगे बढ़ गए।

परन्तु सामूहिक रूप से जो शरणागत हो गए, या फिर छावनी से दूर इधर-उधर फिरनेवाले किसी भी भारतीय सैनिक ने हाथ ऊपर उठा लिये तो उसको मारा नहीं जाता था, अपितु उसे युद्धबन्दी बना लिया जाता था, भले ही उस पर संशय की दृष्टि क्यों न रखनी पड़ जाय। वहाँ के रबड़ के जंगलों में अंग्रेज अधिकारी और भारतीय सैनिक छिपे हुए बैठे रहते थे। अचानक उन पर किसी भी दिशा से गोलियों की बौछार आरम्भ हो जाती थी। हड़बड़ाकर यदि वे पीछे भागने लगें तो उस ओर से भी उन पर गोलियाँ बरसने लगती थीं।

ऐसी परिस्थिति में पड़ने पर वे सोचें कि अब क्या किया जाय, तभी खाकी वर्दी और घास-पत्तियों से ढँके शरीर किन्तु क्रोधित आँखोंवाले जापानी सैनिक बन्दूकें तानकर एकदम चारों ओर से उनको घेर लेते थे। ऐसे समय में हाथ ऊपर करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं था। उस अवस्था में जापानी सैनिक उस टुकड़ी के अधिकारी को डाँटकर आगे आने का आदेश देते। जापानियों की यह डाँट-डपट सब जापानी भाषा में ही होती थी, भले ही वह किसी की समझ में आए अथवा न आए।

शत्रुपक्ष का वह अधिकारी जब सामने आकर खड़ा होता तो जापानी सैनिक उसके आगे बन्दूक तानकर खड़ा होता और दूसरा सैनिक उसको निश्शस्त्र करता। सामान्य सैनिकों को वे जोर-जोर से डाँटकर अपने पास के सारे शस्त्रास्त्रों को एक

स्थान पर एकत्रित करने के लिए कहकर, फिर उससे दूर जाकर खड़े होने का संकेत करते। सबको निश्शस्त्र कर देने के उपरान्त गोरे सैनिकों को एक ओर कर दिया जाता था। इस प्रक्रिया में उनके मुख पर थप्पड़ मारना, लात-घूँसों से उनकी मरम्मत करना जारी रहता। बाद में उन्हें अन्य सैनिकों से दूर कहीं भेज दिया जाता था।

भारतीय सैनिकों में भी यदि उनको लगा कि कोई सैनिक अंग्रेजी भाषा में बात करता है, तथा अपने हाव-भाव और बोलचाल तथा अकड़ दिखाते हुए अंग्रेजों का पक्ष लेता है, ऐसा कुछ उनको भास हुआ तो उसको भी ऐसी मार पड़ती थी कि नानी याद आ जाती। इसके साथ ही उसको अन्य अनेक प्रकार से तंग किया जाता था। बन्दी बना लिये जाने पर भी अनेक भारतीय सैनिकों पर जापानियों को बड़ा क्रोध आता था, क्योंकि बोलचाल, व्यवहार आदि अनेक बातों में भारतीय सैनिक अंग्रेजों का अनुकरण करते थे। बेचारे करें भी तो क्या करें! उनकी तो नस-नस में दासता का रक्त प्रवाहित हो रहा होता था।

भारतीय सेना में दो अधिकारी ऐसे थे जिनको किंग्स कमीशन प्राप्त था। वे जब परस्पर बात करते तो सदा अंग्रेजी में ही बात करते थे। जापानियों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता था। वे सोचते थे कि क्या इन भारतीयों को अपना भाषाभिमान अथवा देशाभिमान आदि कुछ भी नहीं है? उनका इस प्रकार आशंकित होना भी स्वाभाविक ही था। अपने दुर्भाग्य से या किसी अन्य कारण से हम किसी समय में अंग्रेजों के दास बन गए थे। धीरे-धीरे उन्होंने हमें न केवल निश्शस्त्र किया अपितु दुर्बल तथा निस्सत्व भी कर दिया था। उनके विरुद्ध हम कुछ भी नहीं कर सके। यह विचार बड़ा ही लज्जास्पद है। अंग्रेजों का अनुसरण करनेवाले 'किंग्ज कमीशन्ड ऑफिसर' से जापानी लोग अत्यन्त घृणा करते थे। उसका ही यह परिणाम था कि कई बार वे उनके साथ भी वैसा ही घृणित व्यवहार कर देते थे, जैसा कि वे अंग्रेजों के साथ करते थे।

युद्ध में बन्दी बनाने के उपरान्त कुछ लोगों को चार-पाँच दिन के लिए एक छोटे-से कमरे में बन्द करके रखा जाता था। आठ-आठ लोगों को एक साथ हथकड़ियाँ डालकर उन्हें एक छोटे-से कमरे में डाल दिया जाता था। उस अवधि में उनके नित्य कर्म उसी अवस्था में उसी कमरे में होते थे। पीने के लिए थोड़ा पानी और खाने के लिए थोड़े-से चावल मिल जाएँ तो यह उनका सौभाग्य ही होता था। परन्तु इस प्रकार की यातनाएँ युद्ध के आरम्भ के आठ-दस दिनों तक ही हुई थीं और भारतीय सैनिकों में तो वह एक-दो प्रतिशत सैनिकों के साथ ही किया गया होगा।

इस प्रकार की घटनाओं का विस्तार से वर्णन करने का मात्र यही उद्देश्य है

कि कैप्टन मोहनसिंह और उनके साथ रहनेवाले अन्य सैनिकों को भी इस प्रकार के कष्ट और अपमान सहने पड़े थे, अथवा नहीं ?

यदि उस समय की स्थिति को ध्यान में रखा जाए तो कैप्टन मोहनसिंह और उनके साथी सैनिकों को थोड़ा-बहुत अपमान सहना भी पड़ा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। इस प्रसंग में यह बात विशेष महत्त्व की है कि कैप्टन मोहनसिंह ने उस समय स्वप्रेरणा से भारतीय स्वतन्त्रता की पताका उठाई थी।

कैप्टन मोहनसिंह ने जो काम आरम्भ किया वह उज्ज्वल एवं पवित्र था। अन्त में अपना उद्देश्य सफल नहीं होता है, तथा जापानियों का उन पर अधिक दबाव पड़ रहा है ऐसा प्रतीत होने पर उनकी आकांक्षाओं और सूचनाओं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने त्यागपत्र देने का साहस दिखाया। उनके विषय में उनके शत्रु जो कहते हैं वह यद्यपि सत्य है—ऐसा मान भी लिया जाय तो भी उनके कार्य की महानता तथा उनके बड़प्पन को कोई हानि नहीं होती।

जापानियों द्वारा सर्वप्रथम बन्दी बनाए गए दो सौ सैनिकों में से कैप्टन मोहनसिंह को ही जापानियों द्वारा मुख्य अधिकारी नियुक्त किये जाने का कारण यह था कि उस समय ब्रिटिश ओहदों की दृष्टि से वे सबसे बड़े ओहदे पर थे। यह तो मानना ही पड़ेगा कि सन् 1943 के भारतीय स्वतन्त्रता समर का सुदूरपूर्व में श्रीगणेश उन्हीं के हाथों से हुआ।

इन लोगों ने सबसे पहला काम यह किया कि जापानियों के साथ पूर्ण सहयोग करके उनकी सेना के साथ, जहाँ गोलीबारी हो रही थी वहाँ युद्धभूमि में जाकर अंग्रेजों की ओर से लड़नेवाले भारतीय सैनिकों को ध्वनि-प्रक्षेपकों की सहायता से अथवा अवसर सुलभ होने पर उनसे स्वयं मिलकर, अंग्रेजों के लिए लड़कर अकारण जान न देने के लिए उन्होंने उनका आह्वान किया। उनका कहना था, ''अंग्रेजों के दास बनकर केवल सोलह रुपयों के लिए व्यर्थ में अपने प्राण क्यों गँवा रहे हो? यहाँ मलय की भूमि पर प्राण गँवाकर कदाचित् अंग्रेजों का साम्राज्य तो बच भी जाय, किन्तु आप लोगों को क्या मिलेगा? आपको उससे क्या लाभ होगा? मलय जापान के अधिकार में हो अथवा अंग्रेजों के अधिकार में हो, उससे हम लोगों को क्या? इसके विपरीत अंग्रेजों की सत्ता में से एक-एक प्रदेश जैसे-जैसे कम होता जाएगा, उतनी ही उनकी सत्ता दुर्बल होती जाएगी और इसके साथ ही भारत पर उनकी पकड़ भी ढीली पड़ती जाएगी। आप तो जान से जाएँगे ही, जाते-जाते अपने बच्चों को दासता की शृंखला में जोर से जकड़ जाएँगे। जापानी बड़े शक्तिशाली हैं, युद्ध में वे ही विजय प्राप्त करेंगे। आप देख ही रहे हैं कि आपकी सहायता के लिए अंग्रेजों ने कोई भी हवाई दल यहाँ पर तैनात किया

हुआ नहीं है। अंग्रेज लोग 'काला आदमी' कहकर आप लोगों के साथ अभद्रता का व्यवहार करते हैं। जापानी सारे एशियायी लोगों को चाहते हैं। वे भगवान् बुद्ध को अपना धर्मगुरु और वन्दनीय मानते हैं। भारत को वे अपनी पुण्यभूमि मानते हैं। इसी नाते भारतीयों को वे धर्म-भाई मानते हैं।''

कैप्टन मोहनसिंह ने अंग्रेजी सेना में भारतीय सैनिकों के मध्य में प्रचार करना आरम्भ कर दिया। ये बातें ऐसी थीं कि किसी भी भारतीय की समझ में जल्दी से आ सकती थीं। परिणामस्वरूप इस प्रचार ने धीरे-धीरे जड़ पकड़नी आरम्भ कर दी तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

तदपि इस प्रकार का यह प्रचार-कार्य बड़ा ही जोखिमवाला था। अवसर पाकर अनेक लोग शत्रु के शिविर में जाते थे और वहाँ से वापस आ पाना बड़ा कठिन होता था। जब प्रत्यक्ष युद्ध चालू रहता था तब गोलियों की बौछार के मध्य भी चिल्ला-चिल्लाकर सामने स्थित भारतीय सैनिकों को प्रतिकार न करने का उपदेश सदा ही दिया जाता था।

परिणामस्वरूप अनेक भारतीय सैनिक भागकर जापानियों से मिलने जाते थे। जापानी उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार करते थे।

जिसे दो-तीन दिन से भरपेट भोजन भी न मिला हो, जो युद्ध करते-करते थक गया हो, जिसकी दाढ़ी बढ़ गई हो, जिसके वस्त्र बुरी तरह से फट गए हों, जिसके शरीर में अनेक स्थानों पर घाव हो गए हों, जान बचाकर विजयी सेना के पास आश्रय के लिए आया हो, ऐसे व्यक्ति को सहानुभूति के चार शब्द, अभयदान, भरपेट स्वादिष्ट भोजन तथा वस्त्र और मरहम-पट्टी इत्यादि मिल जाए तो फिर उसको और क्या चाहिए? अपनी इन आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले के लिए वह अपनी जान देने के लिए भी तैयार हो जाता है।

कैप्टन मोहनसिंह और उनके भारतीय सैनिकों के प्रचार से सर्वप्रथम लाभ यह हुआ कि भारतीय युद्धबंदियों पर जापानी अत्याचार कम होता गया। वैसे भी ब्रिटिश लोग पराजित होंगे, यह पहले से ही दिखाई देने लगा था, क्योंकि उनकी ओर से दृढ़ता से, देशभक्ति की भावना से लड़नेवाले सैनिकों का, हवाई दलों का, जहाजी बेड़ों आदि सभी महत्त्वपूर्ण बातों का सर्वथा अभाव हो गया था।

दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि जापानी लोगों ने भारतीय लोगों के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार करना आरम्भ कर दिया था। उनकी पूछ होने लगी थी। उन्हें पीड़ा पहुँचाने का अब कोई काम ही नहीं था। एक-दूसरे के स्वभाव को जानने-परखने का परस्पर अवसर आने लगा। इस प्रकार आगे के सहयोग की नींव वहाँ पर पड़ गई।

अध्याय छः

युद्धस्य कथा रम्याः

8 दिसम्बर, सन् 1941 को प्रातःकाल जापानियों ने हांगकांग, फिलिपीन्स, मलय, स्याम, ग्वाम और बेक नामक प्रशान्त महासागर में स्थित द्वीपों पर सहसा एक ही समय पर सेना को उतारकर युद्ध आरम्भ कर दिया। उसी प्रकार उपरिलिखित महत्त्वपूर्ण स्थानों पर तथा पर्ल हार्बर (हवाई द्वीपों पर स्थित प्रशान्त महासागर के अमेरिका के मुख्य जहाजी बन्दरगाह) पर महत्त्वपूर्ण हवाई आक्रमण भी कर दिया। स्याम ने तो केवल साढ़े पाँच घंटे के युद्ध के उपरान्त ही जापानियों से सन्धि कर ली। इस सन्धि में उसने जापानियों की सब शर्तों को स्वीकार लिया तथा उन्हें मित्र मानकर अपने देश के भीतर से उनकी युद्ध-सामग्री के आवागमन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उसने अन्य भी अनेक बातों की जापानियों को छूट दे दी। उस समय स्याम की जनसंख्या केवल एक करोड़ साठ लाख थी। तब इस छोटे-से अविकिसित देश द्वारा जापान जैसे बलशाली देश के सम्मुख प्रतिकार किस प्रकार हो सकता था?

प्रशान्त महासागर की 'पर्ल हार्बर' बन्दरगाह पर स्थित अमेरिका के पूरे जहाजी बेड़े प्रथम हवाई आक्रमण में ही नष्ट हो गए थे। अपने जहाजों की यह स्थिति देखकर अमेरिका ने बहुत हो-हल्ला किया। परन्तु 'युद्ध तथा प्यार में सारे अपराध क्षम्य होते हैं'—अंग्रेजी की इस कहावत के आधार पर अमेरिकी लोगों को युद्ध की औपचारिक घोषणा होने से पहले ही जापानियों ने उन पर आक्रमण करके उनके जहाजी बेड़े नष्ट कर दिए।

सुदूरपूर्व के मलय, ब्रह्मदेश, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपीन्स, हांगकांग इत्यादि प्रदेश जापानियों ने इतनी शीघ्रता से अधिकार में कर लिये कि अंग्रेज, अमेरिकन तथा डच आदि साम्राज्यवादी देशों को तो आश्चर्य हुआ ही, किन्तु स्वयं जापानियों को भी अपनी इस सफलता पर महान् आश्चर्य हुआ।

इन साम्राज्यवादी तथा शक्तिसम्पन्न समझे जानेवाले देशों की सत्ता इतनी

खोखली तथा दुर्बल होगी, यह बात कभी स्वप्न में भी जापानियों ने नहीं सोची थी। उस समय हांगकांग अंग्रेजों के जहाजी बेड़े का निवास-स्थान था। ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान युद्ध आरम्भ होने के केवल सत्रह दिनों के भीतर ही अर्थात् दिसम्बर की पच्चीस तारीख तक पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट हो गया था—यह देखकर तो समस्त संसार आश्चर्य-चकित रह गया था।

मलय देश का पूर्व दिशा की ओर का आधा भाग उस समय भी घने जंगलों से घिरा हुआ था। वहाँ यातायात के साधन नितान्त नगण्य थे। वहाँ कहीं-कहीं पर जो जस्त की खदानें थीं, वहाँ तक मोटरगाड़ियों के आने-जाने की कुछ सुविधा अवश्य थी। इसके अतिरिक्त वहाँ चारों ओर घने जंगल थे। उन जंगलों में छोटे-छोटे झरने झर-झर करते रहे हैं। स्थान दलदल है तथा पर्वतराशियों से भी घिरा होने से वहाँ पर अनेक घाटियाँ हैं।

पश्चिमी प्रदेश में यद्यपि पर्याप्त बस्ती हो गई है, तदपि यह प्रदेश भी अधिकांशतया पर्वतीय ही है। इसमें भी बीच-बीच में घना जंगल दिखाई देता है। किन्तु अनेक स्थानों पर जंगलों को काटकर उनके स्थान पर रबड़ के पौधों को लगा दिया गया है।

मलय एक ऐसा देश है जहाँ कभी भी ऋतु-परिवर्तन नहीं होता। हमारे देश के चैत्र मास की भाँति वहाँ बारहों मास गरमी तथा बीच-बीच में एक-दो दिन बाद दो-तीन घंटों तक वर्षा की तेज बौछार पड़ जाती है। परिणामस्वरूप यहाँ पर ऊँचे और घने पेड़ों के जंगल निसर्गत: ही तैयार हो जाते हैं।

मलय के इस पश्चिमी भाग से दक्षिणोत्तर की ओर एक लौह मार्ग है अर्थात् रेल की पटरी तथा मोटरगाड़ियों के आवागमन के लिए एक तारकोल की पक्की सड़क। इस प्रकार यातायात के लिए केवल दो ही मार्ग होने के कारण तथा अन्य स्थानों पर खाइयाँ, पर्वत तथा जंगल इत्यादि होने के कारण शत्रु यदि आए भी तो केवल इन दो मार्गों से ही आ सकता है। अन्य स्थानों से शत्रु की पैदल सेना का आ पाना सम्भव नहीं था।

गुरिल्ला युद्ध जाननेवाले किसी बलवान् शत्रु ने भी यदि अपनी पदाति सेना को बीच-बीच में इन खाइयों के मार्ग से भेजा भी, तो भी किसी दुर्बल और युद्धनीति से सर्वथा अनभिज्ञ शत्रु को डराने से अधिक अन्य कोई भी उपयोग हो पाना सम्भव नहीं है। तान्त्रिक दृष्टि से ऐसे देश की रक्षा कर पाना सहज होता है, क्योंकि प्रकृति की ओर से ही ऐसे देश की रक्षा की व्यवस्था पर्याप्त पक्की की गई होती है।

इस प्रकार मलय की रक्षा के लिए वह पक्की सड़क का मार्ग तथा रेल की

पटरी, इन दो मार्गों की भी सुरक्षा-व्यवस्था की जाय, तो भी पर्याप्त था। अतः यहाँ की लड़ाइयाँ अधिकतर इन दोनों मार्गों के प्रमुख स्थानों के दोनों ओर ही होती थीं। इसके साथ ही इन दोनों मार्गों के प्रमुख स्टेशनों तथा शहरों के दोनों ओर चकनाचूर हुए पैटन टैंक, मोटरगाड़ियाँ, फौलादी बड़ी गाड़ियाँ, बम के टुकड़े इत्यादि बिखरे हुई दिखाई पड़ते थे।

मलय में आमने-सामने का युद्ध तो लगभग हुआ ही नहीं। जापानियों की तोपों से गोले बरसने लगें, अथवा रबड़ के जंगलों से प्रत्यक्ष गोलियों की बरसात या वैसी ही कृत्रिम आवाज आने पर ब्रिटिश साम्राज्य की सेना 'देखो, शत्रु आया' इस प्रकार डरते हुए अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर पीछे की ओर पलायन कर जाती थी।

जापानी हवाई जहाज यातायात के मार्गों के अड्डों पर, जंगलों की छावनियों पर, चलती रेलगाड़ियों पर, सामान ले जानेवाली मोटरगाड़ियों के काफिलों पर एकदम नीचे आकर बम की वर्षा तथा मशीनगनों से गोलाबारी कर देते थे। अधिकांशतया जापानी निशानेबाजों का निशाना चूकता नहीं था। मानना पड़ेगा कि इस विद्या में वे पारंगत कर दिए गए थे।

दिसम्बर की 27 तारीख को मैं सिंगापुर से ढाई सौ मील की दूरी पर स्थित क्वालालम्पुर नामक जिस स्थान के लिए जिस रेलगाड़ी से जा रहा था, उस समय उस रेलगाड़ी के गार्ड, टिकट-चेकर आदि सब भारतीय अधिकारी (अधिकांशतया तत्कालीन सीलोन के तमिल हिन्दू थे, उन्हें 'जाफना' लोग कहा जाता था।) सहानुभूति से धीरे से कहते थे—''ये गोरे लोग बड़े बुरे हैं। बम से आक्रमण के अवसर पर भी हमें सुरक्षित स्थानों पर जाने नहीं देते''''परसों बैटिंग स्टेशन पर बम गिरे तथा वहाँ के स्टेशन मास्टर अपने पूरे परिवार के साथ वहीं पर भस्मसात् हो गए।''''यदि इस गाड़ी का पीछा जापानी हवाई जहाजों ने किया तो मैं आपको एक कुछ सुरक्षित स्थान की ओर संकेत करता हूँ। आप यहाँ से उठकर डिब्बे के कोने में जहाँ शौचालय बने हैं, वहाँ पर दो डिब्बों को जोड़नेवाली गली-सी बन गई है, आप वहाँ जाकर खड़े हो जाएँ, तब जाकर कदाचित् बचाव हो सके''''क्या करें? बड़े संकट के दिन हैं। हमारे बहुत-से ड्राइवर तो जब से युद्ध आरम्भ हुआ है, तब से काम पर ही नहीं आ रहे हैं'''' जापानी लोग भारतीय लोगों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं''''परन्तु ये गोरे लोग जाएँ तब न?''''इन सबसे पीछा छूटे तब ही अच्छा होगा''''यही उचित होगा।''

वहाँ पश्चिमी तट के समुद्र-मार्ग से भी छोटी-छोटी नावों की सहायता से जापानी सेना की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ मलय में प्रविष्ट होने लगी थीं। उस दिशा

में स्थान-स्थान पर जापानी सेना की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ दिखाई देने लगी थीं। भारतीय सैनिकों ने देखा कि आगे तो जापानी सेना थी ही, अब पीछे से भी आ गई है और अब हम चारों ओर से जापानी सेना से घिर गए हैं। वे अपने भाग्य तथा अंग्रेजी सेना की शासन-पद्धति को कोसते हुए शस्त्रास्त्र समर्पण कर जापानी सेना की शरण में जाने की तैयारी करने लगे।

शत्रुओं की संख्या कितनी है, उनके पास खाद्य तथा शस्त्र-सामग्री कितने दिन तक चलने के लिए होगी, हम उनका प्रतिकार किस प्रकार करेंगे---इन बातों पर किंचित् भी विचार न करते हुए सामने आए हुए एक या दो जापानी सैनिकों को वे अपना सफेद झण्डा दिखा देते थे। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वे आसपास में जापानी सैनिक कहाँ हैं, उनको ढूँढने के लिए अथवा उनसे समझौता करने के लिए किसी एक भारतीय अधिकारी को शान्ति-दूत के रूप में भेज देते थे।

किसी को भी यदि युद्ध में विजय प्राप्त करनी हो तो, युद्ध करनेवाला प्रत्येक सैनिक व्यक्तिगत रूप से भी उद्देश्य-प्रेरित हो—इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिये। सेनानायक के जीवित रहने तक ही युद्ध करने की पहले की रीति बड़ी घातक थी। अब उस रीति का पालन नहीं होता है। सामने विजय लगभग निश्चित ही थी, तब भी इस प्रचलित रीति के कारण पानीपत के युद्ध का कैसा भयंकर विनाशकारी अन्त हुआ, यह सबको भलीभाँति विदित ही है। इसके विपरीत यदि प्रत्येक छोटा-बड़ा अधिकारी और उसकी सेना का सैनिक जय-पराजय की सम्भावना मन ही में निश्चित करके स्वेच्छा से व्यवहार करने लगे तो उसकी सेना को टूटने में कितना कम समय लगता है, यह बात हमें मलय, जावा, सुमात्रा इत्यादि देशों की थोड़े ही समय में हुई पराजय से विदित हो गया। अतः इन दोनों ही परम्पराओं को त्यागकर प्रत्येक सैनिक के मन को व्यक्तिगत रूप से विजय प्राप्त करने तक, अथवा मृत्यु प्राप्त होने तक, युद्ध-प्रवृत्त रखना ही प्रत्येक सेनानायक का प्रथम कर्त्तव्य है। एक बार युद्ध आरम्भ होने के अनन्तर हमारा नायक किधर है, यह देखने का अथवा जय होगी या पराजय यह सोचने की जिसको चिन्ता नहीं होगी, वही वास्तव में सच्चा सैनिक कहलाने का अधिकारी है।

मलय द्वीप के उत्तर में पश्चिम किनारे पर पेनांग नामक एक छोटा-सा द्वीप है। मलय द्वीप और पेनांग द्वीप के मध्य में जो खाड़ी है, उसे यदि नाव द्वारा पार किया जाय तो आधे घंटे का समय लगता है। इस द्वीप पर भारतीय सेना की करीब साढ़े तीन सौ सैनिकों की टुकड़ी तैनात थी। जापानियों ने आक्रमण आरम्भ

किया तब से लगभग उनकी जय होती जा रही थी और वे विद्युत्-गति से आगे बढ़ रहे थे। पेनांग के अंग्रेज अधिकारियों ने जब यह सुना तो उन्होंने जापानियों के भय से अपनी सारी सेना को मलय द्वीप पर ले-जाने का निर्णय किया।

इस बीच तीन दिन तक निरन्तर प्रात:काल नौ बजे निरीक्षण करने की दृष्टि से जापानी वायुयान पेनांग द्वीप पर उड़ते रहे थे। पेनांग-निवासियों के लिए यह एक कौतुक जैसा हो गया था। वहाँ के लोग सड़कों पर एकत्रित होकर यह तमाशा देखते थे। चौथे दिन जब उन हवाई जहाजों से बमबारी आरम्भ हुई तो उनमें ऐसी भगदड़ मची कि इस भगदड़ में ही अनेक लोग मारे गए। अंग्रेज अधिकारियों ने तो पहले से ही निश्चय कर लिया था; तदनुसार वे अपनी सारी सेना और पेनांग में रहनेवाले सारे गोरे नागरिकों को लेकर वहाँ से मलय द्वीप पर चले गए। जाते समय वहाँ की सत्ता वे एक तमिल भारतीय प्रतिष्ठित नागरिक को सौंप गए। दो-तीन दिन तक पेनांग में कोई भी शासक न होने के कारण नगर के चारों ओर ताले तोड़ना, चोरी करना, लूटमार करना आदि के समाचार मिलते रहे। जो भवन बमबारी से नष्ट हो गए थे वहाँ पर खूब लूटमार हुई, सब दुकानें लूट ली गईं। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात थी ही नहीं। यह स्वाभाविक था। कोई किसी को रोकने-टोकनेवाला नहीं था, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ही एक प्रकार से लूटपाट में सम्मिलित था।

अंग्रेज जब उस तमिल भारतीय अधिकारी को सत्ता सौंपकर वहाँ से मलय के लिए पलायन कर गए तो उस भारतीय अधिकारी ने सर्वप्रथम पेनांग में स्थान-बद्ध किये दस-बारह जापानी नागरिकों को बन्धन-मुक्त किया और उनसे कहा कि वे नावों में जाकर जापानी सेना को वहाँ पर बुला लाएँ। अंग्रेजों ने अपनी सारी सेना और अपने गोरे लोगों को वहाँ से निकाल ही लिया था, किन्तु जापानी नागरिकों को इस बात की सूचना नहीं थी और जापानी सेना धीरे-धीरे उनके पास आ रही थी।

बन्धनमुक्त होने पर जापानी नागरिक अपनी नावों द्वारा मलय के उत्तरी तट पर जाकर उतरे और जापानी अधिकारियों के पास जाकर उन्होंने पेनांग की वास्तविक स्थिति का परिचय दिया तथा कहा कि बिना गोलाबारी के वे पेनांग द्वीप पर आकर अपना अधिकार कर लें। परिणामस्वरूप पेनांग पर किया जानेवाला हवाई आक्रमण स्थगित कर दिया गया और बीस दिसम्बर को अपनी सेना की टुकड़ी लेकर पेनांग पर अपना अधिकार जता दिया।

इस भागदौड़ में तथा जल्दबाजी में अंग्रेज अधिकारी कितने भयभीत हुए थे उसका एक रोचक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। जापानी लोग उत्तर दिशा से

मलय द्वीप में घुसकर जब 'जितम्''''जितम्' करके दक्षिण दिशा की ओर सरकने लगे तो लगभग दो सौ मील के प्रदेश पर अधिकार करने के उपरान्त एक स्थान पर अंग्रेजों के सैनिक मोर्चे पर उनकी तोपों की बौछार हो रही थी। अचानक ही तोपों के गोले गिरने के कारण वहाँ के अंग्रेज अधिकारी ने पीछे हटने का निश्चय किया। हजार-दो हजार लोगों को मुख्य मार्ग से ले-जाने पर उन पर जापानी लोगों की दृष्टि पड़ी तो वे उन्हें वहीं पर समाप्त कर देंगे ऐसा विचार कर उस अधिकारी ने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर उन्हें मार्ग के दोनों ओर से किन्तु जंगलों के बीच से मार्ग क्रमण करते हुए दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करने का आदेश दिया। वहाँ कहीं जंगल में एक-दो सैनिक छिपे हुए थे। उन्होंने जब अंग्रेज सेना को इस प्रकार छिपकर जाते देखा तो गोलियाँ चला दीं। अंग्रेज सेना घबरा गई। उसे लगा कि जापानी सेना ने उनको ढूँढ लिया है। घबराकर अंग्रेजों की उस टुकड़ी ने मार्ग के दूसरी ओर की अपनी टुकड़ी पर गोली बरसानी आरम्भ कर दी। दूसरी ओर की अंग्रेज सेना ने भी यही समझा कि ये गोलियाँ जापानी सेना बरसा रही है। अत: उसने भी प्रत्याक्रमण के रूप में दूसरी ओर से गोली बरसानेवालों पर अपनी गोलीबारी आरम्भ कर दी। इस प्रकार एक ही सेना की अर्थात् अंग्रेजी सेना की दो टुकड़ियाँ भागते-दौड़ते जंगल में रास्ता ढूँढते हुए अनजाने में परस्पर गोलीबारी करती जा रही थीं। परिणामस्वरूप अंग्रेजी सेना की बड़ी क्षति हुई।

एक बार अंग्रेजी सेना की भारतीय सैनिकों की टुकड़ी एक स्थान पर जंगल में एकत्रित रह रही थी। दोपहर दो बजे के लगभग अचानक कुछ दूर से 'बचाओ''''बचाओ''''कोई मुझे बचाओ''''' ऐसी हृदय-विदारक चीख सुनाई दी। भारतीय सैनिकों ने जब यह सुना तो बिना कुछ शस्त्र लिये वे लोग उस और दौड़ पड़े। उन्होंने देखा कि 'बचाओ''''बचाओ' कहनेवाला व्यक्ति अपने शरीर में कम्बल लपेटे हुए एक स्थान पर पड़ा हुआ कराह रहा था।

उस तथाकथित पीड़ित व्यक्ति को जब आभास होने लगा कि उसको बचाने के लिए निश्शस्त्र सैनिक उसके समीप पहुँच रहे हैं तो उसने कम्बल को दूर फेंका और उसके भीतर छुपाई हुई मशीनगन निकालकर उसने दनादन गोली बरसानी आरम्भ कर दी। उसकी रक्षा के लिए गए भारतीय सैनिकों को ऊपर हाथ उठाकर शरणागत बनने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय बचा ही नहीं था। उसके आस-पास दस-बारह जापानी छिपे हुए थे। उन्होंने दूर पर बची हुई भारतीय सेना की टुकड़ी पर आक्रमण करके अनेक सैनिकों को निश्शस्त्र स्थिति में पकड़कर बन्दी बना लिया तथा जो लोग प्रतिकार करने लगे उन्हें अपनी गोलियों से भून डाला।

हवाई आक्रमण करने के लिए वायुयान आते थे और बमों तथा मशीनगनों से गोलीबारी करते थे। तब कुछ धर्मान्ध मुसलमान कुरान की पोथियों को गले में बाँधकर अथवा छाती से चिपकाकर रखते हुए विचरण करते थे। इसी प्रकार हिन्दू सैनिक भी कोई हनुमान-चालीसा का पाठ करता था तो कोई रामरक्षा का पाठ करता था। ज्यों-ज्यों हवाई आक्रमण का धूमधड़ाका बढ़ता जाता था, उनके स्तोत्र-पाठ का वेग भी बढ़ता जाता था। भारतीयों में भी कोई अपने पास सदा ही श्रीकृष्ण का चित्र रखते थे तो कोई देवी का चित्र रखते थे। कुछ नास्तिक भी ऐसे हो गए थे कि यदि अपनी रक्षा का सारा श्रेय भगवान को देना ही पड़ जाए तो कोई हानि नहीं किन्तु अपने प्राण तो बचने ही चाहिएँ, इस हेतु से राम नाम का जप करने लग गए थे। वे भी ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए विवश हो गए थे। किन्तु कुछ ऐसे भी थे जो युद्ध के भयंकर दृश्यों को देखकर कह उठते थे— 'ईश्वर-वीश्वर कहीं कुछ नहीं है।' ऐसे हवाई आक्रमणों के समय एक भारतीय सैनिक सदा ही कहा करता—'हे बजरंगबली! इन हवाई जहाजों को दरिया के पार ले जा।'

जोहोर बारु नगर की ही एक घटना है। जापानी सेना ने मलय द्वीप को लगभग पूरा ही अपने अधिकार में कर लिया था। केवल अन्तिम जोहोर पर अधिकार करना शेष रह गया था। अंग्रेजी सैनिकों की फौजों की टुकड़ियाँ पीछे हटते हुए जोहोर बारु नगर में आ पहुँची थीं। जोहोर बारु छोटा-सा तो था ही। ऐसे छोटे स्थान पर एकत्रित हुई सेना की टुकड़ी का खात्मा किया जाए—इस उद्देश्य से 12 जनवरी 1942 की प्रातःकाल दस बजे जापानियों ने आक्रमण के लिए एक सौ बारह वायुयान इस नगर पर भेज दिए।

विमानों का इतना बड़ा समूह आने पर अपनी ओर से उसका प्रतिकार करने के लिए अंग्रेजों ने कुल मिलाकर छः विमान प्रत्याक्रमण के लिए अथवा जापानियों के आक्रमण को रोकने के लिए आकाश में भेज दिए। उस समय जापानी हवाई जहाज नगर में इधर-उधर बम-वर्षा कर रहे थे। वे बम फटकर भयानक दृश्य उपस्थित कर रहे थे। तोप का गोला आकाश में फटते हुए दिन में भी किसी तारे के समान थोड़े समय के लिए चमकता और फिर उसी स्थान पर धुएँ का गोला दीख पड़ता था। आकाश में सब ओर इस प्रकार के धुएँ के गोले फट रहे थे। ऐसे समय में ही ये एक सौ बारह वायुयान अपनी ध्वनि करते हुए अपने मार्ग में आगे बढ़ रहे थे। इस ध्वनि के नीचे से तोपों की ध्वनि मिलकर एक विचित्र प्रकार का वातावरण बना रही थी।

ज्यों ही अंग्रेजों के छः वायुयान आकाश में पहुँचे, तुरन्त जापानी वायुयान

जो वाणाकार में विचरण कर रहे थे, वे इधर-उधर बिखर गए। तुरन्त ही उन्होंने एक बड़ा-सा गोल घेरा बना लिया और इन छः विमानों को उसके भीतर घेर लिया। जापानी विमानों से उनपर गोलाबारी होने लगी। उन छः विमानों ने भी प्रतिकारस्वरूप उनके पास जितने बम आदि विध्वंसक सामग्री थी, उसका प्रयोग किया। किन्तु वे थे ही कितने! जापानियों ने अपने कुछ विमान अंग्रेजों के विमानों से ऊपर कर लिये और उनसे उन विमानों पर मशीनगनों से गोलाबारी करने लगे। इसके साथ ही कुछ विमानों ने उनके नीचे जाकर नीचे से ऊपर की ओर गोलाबारी कर दी।

परिणामस्वरूप उन छः में दो वायुयान तो छलनी बनकर नीचे गिर पड़े। इसके साथ ही एक वायुयान की ईंधन की टंकी में आग भड़क उठी। शेष तीन वायुयानों ने वहाँ से पलायन करना ही श्रेयस्कर समझा। किन्तु बचकर तो वे भी न जा सके। जापानी विमानों से होनेवाली गोलाबारी में वे भी कहीं दूर जाकर धरती पर जा गिरे। एक या दो वैमानिक और उनके साथी हवाई छतरी की सहायता से नीचे की ओर उतरते हुए दिखाई पड़े। उनमें से एक तो पेड़ से जाकर टकराया। परिणामस्वरूप उसका शरीर क्षत-विक्षत-सा हो गया। पेड़ की एक टहनी से उसकी कमर में छेद हो गया और घुटने चूर-चूर हो गए। माथे पर भी गहरी चोट आई, इस प्रकार पीड़ा से कराहता हुआ शीघ्र ही परलोक सिधार गया।

नित्यप्रति अंग्रेजों की ओर से एक 'युद्ध-पत्रक' प्रकाशित होता था। उस पत्रक में दूसरे दिन पढ़ने को मिला कि 'हमारे छः वैमानिकों ने बड़ा पराक्रम दिखाया। उन्होंने शत्रु के एक सौ बारह विमानों का पीछा किया और उनमें से कम से कम सैंतीस विमान मार गिराए और अन्य तेईस भी निश्चित ही कहीं गिर पड़े होंगे। इसके साथ ही चवालीस विमानों को भीषण क्षति पहुँचाई गई। इस प्रत्याक्रमण में हमारे केवल एक विमान की थोड़ी हानि हुई तथा हमारा एक वैमानिक लापता है।'

सन् 1942 के फरवरी मास की एक तारीख को जापानियों ने सारे मलय द्वीप को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार केवल सिंगापुर द्वीप अब अंग्रेजों के अधिकार में रह गया था। दूसरी ओर मलय द्वीप पर जापानी सेना थी। यह उस दिन अर्थात् एक फरवरी की स्थिति थी। अंग्रेजों ने उस खाड़ी पर के पुल पर से आते हुए पूरे पुल को उड़ा देने के उद्देश्य से उसके नीचे स्थान-स्थान पर विस्फोटक पदार्थ लगाकर विस्फोट की पूरी तैयारी कर रखी थी। परन्तु सचमुच मलय छोड़कर पुल को पार करके सिंगापुर द्वीप पर आने के समय उन्होंने जोहोरबारु नगर से सटा हुआ पुल का सिरा-मात्र ही बारूद से नष्ट किया तथा

बाकी बचा हुआ पुल यथावत् रहने दिया।

इसके उपरान्त अब सिंगापुर द्वीप पर युद्ध आरम्भ होनेवाला था, पूरा का पूरा मलय द्वीप-कल्प जापानियों के अधिकार में चला गया था। नीचे दक्षिण दिशा पर स्थित समुद्र पर जापानियों के जहाजी बेड़ों का ही राज्य था। वहाँ के अंग्रेजी जहाजी बेड़े तो कब के ही नष्ट किये जा चुके थे। छोटी-बड़ी नावों से भागने का यत्न करनेवाले अंग्रेजी सैनिकों को जापानी जलपोत तथा वायुयानों ने अच्छा पाठ पढ़ाया था। बहुत-से लोग यदि डूबने से बच गए तो अत्यन्त असहाय स्थिति में येन-केन-प्रकारेण किसी द्वीप पर पहुँचकर पुनरेण जापानियों के ही फन्दे में फँस गए थे।

जापानियों ने मलय द्वीप को अपने अधिकार में करने के उपरान्त मलय के दक्षिण के तटों पर किंचित् ठहरकर खाड़ी के दूसरी ओर से सिंगापुर द्वीप पर दृष्टि गड़ाईं; उस पर आक्रमण करने के लिए जोर-शोर से तैयारी आरम्भ कर दी। फरवरी 1942 की पहली तारीख से 8 तारीख तक निरन्तर आठ दिन तक जापानियों ने सिंगापुर पर तथा अंग्रेजों ने जोहोर बारु पर दिन-रात तोपों की गोलाबारी की। रात-दिन तोपों की धड़ाक्-धुम्म ऐसी कर्णभेदी एवं हृदय-विदारक ध्वनि निरन्तर चलती रही थी। इसमें अंग्रेजों का उद्देश्य यह था कि मलय के किनारों पर नावों की सहायता से सिंगापुर द्वीप पर हल्ला बोल दें, ताकि आनेवाले जापानी सैनिक इधर-उधर बिखरकर तितर-बितर हो जाएँ। उधर जापानी सैनिक यह विचारकर सिंगापुर पर निरन्तर गोलाबारी कर रहे थे कि जहाँ पर उन्हें अपनी सेना को उतारना है, वहाँ पर कोई भी अंग्रेज सैनिक न रहे।

सिंगापुर को पानी मलय से पहुँचाया जाता है। जिन जलवाहिनियों के माध्यम से यह जल पहुँचाया जाता था, उनको जापानियों ने नष्ट कर दिया था।

अन्ततः 8 तारीख की रात को अँधेरा होते ही जापानियों ने यहाँ-वहाँ अनेक गुप्त स्थानों पर एकत्रित की हुई नावों का काफिला जोहोर बारु के दक्षिण किनारे पर खाड़ी के मुँह के पास लाकर तैनात कर दिया। सिंगापुर द्वीप के दाएँ किनारे पर बहुत ही दलदल है। उन्होंने उस दिशा से तोपों से भयंकर गोलाबारी की। उन तोपों की गोलियों का आश्रय लेकर वह काफिला बहुत ही शीघ्र सिंगापुर के ओर की दो फर्लांग की खाड़ी को लाँघकर पहुँच गया, यद्यपि अंग्रेजों ने भी इस अवधि में अपनी ओर से बड़ी जोर-शोर की गोलाबारी की थी। जोहोर बारु के जिस तट पर चढ़ाई करने के लिए तैयार जो जापानी सेना सिंगापुर पर प्रहार करने के लिए आदेश की प्रतीक्षा कर रही थी, उस पर भी अंग्रेजों की तोपों ने गोलाबारी की। परिणामस्वरूप जापानियों के अनेक सैनिक अपने प्राण गँवा बैठे। इसके साथ ही

सेना भी तितर-बितर हो गई। इतनी हानि सहन कर लेने पर भी जापानी सेना की पहली टुकड़ी सिंगापुर के तट पर उतरने में सफल हो ही गई।

इस जापानी टुकड़ी में कैप्टन मोहनसिंह तथा उनके दो सौ साथी थे। किनारे पर उतरने के बाद पीछे आनेवाली टुकड़ियों का मार्ग प्रशस्त करने के उद्देश्य से उन्होंने एक साथ शोर किया और सिंगापुर द्वीप के उत्तरी तट पर चारों ओर फैल गए। उस समय उस किनारे पर मौजूद ब्रिटिश सैनिकों को उन्होंने मौत के घाट उतार दिया। उनमें से कुछ आहत भी हुए और शेष बन्दी बना लिये गए। बहुत थोड़े-से ऐसे थे जो भागने में सफल हो सके थे। यहाँ पर जापानियों को प्रचुर मात्रा में गोला-बारूद और तोपें प्राप्त हुईं।

9 तारीख की प्रातःकाल तक उन्होंने यह सारा तट अपने अधिकार में कर लिया। इसी बात की प्रतीक्षा कर रही जापानी सेना की जोहोर बारु के किनारे की टुकड़ियाँ नावों, मोटर बोटों तथा जहाजों पर चढ़कर सिंगापुर द्वीप पर अलग-अलग स्थानों पर जा पहुँचीं। सिंगापुर द्वीप के चारों ओर भूत की भाँति मँडरा रहे उनके जहाजी बेड़े अब खुले तौर पर उस द्वीप के चारों ओर घेरा डालकर उस पर तोपें दागने लगे।

अब यह निश्चित हो गया था कि समुद्र के मार्ग से किसी भी ओर से शत्रु को सहायता पहुँचने की कोई सम्भावना शेष नहीं रह गई थी। अन्दर जो अंग्रेज सैनिक वहाँ थे, उनके भी वहाँ से निकलकर समुद्र-मार्ग से कहीं चले जाने का कोई मार्ग बचा नहीं था। कुछ सैनिकों ने छोटी-छोटी नावों की सहायता से निकल भागने की चेष्टा की, किन्तु उनकी वह चेष्टा केवल मृत्यु को आमन्त्रण देनेवाली ही सिद्ध हुई।

वायुयानों ने भी अब सिंगापुर द्वीप पर दिन में तीन-चार बार आकर हवाई आक्रमण करने का स्वभाव बना लिया था। इस प्रकार जापानी सैनिक धीरे-धीरे उत्तर से दक्षिण की ओर सिंगापुर द्वीप के मार्ग क्रमण कर रहे थे।

अंग्रेज अधिकारियों तथा उनकी गोरी मेमों के नाच निरन्तर चालू थे। हवाई आक्रमण के कारण रात को दीये जलाने की आज्ञा नहीं थी। सैनिकों को कठोर निर्देश दिया गया था कि सिगरेट-बीड़ी की जलती हुई चिनगारी भी किसी भी प्रकार बाहर दिखाई नहीं पड़नी चाहिए। तदपि अन्धकार में भी उनके नाच-गानों में कोई व्यवधान नहीं आया था। कदाचित् 'कल तो मरना ही है, तब जितना अधिक समय मिले उतना आनन्द क्यों न लूट लिया जाए'—इसी मनोवृत्ति का यह द्योतक माना जा सकता है; अथवा, मानव-स्वभाव की कोई औषधि नहीं हो सकती—इस प्रकार की मनोवृत्ति भी हो सकती है। परन्तु फरवरी मास की 15

तारीख तक सिंगापुर पूर्णरूप से जापानियों का शरणागत बन गया। इस प्रकार 14 तारीख की रात को अंग्रेज स्त्री–पुरुषों का अन्तिम नृत्य सम्पन्न हुआ।

फरवरी मास की 9 तारीख की सुबह 'सिंगापुर टाइम्स' नामक समाचार-पत्र में यह समाचार प्रकाशित किया गया था—पिछली रात को सिंगापुर द्वीप पर जापान ने अपने पैर जमा लिये। मलय के बहुत-से नागरिक भी अंग्रेजों के दुष्प्रचार के कारण 'भगवान बचाए इन जापानियों से' ऐसा कहते हुए साम्राज्य-सेना के पीछे सिंगापुर द्वीप पर केवल अपने शरीर पर धारण किये वस्त्रों के साथ ही प्रविष्ट हुए थे। इस कारण सिंगापुर में मानो बहुत व्यक्तियों का जमघट हो गया था। वास्तव में युद्ध के समय में नागरिकों को अपने घर-द्वार छोड़कर जाना नहीं चाहिए, क्योंकि खाद्य सामग्री और वस्त्रों के बिना तथा रहने के लिए स्थान के अभाव में उनकी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। केवल किसी परकीय सत्ता के लोगों के अप-प्रचार का शिकार होकर अपने काम-धन्धे, उद्योग, परिवार हत्यादि को छोड़कर पीछे हटनेवाली सेना के साथ स्वयं भी किसी प्रकार का विचार न करके, आगा-पीछा कुछ सोचे बिना निकल जाना मूर्खता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

परिणाम यह हुआ कि सिंगापुर पहुँचकर रहने के लिए कोई स्थान न होने पर जिस प्रकार किसी मेले में खुले स्थान पर लोग रहते हैं, उसी प्रकार ये लोग वहाँ रह गए थे। वहाँ पर उन्हें भोजन, वस्त्र, पानी और रहने के स्थान तक के लाले पड़ रहे थे। भीड़ इतनी थी कि कुछ उसमें ही दबकर मर गए। वस्तुओं के अभाव में चोरी और खूनखराबा होने लगा तो कई लोग इसमें ही मारे गए। परिणाम यह कि हर प्रकार से उनके लिए वहाँ मृत्यु ने अपने द्वार खोल दिए थे। परिवार के लोग अपनों से बिछुड़ गए और इसके साथ वहाँ पर अनेक लोगों के साथ बहुत बुरी-बुरी घटनाएँ भी घटित हुईं। माँ-बाप के जीवित रहते हुए भी उनके बच्चे अनाथ हो गए।

जो लोग दासता का ही जीवन व्यतीत कर रहे होते हैं उनके लिए जापानी क्या और अंग्रेज क्या? स्वतन्त्रता के बाद यदि फिर आक्रमणकारी शत्रु की सीमा में न रहकर पीछे हटने में सफल हो गए तो बात दूसरी है, अन्यथा नागरिकों को इससे क्या अन्तर पड़ता है! जैसा एक राज्यकर्त्ता; वैसा दूसरा राज्यकर्त्ता। सारे प्रदेश में यत्र-तत्र सैनिक बिखरे पड़े थे। गलियों में, घरों में, छतों पर जहाँ स्थान मिला वहीं उन्होंने अपना ठिकाना बना लिया।

जापानियों के हवाई आक्रमण ने तो उनकी नाक में दम कर रखा था। रात-दिन तोपों के गोले सुईं····सुईं····सुईं करते हुए पटाखों के अग्निबाणों के समान

ऊपर आकाश में उभरते और फिर किसी भवन पर धप्प से जाकर गिरते, क्षणमात्र में ही सारा भवन धराशायी और धू-धू कर जलने लगता। कई लोग उसके नीचे दबकर मारे जाते थे। कई दिनों तक उनके शव उसके नीचे सड़ते रहते थे।

15 फरवरी 1942 की बात है। तब तक लगभग सारा द्वीप जापानियों के अधिकार में आ चुका था। सिंगापुर द्वीप के दक्षिण के समुद्र-तट पर स्थित मुख्य डाकघर, बैंक, न्यायालय आदि कुछ गिने-चुने पन्द्रह-बीस बड़े भवन और दक्षिण दिशा के पास करीब दो या तीन मील गाँव का एक भाग-मात्र अंग्रेजों के अधिकार में रह गया था। इसमें 'कैथे' नामक एक चौदह-मंजिला खूब लम्बा-चौड़ा सीमेंट-कंक्रीट का पक्का एवं भव्य भवन भी था। पीछे हटनेवाली अधिकांश फौजी टुकड़ियों के प्रमुख कार्यालय, सैनिक विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों ने इस भवन में स्थापित किये थे। नीचे के तल पर आस्ट्रेलियन सैनिकों का अस्पताल होने के कारण अंग्रेजों ने इस भवन के शीर्ष पर अस्पताल के चिह्न के रूप में 'रेडक्रॉस' का ध्वज पहरा दिया था। जिस भवन पर इस प्रकार 'रेडक्रॉस' का लाल ध्वज हो उस पर आक्रमण करना निषिद्ध होता है। अंग्रेजों का उद्देश्य भी यही था कि शत्रु-सेना इस पर किसी प्रकार की गोलाबारी न करे।

किन्तु अंग्रेजों ने उस ध्वज के साथ-साथ उतनी ही ऊँचाई पर एक विमानभेदी मशीनगन भी तैनात कर रखी थी। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के नियमों के अनुसार रेडक्रॉस के ध्वज के समीप कहीं भी सैनिक अड्डा अथवा उस जैसा कुछ भी नहीं होना चाहिए। तब युद्ध कर रहे राष्ट्र पर लागू हुए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन यदि कोई करे तो उसके विरुद्ध अप-प्रचार किया जाता था। परन्तु स्वयं उस विषय में सबसे निर्लज्ज व्यवहार करते हुए भी डरते नहीं थे।

इस 'कैथे' भवन पर उत्तर, पूर्व एवं पश्चिम की तीन दिशाओं से तोपें तानकर दोपहर ठीक बारह बजे से जापानियों ने बमवर्षा आरम्भ कर दी। बाहर की ओरवाले कमरों की दीवारों में छिद्र होकर पत्थर के समान कठोर बने हुए सीमेन्ट-कंक्रीट की दीवार के टूटे हुए टुकड़े अन्दर आने लगे। और फिर दो-चार घंटों के अन्दर ही यह बड़ी-भारी और सुदृढ़ इमारत भी ढहकर चकनाचूर हो गई। हजारों मनुष्य उसके अन्दर दबकर पिस गए। अधमरे लोग कराह रहे थे, किन्तु वहाँ कौन सुननेवाला था और कौन बचानेवाला! समुद्र के तट पर जितने भी भवन थे वे सब सैनिकों से ठसे पड़े थे। दोपहर दो बजे के करीब उन पर भी बमवर्षा की गई। इस बमवर्षा में भी हजारों लोग अपनी जान से हाथ धो बैठे।

ऐसे में यदि कोई भागना भी चाहे तो भाग नहीं सकता था, क्योंकि चारों

ओर समुद्र ही समुद्र था। आगे जाने का तो मार्ग ही बन्द था। जो भी इमारत अब बची हुई दिखाई देती थी उसी पर तोपों और बमों की बौछार होने लगेगी और वह चकनाचूर होकर गिरती जाएँगी—यही सब सोचने लगे थे। किसी की समझ में यह बात आई हो अथवा न आई हो अथवा कोई अन्य कारण रहा हो।

उस दिन दोपहर ढाई बजे के लगभग जनरल पर्सीवल और जनरल हीथ ने सफेद ध्वज दिखाकर बिना शर्त जापानियों की शरण में जाने का निश्चय किया। सफेद ध्वज फहराते ही आक्रमण रुक गया। धीरे-धीरे बमों और तोपों की आवाजें मन्द पड़ती गईं और शाम सात बजे तक पूर्ण युद्धविराम हो गया। बाद में दस बजे तक एक-दो स्थानों पर विस्फोटों की ध्वनि अवश्य सुनाई दी, किन्तु उसके बाद नहीं। फिर शान्ति हो गई।

उस दिन यह निश्चय किया गया कि नित्य की ही भाँति वहाँ सब स्थानों पर अंग्रेजों के ही पहरेदार रहेंगे। प्रातःकाल होने पर वहाँ से चार-पाँच मील की दूरी पर स्थित जापानी सेनाएँ वहाँ आकर अंग्रेजों से अधिकार ले लेंगी।

प्रातःकाल होते ही इतने दिनों तक न जाने कहाँ-कहाँ छिपे हुए नागरिक बाहर निकल आने लगे। जो नगर युद्ध के कारण सुनसान और भयानक-सा लगने लगा था, नागरिकों की हलचल आरम्भ होने पर उसकी दशा सुधरने लगी।

तदपि लोगों का भय अभी दूर नहीं हुआ था। हर कोई परस्पर पूछता था कि क्या वास्तव में सिंगापुर में युद्ध समाप्त हो गया है ? अथवा यह कुछ समय के लिए युद्धविराम हुआ है ? अंग्रेजों ने शरण प्राप्त कर ली है—बड़वानल की भाँति यह समाचार सर्वत्र फैल गया था। अंग्रेज तथा उनके अधिकारियों के चेहरों पर दुःख और लज्जा की उदासी छाई हुई दिखाई देती थी, फिर भी 'जान तो बच गई' इस बात का उन्हें सन्तोष भी था।

उस दिन सिंगापुर नगर में बड़ी भीड़ उमड़ पड़ी थी। जापानी सैनिकों से भरी हुई मोटरगाड़ियाँ उस नगर में प्रविष्ट हो रही थीं। जो नहीं जानते थे जापानी सैनिक कैसा होता है, उसके 'नृसिंह' अवतार के रौद्र रूप में नहीं देखा था, ऐसे 'शत्रु आया, भागो' कहनेवाले सैनिक आज उसके सौम्य रूप का दर्शन करने के लिए उत्सुक थे। ऐसे लोग अनेक स्थानों पर गुट बनाकर खड़े थे। दाढ़ी बढ़ी हुई एवं थके-थके-से जापानी सैनिक विजयोत्साह में मोटरगाड़ियों से उतरकर इधर-उधर घूमते हुए अलग-अलग वस्तुओं और भवनों का निरीक्षण-परीक्षण कर रहे थे। बम-वर्षा के कारण लगी हुई अग्नि अभी भी अनेक स्थानों पर जल रही थी। ध्वस्त हुए घरों तथा दुकानों की लूटपाट भी चल ही रही थी। इस लूटपाट में अधिकांशतया चीनी तथा मलयाई लोग ही भाग ले रहे थे। कहीं-कहीं कोई

भारतीय भी इसमें सम्मिलित दिखाई दे जाता था। ऐसे मौकों पर मार-पीट तथा रक्तपात भी हो जाया करता था।

इस लूटपाट को यदि कोई जापानी सैनिक देख लेता तो वह अपनी तलवार निकालकर उस भीड़ में घुस जाता और अपनी तलवार चारों ओर घुमाकर एकत्रित भीड़ को तितर-बितर कर देता था।

सिंगापुर के मार्गों पर सैनिकों तथा नागरिकों के झुण्ड देखे जा सकते थे। कुछ सैनिक तो सैनिक वेशभूषा उतारकर सामान्य नागरिक के वस्त्र धारण कर उनमें ही सम्मिलित हो गए थे और अपने नाते-रिश्तेदारों के पास जाकर रहने लगे थे। गली-मुहल्लों में अनेक प्रकार के वाहन, मोटर, लारियाँ तथा बसें आदि खड़ी थीं। जिस प्रकार मुम्बई के 'गेट वे ऑफ इण्डिया' पर शाम के समय नागरिकों की कारों का जमघट हो जाता है, वैसा ही जमघट सिंगापुर के समुद्र-तट पर दिखाई देता था।

वहाँ भी स्थान-स्थान पर बन्दूकों, बारूदों, संगीनों के ढेर लगे हुए दीख रहे थे। कुछ चतुर चोर वहाँ पर खड़े इन वाहनों में से भी चीजें चुराने में व्यस्त थे। कुछ लोग किसी टूटे-फूटे बँगले में छिपकर या खुल्लम-खुल्ला भी घुसकर, ताला तोड़कर, सामने जो सहज उठाने योग्य मूल्यवान वस्तु दिखी उसको उठाकर चलते बनने में लज्जा का अनुभव नहीं करते थे।

सेना के साथ उत्तर भारत से आए हुए लोगों के लिए सिंगापुर के गुरुद्वारों अथवा मन्दिरों में धर्मार्थ भोजनालय और लंगर आरम्भ कर दिए गए थे। ऐसे स्थानों पर उस दिन बहुत ही भीड़ एकत्रित हो गई थी। किसी को भी किसी भी बात का पता नहीं चल रहा था, इस प्रकार की स्थिति बन गई थी।

सिंगापुर पर अधिकार करते ही जापानियों ने सर्वप्रथम यह कार्य किया कि अंग्रेजों ने जिन-जिन चीनियों, मलइयों, भारतीयों और अंग्रेजों को जिस गुप्तचर विभाग में काम पर नियुक्त किया हुआ था, उनकी उपस्थिति ली। इनमें से अनेक लोगों को उसी समय गोली से उड़ा दिया गया। इसका कारण-अकारण कुछ नहीं था। इससे पूर्व जिस प्रकार अंग्रेजों के शासन के समय जापानी दुकानों एवं दुकानदारों पर सामूहिक बहिष्कार बोला जाता था, वहाँ उपस्थित सारी भीड़ उन पर पत्थरों की वर्षा करने लगती थी, सरकार की ओर से उन उपद्रवियों को प्रोत्साहित किया जाता था, वही नीति इस समय जापानी अपना रहे थे। जिस प्रकार उस समय वहाँ रह रहे जापानियों को नित्यप्रति पुलिस स्टेशन पर जाकर अपनी उपस्थिति लिखानी पड़ती थी, आज वही स्थिति अंग्रेजों और उनके पिट्ठुओं की हो रही थी। इस प्रकार जिन विविध तरीकों से जापानियों को

अपमानित किया जाता था, वह सब आज उलटा हो रहा था। जापानी यह सारा अपमान उचित समय की प्रतीक्षा में चुपचाप सहते रहे थे। आज जब उचित समय आया तो पूरे वेग से उन्होंने उसका बदला चुका लिया।

नगरपालिका, पुलिस कार्यालय, शिक्षण-क्षेत्र, इत्यादि सब विभागों का कार्य दूसरे दिन से ही जापानियों ने सुव्यवस्था और सरलता से करना आरम्भ कर दिया था। इस सुव्यवस्था के लिए वास्तव में जापानियों की प्रशंसा ही करनी होगी।

सन् 1945 में युद्ध-समाप्ति के अनन्तर जब अंग्रेजों ने सिंगापुर पर पुनरेण अधिकार कर लिया, तब उन्हीं विभागों को पुनः अपने अधिकार में करते समय उन्होंने इतनी दुरवस्था की कि अंग्रेजों की ओर से उन-उन विभागों में कार्यरत क्रिश्चियन और योरोपियन लोग भी जापानियों की कार्यकुशलता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते थे, जब कि जापानियों के लिए अंग्रेजी भाषा और उनकी कार्य-प्रणाली सर्वथा नई थी। किन्तु जापानियों को तो बाल्यकाल से ही राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत किया जाता था जो उनकी रग-रग में समा गई थी। यही उनकी कार्यक्षमता का रहस्य था। ऐसा माना जाता है कि यह पद्धति उन्होंने जर्मन लोगों से सीखी थी जिसका उल्लेख हम प्रथम अध्याय में ही कर आए हैं। हम समझते हैं कि भारत में भी ऐसे लोग होंगे जिन्होंने जर्मनी में प्रशिक्षण प्राप्त किया होगा।

सिंगापुर में सड़कों पर, गलियों में, दुकानों पर, बड़े-बड़े भवनों में, जहाँ कहीं भी बचे-खुचे गोरे लोग थे अर्थात् अंग्रेजों, आस्ट्रेलियन नागरिकों तथा सैनिकों को ढूँढ-ढूँढकर जापानियों ने उनको सिंगापुर के 'चांगी' नाम की बड़ी ऊँची दीवारोंवाले कारागार में बन्द कर दिया था। दूसरे ही दिन रास्ते साफ करना, ध्वस्त हुए भवनों के ढेरों को साफ करना, शवों को उठाना, नालों को साफ करना, इत्यादि कामों के लिए उन गोरे लोगों को अनेक टुकड़ियों में बाँटकर लगा दिया गया था। यह कार्य शाम तक चलता रहता था। सायंकाल काम समाप्त होने पर उन्हें दस-बारह मील पैदल चलाकर फिर से कारागार में लाकर बन्द कर दिया जाता था। दिन के समय काम करते हुए उनकी देखभाल के लिए उनमें से एक को अधिकारी बनाकर उनपर नियुक्त कर दिया जाता था। उन पर पहरा देने के लिए एक-दो बन्दूकधारी जापानी सैनिक भी तैनात किये जाते थे।

अंग्रेजों तथा उनके मित्र राष्ट्रों के अधिकारियों को उनकी आलीशान तथा सजी हुई हवेलियों से निकालकर परिवार-सहित कारागार में डालने के उपरान्त उन हवेलियों में जापानी अधिकारी तथा उनके परिवार के लोग बसा दिए गए थे।

भारतीय सैनिकों को कैप्टन मोहनसिंह तथा जापानी अधिकारी की ओर से आदेश दिया गया कि उनकी अपनी-अपनी टुकड़ियाँ जहाँ-जहाँ पर जितने भी सैनिक मिल गए हों, उन सबको एकत्रित कर उनकी सूचियाँ बनाकर उनको रात व्यतीत करने के लिए 'रफल्स स्क्वेयर' भवन की निर्धारित मंजिल पर रात्रि-विश्राम के लिए ले-जाया जाय। उन सैनिकों में से अनेक सैनिक यह विचार कर रहे थे कि वे सैनिक वेश उतारकर स्थानीय लोगों के साथ घुल-मिलकर चुपचाप अपना स्वतन्त्र कार्य प्रारम्भ करें। परन्तु युद्ध का अनुभव न होने के कारण कुछ सैनिकों ने नासमझती से ऐसा प्रचार कर दिया कि जापानी अब उनको भारत भेजनेवाले हैं। इस अफवाह का यह प्रभाव हुआ कि अनेक लोग जो स्वतन्त्र होने का विचार कर रहे थे, पुनः सेना में ही बने रहने का विचार कर बैठे। किन्तु कुछ दूरदर्शी लोग ऐसे भी थे जिन्होंने सैनिक जीवन त्यागकर वहीं के नागरिक बनना पसन्द किया।

कैप्टन मोहनसिंह के आदेशानुसार अपनी-अपनी टुकड़ियों के नायकों ने अपने सैनिकों की सूचियाँ बना लीं। अब अधिकारी तो कोई था ही नहीं, क्योंकि सभी तो लोहे की सलाखों के भीतर बन्द थे। 16 तारीख की रात भारतीय सैनिकों ने 'रफल्स स्क्वेयर' भवन में रहकर गुजारी। मुम्बई के 'फोर्ट' क्षेत्र में जिस प्रकार 'ह्वाइट वे लेड ला', 'इन्हान्स फ्रेजर' इत्यादि अंग्रेजी पद्धति की बड़ी-बड़ी दुकानें, बैंक, केशकर्तनालय, इत्यादि हैं, वैसे ही सिंगापुर के इस भाग में भी हैं। इनमें भरा हुआ अधिकांश माल तो काँच की खिड़कियाँ तोड़कर लूट लिया गया था। जो बच गया था, उसे अब लूटा जा रहा था।

भोजन की कोई समुचित व्यवस्था न होने के कारण सबने बिस्कुट, पेपरमिंट, औटाए हुए दूध के डिब्बों में से दूध इत्यादि से काम चलाया, क्योंकि अन्य कोई उपाय था ही नहीं। दूसरे दिन तारीख 17 फरवरी को सबको प्रातःकाल पंक्तिबद्ध करके लगभग एक मील पर स्थित 'फैरर पार्क' नामक मैदान पर जाने का आदेश दिया गया।

अध्याय सात

स्वतन्त्रता के बीज का अंकुरण

कैप्टन मोहनसिंह द्वारा आरम्भ से ही जापानियों के साथ सहयोग करने के कारण प्रतिकार-भावना से किये जानेवाले भारतीयों के नरसंहार और उससे होनेवाली प्राणहानि नहीं हो पाई। जापानियों द्वारा पकड़े गए भारतीय सैनिकों और नागरिकों को अन्यथा जो यातनाएँ मिलतीं उनसे वे बच गए। इसके साथ ही 'भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम' का बीजारोपण भी हो गया। इस प्रकार तिहरा लाभ हुआ। अब सब ओर शान्ति प्रस्थापित हो जाने से प्रत्यक्ष कार्य का समय आ गया था।

17 फरवरी 1942 को प्रातःकाल 9 बजे सारे भारतीय युद्धबन्दी अपना-अपना सामान पीठ पर लादकर सिंगापुर के 'फेरर पार्क' के मैदान में उपस्थित हुए। वे लगभग 60 हजार सैनिक थे। उनको पंक्तिबद्ध बैठाया गया। भरी दोपहरी में वे लोग धूप में बुरी तरह झुलस गए थे। हरेक टुकड़ी अपनी-अपनी मोटर-गाड़ियों में चावल, आटा, दाल आदि दैनंदिन प्रयोग में आनेवाली खाद्य-सामग्री साथ में लाए हुए थे। अपनी-अपनी टुकड़ियों के पिछली ओर सबने अपने-अपने तम्बू ताने और दोपहर में ही शाम का भोजन तैयार करने लग गए।

उस मैदान के एक सिरे के मध्य में एक दुमंजिला पीला भवन है। उस भवन की दूसरी मंजिल में ध्वनिविस्तारक यंत्र लगाए गए और ऊपर पताका फहराई गई और वहीं से सभा का आयोजन किया जाने लगा। भवन के चारों कोनों में जापानी सैनिक पहरे पर तैनात थे। उस दिन प्रातःकाल कैप्टन मोहनसिंह तथा उनके दो-चार सहायक अपनी कमीज की बाईं बाँह पर रोमन लिपि का 'एफ' अक्षर काली पट्टी पर और जापानी भाषा के कुछ अक्षर सफेद पट्टी पर लिखकर बाँधे हुए थे। उनके सामने साठ हजार युद्धबन्दी एक-दूसरे से सटकर बैठे हुए थे। कैप्टन और उनके साथी उन पंक्तियों में घूमकर हँसते हुए परस्पर वार्तालाप करते एक प्रकार का हस्तान्दोलन-सा कर रहे थे।

रोमन लिपि के 'एफ' का अर्थ था 'फूजीवारा।' जापानी सेना में मुख्याधिकारी के नाम से ही पूरी टुकड़ी को सम्बोधित करने की प्रथा है। 'हिकारी किकान' विभाग के उस समय के मुख्याधिकारी फूजीवारा थे, अतः उनके नाम से भी उसे 'फूजीवारा किकान' कहते थे। उस सेना की टुकड़ी से जिनका सम्बन्ध था तथा उनके विश्वासपात्र जो भारतीय लोग थे, किसी भी जापानी अधिकारी को शीघ्र ही उनकी पहचान हो जाए इसलिए उन्हें 'एफ' तथा अन्य जापानी अक्षरों से लिखी हुई सफेद पट्टियाँ कमीज की बाईं बाँह पर लगाने के लिए दी गई थीं।

कैप्टन मोहनसिंह तथा उनके सहायक बड़ी प्रसन्नता से परस्पर मिलते हुए विचरण कर रहे थे। मैं दूर खड़ा बड़े सन्तोषपूर्वक देख रहा था। उसी समय मेरे पीछे खड़े एक सिख सैनिक ने जो कुछ कहा उसके वे शब्द मुझे चुभ गए। उसने दूर खड़े हुए कैप्टन मोहनसिंह की ओर देखकर कहा, ''देखो, इसने अपना सारा खानदान बरबाद कर डाला!'' मेरे मन में उस समय तुरन्त एक विचार कौंधा, 'और जिन लोगों ने अपने ही लोगों के विरुद्ध विश्वासघात कर भारत में अंग्रेजों द्वारा अधिकार किये जाने के लिए उनकी सहायता की, उन्हें क्या कहा जाए? उसने अपने खानदान को कितना प्रसिद्ध कर दिया?'

शाम को, अपनी-अपनी मोटरगाड़ियों पर छोटे-छोटे पीले, लाल, नीले रंग-बिरंगे झण्डे फहराकर जापानी अधिकारी अपने गरम हरे रंग के कपड़ों की सैनिक वेशभूषा में कमर में तलवार लटकाकर फेरर पार्क की इमारत के पास उतरे और गम्भीर तथा थोड़ी क्रोधित मुद्रा में जल्दी-जल्दी पैर पटकते हुए ऊपर आए। मोहनसिंह भी अपने दो-तीन सहयोगियों के साथ मोटर में आए और वे भी ऊपर चले गए। अंग्रेज सेना के अधिकारी ले० क० हंट को भी जापानी सेना की पहरेदारी में मोटरगाड़ी में वहाँ लाया गया था। दूसरी मंजिल पर बहुत लम्बी गैलरी थी, वहाँ बहुत-सी कमानें थीं। कमानों के मध्य में स्थित कमान के पास एक लकड़ी का चबूतरा रखा था तथा उस पर तीन-चार कुर्सियाँ एक पंक्ति में रखी गई थीं। उनके मुख युद्धबन्दियों के समुदाय की ओर थे।

कैप्टन मोहनसिंह और उनके सहयोगी तथा सभी जापानी अधिकारियों के उन पर आसीन हो जाने के उपरान्त ले० के० हंट माइक पर खड़े होकर अस्खलित अंग्रेजी भाषा में भारतीय युद्धबन्दियों को सम्बोधित करते हुए कहने लगे, ''परसों तक, अर्थात् सिंगापुर के पतन-काल तक आप सब हमारे अधिकार में थे, परन्तु उस दिन के बाद आप सब अब जापानियों के युद्धबन्दी हो गए हैं। इसके बाद अब आप पर हमारा कोई अधिकार नहीं रहा है। आज मैं आप सबको अंग्रेजों की ओर से युद्धबन्दी के रूप में जापानियों को सौंप रहा हूँ। आज के बाद आप सब

लोगों को जापानियों की आज्ञानुसार चलना होगा।'' इस प्रकार की जापानी तथा भारतीय भाषा में घोषणा होने के उपरान्त ले० के० हंट को पुनः गाड़ी में बैठाकर कारागार ले-जाया गया।

तदनन्तर एक अनपेक्षित कार्यक्रम आरम्भ कर दिया गया। अग्रिम कार्य की रूपरेखा सर्वप्रथम सब युद्धबन्दियों के समक्ष सामुदायिक रूप से तैयार की गई थी और वह भी उसी दिन।

'हिकारी किकान' विभाग के प्रमुख मेजर फुजीवारा भाषण देने के लिए माइक के सम्मुख आकर खड़े हुए। उनके दुभाषिये ले० कुनि झगा उनके भाषण का अंग्रेजी रूपान्तर करने के लिए दूसरे माइक पर खड़े हो गए। मेजर फुजीवारा दो-चार वाक्य जापानी भाषा में बोलते और फिर ले० कुनि झगा उसका अंग्रेजी रूपान्तर सुनाते। इस प्रकार मेजर फुजीवारा का भाषण हुआ। साठ हजार का जनसमुदाय मेजर का भाषण सुनने के लिए शान्त-स्तब्ध बैठा हुआ था। एक तो सारा समुदाय सैनिकों का ही होने के कारण उनमें अनुशासन की भावना होती ही है, और दूसरे—यह अवसर भी बड़ा महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ कभी इस प्रकार का आयोजन न होने से किसी को गड़बड़ी का कोई अवसर भी नहीं था। इसके साथ ही एक प्रकार के भय की भावना भी थी कि अब तो हमारी सत्ता समाप्त हो गई है, अब हमको किसी अन्य के अधीन रहना होगा। इसलिए कुछ क्रुद्ध और आशंकित भी थे।

मेजर फुजीवारा के भाषण का सार था—''जिस दिन सिंगापुर का पतन हुआ, उसी दिन से अंग्रेजों का वर्चस्व यहाँ पर समाप्त हो गया और आप लोग अब हमारे युद्धबन्दी हैं। हम अपनी विजय को एशिया द्वीप के प्रत्येक देश की विजय मानते हैं। इतने दिन एशिया के लोग पाश्चात्यों की दासता में दुःख भोगते रहे थे। अब इससे आगे उनके सम्मुख स्वर्णिम भविष्य दिखाई देने लगा है। एक-दूसरे की परस्पर सहायता करके प्रत्येक को अपनी उन्नति कर लेनी चाहिए तथा सब ओर अपनी कार्यक्षमता और अपना सामर्थ्य बढ़ाना यह इस संगठन का मुख्य तत्त्व है। भारतीय भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए अंग्रेजों से काफी समय से लड़ रहे हैं। हम इस बात को देख रहे थे। पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध हमने जो युद्ध आरम्भ किया है उसका लाभ आप उठाएँ। आपसे जो आपकी स्वतन्त्रता छीन ली गई थी उसे वापस लेने का यही अवसर है—ऐसा यदि आपको लगता हो तो आप हमें बताइए, हम आप लोगों को युद्धबन्दी न मानते हुए अपना मित्र समझकर आपके साथ बराबरी का व्यवहार करेंगे।''

मेजर फुजीवारा के इस अभिप्राय के भाषण के उपरान्त कैप्टन मोहनसिंह

भाषण देने के लिए खड़े हुए। उन्होंने कहना आरम्भ किया—''मित्रो! हम इतने दिनों तक अंग्रेजों के दास थे। अब उनका साम्राज्य पूर्णतया नष्ट हो रहा है। इस अवसर का उचित उपयोग करके उन्हें भारत देश से भी बाहर निकालकर अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता पुन: प्राप्त करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। मैंने इतने दिनों तक जापानी लोगों का अपने साथ व्यवहार देखा है। सभी एशियाई लोगों के प्रति उनके मन में अपनत्व व प्रेम की भावना है। भारतवर्ष के लिए तो उनके मन में विशिष्ट प्रकार की आदर-भावना है। हमारी छीनी हुई स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त करने के प्रयास में उन्होंने हमें सब प्रकार के सहयोग और सहायता देने का वचन दिया है। इस प्रकार आज यह अवसर स्वयं ही हमारे पास चलकर आया है। ऐसा अवसर इससे पूर्व कभी भी सुलभ नहीं हुआ था। अत: हमें चाहिए कि हम उस अवसर का लाभ उठाएँ और इसे यों ही व्यर्थ न गँवा डालें।''

कैप्टन मोहनसिंह का भाषण समाप्त होने के उपरान्त ज्ञानी प्रीतमसिंह ने भी इस प्रकार के विचारों से ओत-प्रोत पंजाबी भाषा में अपना भाषण दिया। तदनन्तर 'वन्दे मातरम्' इत्यादि राष्ट्रगान आदि करके यह सार्वजनिक कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

कार्यक्रम सम्पन्न होने के उपरान्त माइक से सूचना दी गई, ''मेजर तथा उसके ऊपर के पदों पर नियुक्त सब अधिकारी कैप्टन मोहनसिंह एवं मेजर फुजीवारा से विचार-विमर्श करने के लिए ऊपर आवें।'' यह सूचना मिलते ही अब तक रात्रि की निस्तब्धतावाले वातावरण में सहसा हलचल, कानाफूसी और वार्तालाप भी आरम्भ हो गया। जितने भी मेजर तथा उससे ऊपर के अधिकारी थे वे गर्व से उस भवन की ओर बढ़ने लगे। इसके साथ ही कैप्टन के पद पर जो लोग अधिष्ठित थे उनके मन में किसी परीक्षा में एक या दो अंकों से अनुत्तीर्ण होनेवाले छात्रों में जिस प्रकार के द्वेष, खेद, आश्चर्य, विषमता और बदले इत्यादि भावनाओं का मिश्रित वातावरण पनपता है, उसी प्रकार कैप्टन के नीचे के ओहदे वालों के मन में 'हम केवल एक श्रेणी से कम हैं, फिर भी हमें क्यों नहीं बुलाया गया' इस प्रकार का दु:ख-मिश्रित आश्चर्य होने लगा। ऐसी ही स्थिति उन लोगों की भी थी जो स्नातक होने पर भी 'मेजर' की पदवी नहीं पा सके थे।

कुछ लोग विचार करते थे—जिन लोगों की राजनिष्ठा तथा गोरे अंग्रेजों का पक्ष लेने का बार-बार विश्वास होने पर ही उन्हें 'मेजर' के पद तक उन्नत कर दिया गया, उन्हें सब प्रकार से आगे बढ़ाया गया। जो लोग कल तक ब्रिटिश साम्राज्य के आधार-स्तम्भ थे, जिन पर अंग्रेजों का सम्पूर्ण विश्वास था और जिन्हें 'लेफ्ट-राइट' के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न आता था, आज उन्हें ही इस बात के

विचार-विनिमय में सम्मिलित किया जा रहा है कि भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का संचालन किस प्रकार किया जाय, इससे बढ़कर दुर्भाग्य की और कौन-सी बात हो सकती है?

एक ओर तो राजनीति व स्वतन्त्रता, राजनीतिक पटुता, देश की उन्नति के उपाय आदि विषयों का ज्ञान न होना, इसके साथ ही दूसरी बात यह भी थी कि जो आज तक देश के हित के शत्रु थे, आज सहसा ही उनमें ऐसा क्या और कैसा परिवर्तन आ गया कि वे देशभक्त बन गए?

जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विचार कर सकते हैं तथा जिनको अपने देश के आज तक के इतिहास का सम्यक् ज्ञान है, ऐसे विद्वान् लोगों को इस विचार-विनिमय में केवल इसलिए नहीं बुलाया गया कि अंग्रेजों ने उन्हें कोई बड़ा सरकारी ओहदा नहीं दिया था, यह बात भी अनेक लोगों को बुरी लगी थी।

ऐसा आभास होने लगा था कि इस विचार-विनिमय से तो ब्रिटिश राज्य-व्यवस्था की ही नींव इस स्वतन्त्रता के संग्राम में पड़ेगी। इस प्रकार का भय जो उस समय कुछ लोगों के मन में बैठ गया था, वह आगे चलकर वास्तव में सच भी सिद्ध हो गया।

नेताजी की दृष्टि में यह बात न आई हो, यह सम्भव नहीं था। किन्तु समय इतना कम था कि इस संगठन में आमूल-चूल परिवर्तन करके ब्रिटिश राज्य का ओहदा भुलाकर प्रत्येक की योग्यतानुसार उसको तद्नुरूप ओहदा देने का कार्य अपने हाथ में उन्होंने लिया ही नहीं। उसी संगठन से जितना भी कार्य सम्भव हो सके उतना कार्य करने का निश्चय किया, अर्थात् 17 फरवरी 1942 की इस घटना के उपरान्त लगभग डेढ़ वर्ष बाद नेताजी सुभाषचन्द्र बोस सिंगापुर में पहुँचे थे। इस डेढ़ वर्ष की अवधि में उन वरिष्ठ अधिकारियों के समूह ने सेना में अपनी स्थिति और भी सुदृढ़ कर ली थी।

जिन अधिकारियों को चर्चा के लिए बुलाया गया था, वे तो ऊपर चले गए और जो मैदान में रह गए थे वे खाने-पीने की तैयारी में लग गए। उस चर्चा के मध्य में कैप्टन मोहनसिंह और जापानी फुजीवारा ने अधिकारियों को बताया कि वे अपनी-अपनी टुकड़ी के अधिकारियों तथा सैनिकों को ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध तथा जापानियों के साथ सहयोग करने के लिए प्रेरित करें। हृदय-परिवर्तन का यह कार्य अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य था।

वरिष्ठ अधिकारियों के परस्पर विचार-विमर्श के उपरान्त मैदान में एकत्रित लोगों को प्रत्येक टुकड़ी के मुखिया ने अपनी-अपनी टुकड़ी के सम्मुख जाकर उधर लिखे अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति घृणा तथा जापानियों के साथ

सहयोग के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से उद्‌बोधन किया। उन्हें समझाया कि अब उन सबको अनुशासन में रहना सीखना चाहिए, क्योंकि अब हमारा संघर्ष भारत की स्वतन्त्रता का संघर्ष होगा। उनको बताया कि उस रात उनको उसी मैदान में सोना होगा तथा दूसरे दिन प्रात:काल विशिष्ट बन्दी छावनी में ले-जाया जाएगा। इस प्रकार की अनेक आवश्यक सूचनाएँ और निर्देश देने के उपरान्त सभा विसर्जित की गई।

जापानी अधिकारी और कैप्टन मोहनसिंह अपने-अपने बँगलों को लौट गए। चर्चा के लिए ऊपर गए अधिकारी अपने-अपने कैंप में वापस आए तथा अपने सैनिकों को ऊपर हुई बातचीत से अवगत कराया।

हम सबने वह रात उसी मैदान में व्यतीत की। जो कुछ भी खाद्य-सामग्री उपलब्ध थी, उससे पेट भरा तथा जहाँ कहीं जैसे-कैसे भी पानी मिला उससे तृष्णा शान्त की। पंक्तिबद्ध रूप में जो जहाँ पर बैठा था, वहीं पर थोड़ा-बहुत इधर-उधर सरककर सबने अपने-अपने सोने के लिए स्थान बनाया और जो कुछ जिस किसी के पास पहनने-ओढ़ने को था उसे पहन-ओढ़कर सो गए। दिनभर की धूप से तप्त होते रहे और रात्रि में खुले मैदान की ओस में ठंड से सिकुड़ते रहे।

मैं स्वयं उस समूह में उपस्थित था। दिनभर की धूप और रात की ओस के विपरीत प्रभाव के कारण मेरे शरीर का सन्तुलन बिगड़ गया। कान गरम हो गए और माथा दुखने लगा। मुझे जोर का जुकाम हो गया था। विगत एक सप्ताह से ठीक से भोजन तो मिला ही नहीं था। थोड़ा-बहुत जो इधर-उधर से मिला था उस पर ही सप्ताह-भर निर्वाह करते रहे थे।

दूसरे दिन प्रात:काल उठे। किसी प्रकार प्रातर्विधि से निवृत्त हुए कि आठ बज गए और उस भवन की दूसरी मंजिल से राष्ट्रगीत और भाषणों का कार्यक्रम आरम्भ हो गया।

प्रात:काल का वह राष्ट्रीय कार्यक्रम लगभग ग्यारह बजे समाप्त हुआ। कड़ी धूप पड़ रही थी। मैं अस्वस्थ और भूखा भी होने के कारण कुछ अधिक ही गर्मी अनुभव करने लगा था। फिर भी विगत दो दिनों से वर्षा नहीं हुई थी, यह हमारा भाग्य ही था। मलय में हमारे देश की भाँति गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि कोई क्रमिक ऋतुपरिवर्तन नहीं होता। वर्षभर एक ही ऋतु रहती है। यहाँ-वहाँ उगी हुई घास और रबड़ के घने जंगल हमेशा ही देखने को मिलते हैं। एक-दो दिन कड़ी धूप और उसके बाद वर्षा, इस प्रकार का वहाँ मौसम रहता है।

सभा-समाप्ति के अन्त में घोषणा की गई कि अमुक-अमुक टुकड़ी

अमुक-अमुक छावनी के लिए प्रस्थान करेगी। प्रत्येक छावनी उस स्थान से लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित थी। इतनी दूर की यात्रा पैदल ही करनी थी। इसके अतिरिक्त सिर पर अपना बिछौना और कन्धे पर किट बैग। तपती हुई धूप से बचने और भोजन की कोई व्यवस्था नहीं। बिल्कुल निर्जला एकादशी के समान ही उस दिन का वह मध्याह्न मुहूर्त था। हर टुकड़ी के लिए अनाज की बोरी, खाद्य-सामग्री और बीमार लोगों के लिए एक छोटी-बड़ी गाड़ी दी गई थी। परन्तु उस गाड़ी में स्थान प्राप्त करने के लिए बहुत ही हड़बड़ी मची थी। यद्यपि यह कह दिया गया था कि जो लोग स्वस्थ हैं, उनमें से कोई भी गाड़ी में नहीं बैठेगा, तो भी ड्राइवर तथा बड़े अधिकारियों के संकेत पर रहनेवाले लोगों के लिए एक प्रकार से उसमें स्थान आरक्षित था। अनेक लोग ऐसे भी थे जो उसमें स्थान पाने के लिए रोगी बनकर सिर पर पट्टी बाँधकर वहाँ पहुँच गए। उनमें से कोई लँगड़ा रहा था तो कोई कराह भी रहा था। परिणाम यह हुआ कि जो वास्तव में रोगी थे, उनको उतनी दूर तक पैदल ही जाना पड़ा था।

हमारी टुकड़ी जब चलने लगी तो उसके पीछे हम पाँच-छः लोग एक गुट बनाकर चलने लगे। मन में यह सोच लिया कि किसी प्रकार शाम तक भी पहुँच जाएँ तो बहुत है। जल्दी करने से क्या लाभ! यह सोचकर हम अपनी गति से चल रहे थे। सिंगापुर नगर से बाहर किन्तु सिंगापुर बन्दरगाह पर ही जाने के कारण हम सैनिकों की लम्बी-लम्बी कतारों के अतिरिक्त उस मार्ग पर अन्य कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई ही नहीं दिया जो पैदल चल रहा हो। ऊपर से धूप भी अच्छी-खासी पड़ रही थी।

हम लोग दो-तीन मील पैदल चले होंगे कि सामने मार्ग में ही किसी ने दो-तीन बक्से तोड़े थे और उसमें रखी वस्तुओं के लिए परस्पर बड़ी छीना-झपटी हो रही थी। लोगों की भीड़ एकत्रित हो गई थी। हमारी टुकड़ियाँ पंक्तिबद्ध होकर लय-ताल के साथ आगे बढ़ रही थीं। अधिकारियों का निर्देश था कि मार्ग में कोई भी सैनिक अपनी पंक्ति से बाहर निकलकर इधर-उधर न जाय। तदपि, चाहे कोई स्वस्थ हो अथवा अस्वस्थ, जब ऐसा अवसर मिल जाता था तो हर कोई लोभी सैनिक पानी पीने अथवा लघुशंका के बहाने उस भीड़ का अंग बन जाया करता था।

हम लोग जब वहाँ पहुँचे तो हमने देखा कि उस बक्से में मंगलौरी छत की ईंटों के आकार के चाकलेट के चौकोर टुकड़े हैं। वह चाकलेट ब्रिटिश सैनिकों को दिया जाता था। छीना-झपटी में मैंने भी हाथ डाला तो एक टुकड़ा मेरे हाथ में भी आ ही गया। मार्ग में वह टुकड़ा मेरे बहुत काम आया। नारियल के छोटे-

छोटे पेड़ दिखाई पड़ने पर अथवा कहीं किसी झोंपड़ी में कोई गाँववाला नारियल बेच रहा होता तो हम लोग उसे खरीदकर उसका पानी पी लेते थे।

मार्ग में चलते हुए बीच-बीच में हर टुकड़ी की कार एवं लारियाँ हमारे बराबर से निकलती रहती थीं। चलते-चलते जहाँ कहीं दो मार्ग दिखाई देते, तब छावनी की ओर जानेवाली दूसरे बन्दी टुकड़ियों के सैनिक इन लम्बी-लम्बी कतारों से बाहर निकलकर दूसरे मार्ग पर चल पड़ते थे। पाँच-छ: मील पैदल चलने के उपरान्त हमारे पीछे से एक लारी आई और आगे निकल गई। उस लारी के चालक ने पीछे मुड़कर देखा। उस समय हममें से एक ने अपना हाथ ऊपर उठाकर हँसकर उसे पुकारा। वह उसकी पहचान का निकला। परिणामस्वरूप उसको उसमें स्थान मिल गया और उसके साथ ही हम दो-तीन लोगों ने भी पीछे से उसमें छलाँग लगा दी। हमारी ही भाँति आनेवाले अन्य अनेक सैनिकों ने आवाज लगाई, "ठहरो, ठहरो!" किन्तु चालक ने सुनी-अनसुनी कर दी और आगे चलता बना।

दस-पन्द्रह मिनट बाद ही हम नीसून कैम्प में पहुँच गए। वहाँ पर सीमेंट-कंकरीट की बड़ी-बड़ी तीन-मंजिली इमारतें बनी हुई थीं। चारों ओर विशाल भवन और बीचों-बीच बहुत बड़ा आँगन। इस भवन के हरेक चौक के 'मेरठ बैरेक्स', 'पंजाब बैरेक्स' जैसे नाम ब्रिटिश राज्य के समय से ही रखे हुए थे। यहाँ पर पहले 'हांगकांग और सिंगापुर आर्टिलरी' तोपखाने के लोग रहते थे। अनेक अधिकारियों के लिए आस-पास की पहाड़ियों पर बीच-बीच में ऐसे ही सीमेंट-कंकरीट के पक्के बँगले बनाए गए थे। एक ऊँची पहाड़ी पर इसी प्रकार की पानी की बड़ी-बड़ी गोल टंकियाँ बनाई गई थीं। उनमें से ही साफ किया हुआ पानी उस सारे परिसर में पहुँचाया जाता था। किन्तु युद्ध के दिनों वह सब नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।

भवन की हर मंजिल पर 40-60 फुट लम्बे तथा 20-25 फुट चौड़े दालान थे तथा उनके पीछे की ओर उसी मंजिल पर दो-दो स्नानागार और दो-दो शौचालय तथा एक रसोईघर बना हुआ था। किन्तु पानी के अभाव में इनमें से किसी का भी उपयोग सम्भव नहीं था। इन बड़े-बड़े दालानों में सब सैनिकों ने एक-दूसरे के साथ सटकर अपने बिछौने बिछा लिये।

कुछ छोटे-बड़े अधिकारी समीप के छोटे-छोटे कमरों में एक-एक, दो-दो के गुटों में रहने लगे। जो बड़े अधिकारी थे वे बँगलों में रहने चले गए।

हमारी व्यवस्था यद्यपि जापानियों के ही हाथ में थी, तदपि, वह थी अंग्रेजों के शासन के समान ही। बड़े-बड़े अधिकारियों को उनके अपने-अपने ओहदों

के अनुसार उन्हीं की टुकड़ियों के एक या दो सिपाही उनकी सहायता के लिए दिए गए थे। उनके जूते साफ करना, उन पर पॉलिश करना, कपड़े धोने के लिए देना और लाना, पोशाक तैयार करके उनको पहनाना, बिस्तर लगाना, सन्देश पहुँचाना आदि-आदि कार्य उन सैनिकों द्वारा करवाए जाते थे। उन्हें फिर अन्य सैनिकों की भाँति कसरत आदि कार्यक्रमों में भाग लेना आवश्यक नहीं होता था। बहुत-से अंग्रेज अधिकारियों के जाने के कारण, पहले से ही भारतीय वरिष्ठ अधिकारी और अधिक ऊँचे पदों पर पहुँचे तथा अन्य छोटे-बड़े अधिकारी भी उस-उस अनुपात से ऊँचे पदों पर पहुँच गए थे। इसलिए उन्होंने भी अपनी-अपनी टुकड़ी के एक-एक सिपाही को अपनी सेवा के लिए ले लिया था। सिपाही भी इससे प्रसन्न रहता था। इस प्रकार वह दिनभर के सैनिक कार्यक्रमों के शारीरिक कष्ट से बच जाता था और इसके साथ ही साहब की मर्जी का सिपाही होने से उसका रोब भी बढ़ जाता था।

लकड़ियाँ तोड़कर लाना, खाना बनाना, घास काटना, पानी लाना, शौच-कूप खोदना आदि-आदि सारे कार्य अच्छे स्वास्थ्यवाले सैनिकों को करने पड़ते थे। इस प्रकार के कार्य से बचने के लिए एक-दो दिन बाद ही कितने ही लोग किसी न किसी बीमारी का बहाना बनाकर सेना के नियमों के अनुसार प्रतिदिन प्रात:काल बीमारों की सूची में अपना नाम लिखा लेते थे।

कुछ मिलाकर चार या पाँच बन्दी छावनियों में से साठ हजार युद्धबन्दी प्रत्येक छावनी में दस-दस, बारह-बारह हजार करके बाँट दिए गए थे। उन बन्दी छावनियों के नाम थे—सेलेंतार छावनी, क्राजी छावनी, विद्याधारी छावनी, बुलन छावनी आदि। इनमें नीसून छावनी का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु अन्य छावनियों में इस प्रकार के विशाल और सीमेंट के भवन न होकर विद्याधारी छावनी के समान लकड़ी के कमरे थे। उन कमरों पर झोंपड़ी के समान पत्तों का छप्पर होता था। प्रत्येक छावनी रबड़ के जंगलों के मध्य में होती थी। प्रत्येक छावनी का परिसर लगभग पन्द्रह-बीस एकड़ में फैला हुआ होता था। यह परिसर चारों ओर से कँटीली तारों से सुरक्षित होता था तथा प्रत्येक फाटक पर प्रथम कुछ मास के लिए पाँच-छ: सशस्त्र जापानी सिपाही पहरे पर रहते थे, किन्तु बाद में उन युद्धबन्दियों में से ही पाँच-पाँच या छ:-छ: सैनिक पहरे पर तैनात कर दिए जाने लगे थे। उस छावनी का प्रमुख भी भारतीय युद्धबन्दियों में से सबसे पड़े पद का अधिकारी ही हुआ करता था। कभी किन्हीं एक या दो अधिकारियों को शहर जाकर अपने लिए आवश्यक सामग्री खरीदकर लाने के लिए अनुमति हुआ करती थी। यह सामग्री वह अपने पैसों से ही खरीदता था। सामान्य सैनिक अथवा निम्न

श्रेणी के अधिकारियों को कभी-कभी बीस-पच्चीस लोगों का समूह बनाकर, शहर जाकर ऐसी ही आवश्यक वस्तुओं की खरीदारी करने के लिए जाने की अनुमति दी जाती थी। जो इस प्रकार नहीं जा पाते थे वे अपने मित्रों के माध्यम से मँगवा लिया करते थे। छावनी के भीतर भी एक छोटी-सी दुकान होती थी। छावनी की कँटीले तारों की मेड़ के बाहर की ओर गाँव के फेरीवाले आकर बैठ जाते थे। तेल, साबुन, सिगरेट, तमाखू, केले, अनन्नास, औटाए हुए दूध के डिब्बे आदि वस्तुएँ अधिक बिकती थीं। वह दृश्य किसी गाँव के छोटे बाजार के समान ही हो जाया करता था।

सिंगापुर नगर में कई स्थानों पर कैप्टन मोहनसिंह के पुराने साथियों में से कुछ लोग 'एम० पी०' अर्थात् मिलिटरी पुलिस की कपड़े की पट्टी अपने कन्धों पर लगाकर खड़े हुए दिखाई पड़ते थे। खाकी वरदी पहनकर जो सैनिक नगर में भ्रमण करते दिखाई दे जाते थे उनसे वे पूछते, 'परवाना है क्या?' यदि परवाना हो तब तो ठीक था, किन्तु न होने पर वे उन्हें तारों की मेड़वाली खास कैदियों की छावनी में ले जाते थे तथा वहाँ से उन्हें कठोर कारागार अथवा कठोर श्रम का कार्य दे देते थे। किसी-किसी के साथ यह भी होता था कि उसका नाम, नम्बर और ओहदा आदि पूछकर उसके साथ एक सैनिक भेजकर उसे उसकी छावनी के मुख्य अधिकारी के पास भेज देते थे। वह अधिकारी पहले उसे बुरी तरह फटकारता था, फिर उसको किसी प्रकार का दण्ड देता था।

यदि उन्हें यह सन्देह हो जाय कि अमुक व्यक्ति सैनिक होने पर भी नागरिक परिधान पहनकर घूम रहा है, तो वे उससे भी परवाना दिखाने के लिए कहते थे। जापानियों ने इस प्रकार के परवाने नागरिकों को देने की व्यवस्था की हुई थी। यदि कोई युद्धबन्दी किसी कार्य से गाँव में आता था, तब भी उसके पास बन्दी छावनी के अधिकारी का परवाना अथवा प्रमाणपत्र होना परमावश्यक होता था। सामान्य नागरिकों के पास उनका अपना परवाना होता था। जिसके पास इस प्रकार का कोई भी प्रमाण-पत्र नहीं होता था, ऐसे व्यक्ति को संदिग्ध व्यक्ति मानकर पकड़ लिया जाता था।

प्रत्येक छावनी में एक-एक अस्पताल था। अस्पताल क्या, वह मानो बीमार व्यक्तियों की एक झोंपड़ी थी। न तो उसमें किसी के लेटने के लिए कोई पलँग था और न आवश्यक उपकरण ही थे। नर्स भी किसी में नहीं रखी गई थी। आम कमरों से दो कमरे बीमार व्यक्तियों के लिए रखे जाते थे, बस इतना ही। हरेक छावनी के व्याधिग्रस्त लोग और सब डॉक्टर प्रातःकाल आठ बजे वहाँ पर एकत्रित होते थे। डॉक्टर प्रत्येक रोगी का परीक्षण करते तथा ज्वर या अन्यान्य

था। छावनी के प्रमुख गोदाम से अपनी टुकड़ी के सैनिकों की गिनती के हिसाब से चावल, आटा, घी, गुड़, चीनी आदि सप्ताह का राशन तुलवा लाता था और प्रतिदिन का अनाज, खाना बनाने के लिए दोनों बार निकालकर देता था। खाना अच्छा और सफाई से बनता है कि नहीं, इसकी देखभाल करना भी उस अधिकारी का काम होता था।

छावनी की साफ-सफाई के लिए हर टुकड़ी से सामान्यत: एक सिपाही और एक भंगी रहता था। वे उस छावनी की साफ-सफाई का काम करते थे। हर डॉक्टर बारी-बारी से हर दिन अस्पताल का प्रमुख डॉक्टर होने से रातभर काम पर रहता था। किसी को यदि कभी देर रात किसी प्रकार का कष्ट होता तो उस दिन जिस डॉक्टर की बारी होती थी, उसे बुलाने के लिए नर्सिंगवाला सिपाही जाता था। परन्तु उचित औषधियों के अभाव में डॉक्टर भी क्या करते? औषधि की स्थिति बड़ी विचित्र थी। जुलाब के लिए 'मैग्नेशिया' थी और जब सैलाइन देना होता था तो दूधवाले के समान उसमें बहुत-सा पानी मिलाकर कइयों को दे दिया जाता था। जब कैल्शियम देना होता था तो अण्डों के छिलके, हड्डियों आदि का चूरा करके उसकी पुड़िया कैल्शियम के रूप में दे देते थे। शल्य-चिकित्सा के लिए कुछ टूटे-फूटे उपकरण इधर-उधर से एकत्रित करके किसी एक छावनी में रखे होते थे। कभी किसी की शल्य-क्रिया करनी पड़ती थी तो रोगी को उस विशिष्ट छावनी में स्ट्रेचर पर डालकर ले-जाया जाता था।

1942 के मई और जून मास में 'नीसून' एवं अन्य बन्दी छावनियों में पेचिश की बीमारी फैल गई। ढही हुई दीवारोंवाले गोदामों के चना-मिश्रित चावल, दूध तथा दूध से बने अन्य पदार्थों के अभाव से सारे सैनिकों के स्वास्थ्य में आई हुई एक प्रकार की दुर्बलता, औषधियों का अभाव, छावनी के आस-पास स्थित गन्दे शौचालय, अशुद्ध जल आदि-आदि इस रोग के प्रसार के कारण बन जाते थे। बार-बार शौचालय जाना पड़ता था और शौच में कफ तथा रक्त निकलना आरम्भ हो गया था। पौष्टिक आहार न होने से दो या तीन दिन में ही सैनिक बहुत दुर्बल हो जाते थे। ऐसी स्थिति में वे बिस्तर पर ही सब-कुछ करने के लिए विवश थे। जो सैनिक इस अवस्था में शौचालय तक जाते थे, वे भी बार-बार आने-जाने की शक्ति न होने के कारण वहीं गिरते, मूर्छित हो जाते और कुछ तो मर भी जाते थे।

इसके कारण फैलनेवाली गन्दगी, परस्पर सैनिकों में प्रेम का अभाव, संसर्ग होने का भय, दुर्बलता और रोगजन्य असहाय अवस्था में कोई भी किसी की सहायता नहीं करता था। ऐसे रोगियों के विषय में उस समय के अधिकारी मजाक

में कहते थे, 'लड़ने के लिए आए और दस्तों से मर गए!' ऐसी थी उन लोगों की स्थिति। सौलह सौ से लेकर अठारह सौ तक सैनिक इस रोग के कारण अपने जीवन से हाथ धो बैठे थे। ऐसे समय में ऐलोपैथी का कोई भी उपयोग नहीं हो सका था। मैगास्टिन नामक एक बैंगन के रंग का स्वादिष्ट फल वहाँ मिलता था। आकार में वह नारियल के गोले के बराबर होता था। उसके छिलके सुखाकर तथा उनको उबालकर उसका पानी औषधि के रूप में दिन में दो-तीन बार थोड़ा-थोड़ा लेने पर यह रोग ठीक हो जाता है।

पहले मेरी किसी महाराष्ट्रियन से जान-पहचान नहीं थी। नीसून छावनी में 18 फरवरी 1942 को पहुँचने के उपरान्त दो-चार दिन बाद श्री गोरे नामक एक सज्जन मेरा पता पूछते हुए आ पहुँचे। उस समय के कष्टकर दिनों में किसी एक टुकड़ी में, एक शिक्षित महाराष्ट्रियन व्यक्ति है, ऐसा विदित होने पर जल्दी से वह कौन है, कहाँ का है, आदि जान लेने की इच्छा होती है। जैसे ही जिस किसी को ऐसी बात मालूम पड़ जाती थी, वह अपने-आप ही अपने उस प्रदेशी व्यक्ति से मिलने के लिए आ जाता था।

इस प्रकार श्रीमान गोरे महोदय और मेरी प्रथम भेंट हुई। उस समय का वह परिचय आगे बढ़कर और अधिक गहन होता गया। आगे चलकर इन्हीं गोरे महाशय के कारण नीसून छावनी के अन्य महाराष्ट्रियन, वर्धा के डॉ० शंकरराव नेने, डॉ० श्रीश कृष्ण जोशी आदि से भी परिचय हुआ। डॉक्टर जोशी और मैं, हम दोनों ने मिलकर आगे के दो-चार मास में बन्दी छावनी में रहकर कई बातों में परस्पर सहायता की। वह सहयोग मेरे सैगाँव चले जाने के कारण सालभर तक स्थगित भी रहा। डॉ० नेने तीन वर्षों बाद मुझे फिर मिले। परन्तु रंगून के अंग्रेजों के अधिकार में चले जाने से पहले 1945 के मार्च-अप्रैल मास में जब मैं वहाँ था, तब उनका और मेरा परस्पर स्नेह बहुत बढ़ा।

फरवरी मास की अठाइस तारीख को हमारी टुकड़ी को सेलेतार छावनी में जाने का आदेश मिला। आदेश मिलने पर सामान ठीक से बाँधकर उसे मोटर-लारी में रखकर हम ढाई-तीन सौ लोग, पंक्तिबद्ध होकर पैदल चलने लगे। उस छावनी तक पहुँचने के लिए हमें लगभग साढ़े तीन घंटे लगे। इस अवधि में दो बार वर्षा होने के कारण हम बुरी तरह भीग भी गए थे। हम बहुत थक गए थे। क्योंकि पिछले पन्द्रह-बीस दिन मैदे की एक रोटी और चावल, दाल या सब्जी—यही हमारा भोजन था। उसमें दूध, घी, मक्खन, आटा आदि पौष्टिक सामग्री का समावेश बिल्कुल नहीं हुआ था। जब युद्ध समाप्त हुआ उस समय मेरे पास डेढ़-दो सौ डालर बचे हुए थे। मलय सिंगापुर के डालर का उस समय का मूल्य भारत

के पौने दो रुपयों के बराबर था। शुष्क अन्न, शारीरिक परिश्रम, मानसिक तनाव के कारण होनेवाले दुष्परिणाम टालने के लिए मैं उस समय औटाए हुए दूध के डिब्बे करीब आठ आने के भाव से खरीदकर उसका रबड़ी के समान मीठा औटाया हुआ दूध खाने के साथ लेकर दो-तीन दिनों तक एक डिब्बा चलाया करता था। परन्तु मेरी यह आदत देखकर मेरे थैले में रखे हुए मेरे दूध के डिब्बे अब चुराए जाने लगे थे। परिणामस्वरूप उन डिब्बों को खरीदना मुझे शीघ्र ही बन्द कर देना पड़ा। तदपि यह चोरी किस स्तर तक जाएगी, इस विचार से मैं चिन्तित रहने लगा। मैं सोचता—कैसी खराब सोहबत और हीन समाज में मुझे दिन बिताने पड़ रहे हैं! मुझे यह विचार सताता था। श्री गोरे की टुकड़ी के 'पोस्ट विभाग' के लोगों ने सिंगापुर में रहते समय किसी गोदाम में से दस-बारह छोटी तश्तरियाँ ले रखी थीं। उनमें से एक मैं ले आया था। उसमें ही मैं खाना खाता था। अगले तीन-चार महीनों तक मैंने उसमें ही खाना खाया था।

नीसून छावनी से सेलेतार छावनी में आने पर थोड़ा-बहुत बदलाव हुआ, अत: थोड़ा-सा अच्छा लगने लगा था। परन्तु नीसून छावनी के समान यहाँ पक्के भवन तथा साफ-सफाई की व्यवस्था नहीं थी। घास-फूस और पत्तों से बने छप्परों में हमारा निवास था। इस प्रकार के लकड़ी के कमरों में हमें तीन-चार मास गुजारने पड़े। सेलेतार छावनी में पहुँचने पर हमारे कमरे कौन-से हैं, हमारे खाने-पीने की क्या व्यवस्था है, इसका कुछ भी पता नहीं चल रहा था। तब तक लारी में रखा हुआ सामान भी वहाँ नहीं पहुँचा था। पैदल चलने के कारण हम लोग अधिक थकान अनुभव कर रहे थे।

अन्धकार गहराने लगा था। वर्षा से भीगे हुए वस्त्र शरीर पर थे; परिणामस्वरूप सारा शरीर ठंडा हो गया था। रात होने के कारण ठंड और भी बढ़ गई थी। इतनी ठंड लगने लगी थी कि हम काँपने लग गए। उस छावनी के रसोइये अपनी-अपनी झोंपड़ियों में खाना बना रहे थे। हममें से कितने ही लोग वहाँ जाकर उनसे खाना माँगने लगे। भूख के कारण पेट में चूहे कूदने की स्थिति होने पर भी मुझसे खाना नहीं माँगा गया। मैंने भूखे पेट ही सो जाने का निश्चय किया। वे लोग भी इतने लोगों को एकदम खाना कहाँ से देते? फिर सिख रसोइया सिखों को, मुसलमान रसोइया मुसलमानों को खाना बाँट रहा था, औरों को नहीं। ऐसा सब चल रहा था।

ऐसी ही कठिन परिस्थिति में मनुष्य के गुणों की पहचान होती है। अन्य समय में एक-दूसरे से हँसने-हँसानेवाले मानसिंह और प्रतापसिंह अच्छे लगते हैं। परन्तु कठिन समय आने पर ही पता चलता है कि राजा मानसिंह कौन और राणा

प्रतापसिंह कौन? स्वार्थ, धर्मान्धता, चोरी, खून, मारधाड़ करने की प्रवृत्ति, झूठ बोलने की आदत, कामचोर होना, मन की दुर्बलता, भीरुता आदि अनेक लोगों के स्वाभाविक दुर्गुण विपत्ति में फोड़े की तरह एकदम उठकर स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। इसके विपरीत कठिन समय में ही, रात के अन्धकार में जिस प्रकार रातरानी फूल उठती है, वैसे ही कुछ लोगों के अच्छे गुण प्रकट होने लगते हैं।

ऐसी रात्रि में, उस कमरे के लकड़ी के चबूतरे पर मैं पुराने अंग्रेजी अखबार के टुकड़ों को जोड़कर कागज की चादर बिछाकर उस पर सो गया था। तकिया नहीं, बिस्तर नहीं, ओढ़ने के लिए कुछ नहीं। इस तरह से सोने का मेरा यह पहला अनुभव था। वह रात किसी प्रकार ठण्ड से काँपते हुए बिता दी। दूसरे दिन मोटर-गाड़ियों के आ जाने के उपरान्त हमारी दिनचर्या आरम्भ हुई।

अध्याय आठ

कैप्टन मोहनसिंह का कार्य

सिंगापुर की विजय के उपरान्त जापानियों ने कैप्टन मोहनसिंह को समस्त भारतीय सैनिकों का 'जनरल ऑफीसर कमांडिंग' बना दिया था। तदनन्तर कैप्टन मोहनसिंह को जनरल मोहनसिंह ही पुकारा जाने लगा था। अंग्रेजों के राज्यकाल में जो कैप्टन से ऊपर के पद पर थे, उन्हें इस प्रोन्नति से ईर्ष्या होने लगी थी, क्योंकि अब उन्हें मोहनसिंह को अभिवादन करना पड़ता था। भारतीय सेना के अधिकारियों की यह सुपुष्ट धारणा थी कि अंग्रेजों ने जो ओहदे प्रदान कर दिए हैं वे ही वास्तव में उचित मूल्यांकन थे।

उदाहरणार्थ यदि कोई उच्च शिक्षित व्यक्ति किसी कारण से निम्न ओहदे पर है और उससे कम शिक्षित व्यक्ति उच्च ओहदे पर है तो इसका अभिप्राय यही है कि उस उच्च पद पर आसीन व्यक्ति की बुद्धिमत्ता और ज्ञान का भण्डार निश्चित ही उस सुशिक्षित निम्न पद के व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक ही होना चाहिए। ऐसी ही दूषित मनोवृत्ति के कारण वे लोग मोहनसिंह के साथ व्यवहार करते थे।

दूसरी एक अन्य बात यह होती थी कि आते-जाते सैनिकों से सलाम लेने के अभ्यस्त होने के कारण ये अधिकारी इतने घमण्डी बन गए थे और उन्हें चाटुकारिता की ऐसी आदत पड़ गई थी कि नित्य के सामान्य नागरिक जीवन में भी अपने से कम पैसा अर्जित करनेवाले व्यक्ति भी उन्हें 'सलाम' क्यों न करें? इसका उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था और मन ही मन उन्हें क्रोध भी आने लगता था।

सिंगापुर-स्थित 'माउँट प्लेज़ैंट' हरी-हरी पहाड़ियों से युक्त बड़ा सुन्दर स्थान है। इस भाग की पहाड़ियों पर एक-एक बँगला, उसका आँगन, बाग तथा उसमें हरा-भरा एक टेनिस कोर्ट—इस प्रकार की उसकी रचना है। इस भाग में अंग्रेजों के बड़े ऊँचे ओहदों के अधिकारी तथा अन्य अमीर लोग रहते थे। किन्तु

ज्यों ही जापानियों ने सिंगापुर पर अधिकार किया, उन्होंने ये बँगले खाली करा लिये। इसमें एक बँगला जनरल मोहनसिंह को रहने के लिए मिला। उनके समीप के एक-दो अन्य बँगलों में उनके अन्य सहयोगी अधिकारी एवं लिपिक, अंगरक्षक आदि-आदि लोग आ गए थे। उनके अपने बँगले पर उनके डॉक्टर, एक तेलुगु गृहस्थ, मेजर राजू तथा दो-तीन कैप्टन ओहदे के अधिकारी रहते थे।

जनरल मोहनसिंह सिख समुदाय के थे, परिणामस्वरूप उनके आस-पास अनेक सिख सहयोगी एकत्रित हो गए थे। यद्यपि उसमें बुराई कुछ भी नहीं थी, क्योंकि कोई भी व्यक्ति जब किसी अधिकार-पद पर पहुँचता है, तब वह अन्य विभिन्न पदों पर अपने विश्वासपात्र लोगों की ही नियुक्ति करता है। यह नितान्त स्वाभाविक है। एक भाषाभाषी किन्हीं दो व्यक्तियों की परस्पर आत्मीयता स्वाभाविक है। किसी अमुक व्यक्ति की और अपनी मातृभाषा एक ही है, इस बात का ज्ञान होने के उपरान्त उसके विषय में हमें उससे मिलने से पूर्व ही अनेक बातों की जानकारी हो जाती है। यह स्वाभाविक है, अतः जनरल मोहनसिंह की सिखों के प्रति अनुकूलता को दोष नहीं दिया जा सकता।

कुछ लोग सेना से भागकर नगर में जाकर रहने लगे थे। वहाँ पर मद्य के नशे में झगड़ा करनेवाले और रिश्वत लेनेवाले सैनिकों को पकड़कर उनको उचित दण्ड देने के लिए जनरल मोहनसिंह ने एक सिधारसिंह को सैनिक पुलिस का मुख्य अधिकारी बनाया था। यह सेना-पुलिस सिंगापुर नगर के अनेक स्थानों पर नियुक्त की गई थी। जनरल मोहनसिंह के बँगले पर शस्त्रधारी भारतीय सैनिकों का पहरा रहता था। उनकी सेवा के लिए नियुक्त एक-दो अधिकारी उनके ए०डी०सी० पद पर थे। इनके अतिरिक्त कुछ लिपिक और कुछ आशुलिपिक तथा टाईपिस्ट भी थे। उनके समीप के एक अन्य बँगले पर स्वतन्त्रता-आन्दोलन का मुख्यालय था। इसमें ही पत्र-व्यवहार तथा अन्य बातों का लेखा-जोखा होता था।

सारे युद्धबन्दियों को विभिन्न छावनियों में रखा गया था। समय-समय पर मोहनसिंह के सहयोगी उन छावनियों के अधिकारियों से मिलकर जनरल मोहनसिंह के भाषण का कार्यक्रम तैयार कर लेते थे और उसकी यथासमय घोषणा भी कर दी जाती थी। तदुपरान्त निर्धारित दिन तथा समय पर जनरल मोहनसिंह वहाँ पर भाषण देने के लिए जाते थे।

जनरल मोहनसिंह के भाषणों का मुख्य विषय भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के लिए अधिकाधिक लोगों को तैयार करने की प्रेरणा देनेवाला ही होता था। इन स्थानों पर वे एक-डेढ़ घंटा भाषण कर सारी स्थिति को भली प्रकार समझाने का

यत्न करते थे। सभी स्वस्थ युद्धबन्दियों को उस समय उस स्थान पर उपस्थित रहना अनिवार्य होता था। भाषणोपरान्त सभी सैनिकों को अपने मन की शंका प्रस्तुत कर उसका समाधान प्राप्त करने की सुविधा थी। भाषणकर्त्ता अधिकारी उनके प्रश्नों का अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर देता था।

प्रत्येक छावनी में प्रत्येक सात-आठ दिन के बाद न जाने ऐसे कितने ही भाषण दिए गए। प्रत्येक अवसर पर सैनिक स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने की अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए अपने नाम लिखवाते थे। इस प्रकार की सूचियाँ उनके अधिकारियों के माध्यम से वहाँ के सेना मुख्यालय को भेज दी जाती थीं।

इस प्रकार कार्य करते हुए लगभग चार मास बीत गए थे किन्तु तब तक भी जो लोग स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेना चाहते हैं उन्हें उन बन्दी शिविरों से बाहर निकालकर यथोचित स्थान पर ले-जाने तथा जो लोग अपनी ब्रिटिश भक्ति को अभी भी नहीं छोड़ पाए थे, उनको बन्दी शिविर में ही रखे जाने की सीमा-रेखा का निर्धारण नहीं हो पा रहा था।

स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने के लिए उत्सुक व्यक्ति हर बार ही अपने नाम दे दिया करते थे, किन्तु आगे चलकर उन नामों पर क्या विचार हो रहा है, इसका कुछ आभास कहीं से भी नहीं मिल पा रहा था। सैनिक सोचते कि एक बार फिर किसी उच्चाधिकारी का भाषण और उसके पश्चात् फिर नामों की सूची की माँग, यह सब क्या और क्यों किया जा रहा है? कोई इस पहेली को सुलझाने में समर्थ नहीं था कि आखिर गाड़ी कहाँ पर जाकर अटक जाती है? इसके जानने का उनके पास कोई साधन नहीं था। कहने का अभिप्राय यह है कि काम अत्यन्त मन्द गति से चल रहा था।

इसके परिणामस्वरूप कुछ दिनों बाद युद्धबन्दियों की प्रत्येक छावनी में दो गुट बनने आरम्भ हो गए। एक गुट उनका था जिन्होंने स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने के लिए अपने नाम दे दिए थे; और दूसरा गुट उनका बनता जा रहा था जिन्होंने उस आन्दोलन में भाग लेने के लिए अपने नाम नहीं दिए थे। दोनों गुटों में परस्पर शत्रुता के भाव भी प्रकट होने लगे थे। जिन लोगों ने नाम नहीं दिए थे वे लोग, जिन लोगों ने नाम दिए थे, रात को उनके वस्त्र चुराने लगे थे। बात-बात पर उनको मारने भी लगते थे, उनको चिढ़ाते थे और उनका बहिष्कार करने लग गए थे।

इसके विपरीत जिन लोगों ने स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने के लिए अपने नाम दिए थे, वे सोचते थे कि अब उनको बन्दी न समझा जाए और उनको इन बन्दियों से कहीं अलग ले-जाकर रखा जाए। कभी किन्हीं एक या दो

व्यक्तियों को बुलाया जाता था। वह व्यक्ति अपना बोरिया-बिस्तरा बाँधकर सेना-मुख्यालय में चला जाता था। उसे वहाँ पर किसी काम पर लगा दिया जाता था।

महीने-पन्द्रह दिन में स्वयं जनरल मोहनसिंह का भी भाषण होता था। यह भाषण समस्त युद्धबन्दियों को एकत्रित कर उनके समक्ष होता था; किसी टुकड़ी-विशेष में नहीं। अधिकांशतया यह भाषण 'विद्याधारी छावनी' प्रांगण में होता था। ऐसे भाषण के दिन हर छावनी के दस-बारह हजार युद्धबन्दियों को सुबह उठकर भाषण के स्थान की ओर पंक्तिबद्ध, अनुशासन में प्रयाण करने का निर्देश होता था। उस दिन प्रातःकाल ही खाना बनाकर प्रत्येक सिपाही को दे दिया जाता था, जिसे वह अपने साथ ले जाता था, क्योंकि दस-बारह मील तक जाकर दो-तीन घंटे भाषण आदि सुनकर फिर से उतना ही चलकर वापस आना पड़ता था।

इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि जो लोग अस्वस्थ हैं, उनका वहाँ जाना अनिवार्य नहीं है। किन्तु न जाने के लिए बीमार होने का बहाना बनानेवालों पर विशेष दृष्टि रखी जाती थी।

17 फरवरी 1942 के दिन 'फेरर पार्क' की सभा के उपरान्त सारे युद्धबन्दियों ने एकत्रित होकर स्वतन्त्रता-संग्राम में सहभागी होने की अपनी पूरी तैयारी है, इस प्रकार की घोषणा अनेक बार करके दिखाई थी। उस दिन के बाद भी उनको बन्दी छावनियों में रखकर यदि स्वतन्त्र देश के नागरिकों के समान उन्हें समझा जाता और उन्हें अलग रखा जाता तो आगे चलकर जो अव्यवस्था हुई वह कदापि न होती। इन भाषणों के अवसरों पर वे ही बातें बार-बार दोहराई जाती थीं और वे ही कार्यक्रम होते थे; उनमें किसी में कभी किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं देखा गया। परिणामस्वरूप अनेक लोगों के मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ उभरने लगी थीं। इतना ही नहीं, ऐसे में अनेक देशद्रोही लोगों को अपने अनुकूल प्रचार करने का अवसर मिल जाया करता था।

सिंगापुर के पतन के उपरान्त मानो कुछ भी न हुआ हो, ऐसा जानकर यदि पूरे साठ हजार भारतीय सैनिकों को युद्धबन्दी न मानकर स्वतन्त्र सैनिकों में गणना कर दी जाती और उनका एक नया संगठन बना दिया होता तो फिर किसी को किसी प्रकार की शिकायत न रहती। उस अवस्था में सब यही समझते कि यही हमारी नियति है और उन्हें इससे कोई गिला न होकर उसको स्वीकार कर लिया होता।

किन्तु अब आए दिन, बार-बार यही कहा जाता कि अभी आपको इसमें 'हाँ' या 'ना' कहने की स्वतन्त्रता है, आप भली प्रकार सोच-समझकर निर्णय कीजिए। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की शंकाएँ उनके मन में उठने लगी थीं।

इस परिस्थिति पर यदि विचार करने लगते तो यह निष्कर्ष निष्पन्न होता कि जापानियों ने जनरल मोहनसिंह को अपने खेल का एक मोहरा-मात्र बनाकर उनसे अधिकाधिक सैनिकों को अपने पक्ष में करने को कहा गया होगा जिससे कि अवसर पड़ने पर उन सबको जापान के पक्ष में युद्ध में झोंक दिया जाय। यही कारण था कि स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने के लिए तत्पर लोगों के नामों की सूचियाँ लेकर भी जापानियों ने उनके रहने आदि की पृथक् से किसी प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं की थी।

इस सारे ताने-बाने का एक स्पष्ट उदाहरण यह है कि जनरल मोहनसिंह को भ्रम में रखकर युद्धबन्दियों के तोपखाने की कुछ टुकड़ियों का जापानियों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए किया गया दुरुपयोग। इन भारतीय युद्धबन्दियों में तोपखाने की कुछ टुकड़ियाँ थीं। उन्हें स्वतन्त्रता के युद्ध में जाने से पहले तोपखानों का विशेष प्रशिक्षण देने तथा तोप चलाने के अभ्यास का झूठा बहाना बनाकर जनरल मोहनसिंह की अनुमति ली और जापानी उन्हें सिंगापुर की दक्षिण दिशा में स्थित किसी एक द्वीप पर ले गए। जनरल मोहनसिंह को इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं हुआ।

जापानियों के इरादे का किसी को भी पता नहीं था। कारण कोई भी रहा हो, जापानियों ने सोचा कि विजित किये हुए उस विस्तृत प्रदेश की रक्षा के लिए भारतीय सैनिकों का प्रयोग कर लेना चाहिए। यही उनका उद्देश्य भी था। किन्तु इसके लिए स्पष्ट शब्दों में न कहकर वे भारतीय स्वतन्त्रता को इसका कारण सिद्ध करते थे। हमारी टुकड़ियों को दूरस्थ द्वीपों में ले-जाकर कहा जाता— "हमारे युद्ध में सहभागी होकर हमारी सहायता करना ही आपकी स्वतन्त्रता-प्राप्ति का मार्ग है। क्योंकि यदि हम विजयी हुए तो आपके शत्रु को पराजित करने से आपका देश स्वयमेव स्वतन्त्र हो जाएगा।"

उस टुकड़ी को एक बार उस द्वीप पर भेजने के उपरान्त उसे वापस भारतीय स्वतन्त्रता-सेना में सम्मिलित करना बहुत कठिन कार्य सिद्ध हुआ। एक-दो साल तक तो पूछने पर भी जापानियों ने उस टुकड़ी का अता-पता तक भारतीयों को नहीं दिया। वे पहले तो कहते रहे, 'हम उन्हें जल्दी बुला लेंगे। उसमें कौन-सी बड़ी बात है!' फिर कुछ मास बाद पुनः स्मरण कराने पर कहते, 'हाँ, हम उनको वापस बुलाने का यत्न तो कर ही रहे हैं।' कुछ मास और बीत जाने पर उनसे पूछते तो वे कहते, 'हाँ, उन्हें वापस लाना तो चाहिए, किन्तु यह बहुत कठिन काम है। अपनी ओर से हमसे जो बन पड़ता है वह कोशिश तो कर ही रहे हैं, किन्तु अभी कुछ समय और लगेगा।' इस प्रकार टालमटोल के उत्तर उनसे मिलते थे।

जापानियों का विचार था कि भारतीय दूध-पीते बच्चों के समान भोले-भाले हैं, ये क्या जानें सत्ता क्या होती है! इनको तो किसी भी प्रकार की बातें बनाकर बहकाया जा सकता है।

जनरल मोहनसिंह के सूबे तथा उनके गाँव के निकट के अनेक लोग उनके सहयोगी बनकर उनके सामने आए थे। जब कोई नया राजा सिंहासनारूढ़ होता है तब उसकी मर्जी के लोगों का मानो राज हो जाता है। उसी प्रकार इन लोगों का भी अच्छा समय आरम्भ हो गया था। हर कोई उनसे जान-पहचान निकालने लगा, मित्रता का हाथ बढ़ाने लगा था। उनके साथ घूमते हुए तथा बोलते हुए लोग हमें देखें, ऐसा भी कुछ लोगों का प्रयास होने लगा था।

इन लोगों ने बीच-बीच में बन्दी शिविरों में आना आरम्भ किया, तथा जो भी अफवाहें सुनाई पड़ीं, उन्हें लिखकर जनरल मोहनसिंह के पास भेजना आरम्भ कर दिया। इसमें कुछ ऐसे भी थे जो 'किंग्स कमीशन अधिकारी' रह चुके थे; वे पकड़े गए। परस्पर या किसी अन्य के साथ यदि जापानियों के विषय में कुछ भी बोलते अथवा मोहनसिंह तथा इस आन्दोलन के विषय में बोलते तो यह बात जापानी अधिकारियों और जनरल मोहनसिंह के पास पहुँच जाती थी। जापानियों ने भी कुछ ऐसे युद्धबन्दी तैनात किये थे जो अन्य लोगों के विषय में सच्ची-झूठी, सब प्रकार की खबरें जापानियों तक पहुँचा देते थे।

अपने बन्धुओं के विरुद्ध जापानियों अथवा अन्य किसी व्यक्ति को बातें बताना बहुत निकृष्ट कार्य था। परन्तु जनरल मोहनसिंह को तथा भविष्य में नेताजी को भी खबरें पहुँचानेवाले ये लोग ऊपर से यद्यपि देशभक्त होने का ढोंग रचते थे, फिर भी अन्दर से बहुत स्वार्थी थे। यह सब बाद में विदित हुआ था। केवल बड़े लोगों की उन पर कृपा रहे, उस पर यदि कोई बुरा समय आए तो बड़े लोगों द्वारा उनका बचाव हो, सदा उनके पास आने-जाने का अवसर प्राप्त होता रहे, अन्य लोग उनकी खुशामद करें, उनके डर से लोग उनकी खातिरदारी करते रहें, ऐसे काम करने के पीछे उनका यही मुख्य उद्देश्य था!

इस युद्ध के आरम्भ में जापान एवं जर्मनी देशों की निरन्तर जीत होती रही। उस समय सारे देश-प्रेमी भारतीय लोगों को बड़ी प्रसन्नता होती थी। शीघ्र ही एशिया खण्ड का भाग्योदय होनेवाला है तथा पाश्चात्य साम्राज्यशाही की गिरफ्त नष्ट होकर हमारे अनुकूल विश्व की स्थापना हो रही है—ऐसी आशा प्रत्येक व्यक्ति करने लग गया था। ब्रिटिश समाचारपत्र 'मानचेस्टर गार्डियन' के संवाददाता ने अपने समाचारपत्र को धड़कते हुए हृदय से यह समाचार दिया था—''भारत में जिधर देखो उधर ही जापानियों की प्रारम्भिक विजय से सारे भारतीयों

के मन प्रसन्नता से फूले नहीं समा रहे हैं। सुदूरपूर्व पराजय का सामना करनेवाले अंग्रेजी साम्राज्य के लिए किसी भी भारतीय के मन में हल्की-सी भी दुःख की रेखा देखने को नहीं मिलती।''

ऐसे समय में मुझे भी प्रसन्नता होनी स्वाभाविक ही थी। सेलेतार छावनी में आने के कुछ ही समय बाद एक रात-भर सोच-विचार करने के अनन्तर मैंने एक प्रार्थनापत्र लिखा। उसमें मैंने लिखा, 'भारतीय स्वतन्त्रता के लिए मैं अपना सबकुछ त्याग करने के लिए तत्पर हूँ। कुछ शिक्षित लोग आकाशवाणी केन्द्रों पर प्रचार के लिए चुने जाने हैं। ऐसा मैंने सुना है। अतः क्योंकि मैं उच्च शिक्षित हूँ और इस कार्य में मेरी रुचि भी है, इन दोनों बातों को भलीभाँति सम्पन्न कर सकता हूँ। यदि यह कार्य करने का मुझे अवसर प्रदान किया गया तो मैं आभारी रहूँगा। इस कार्य के लिए मैं विश्व के किसी भी केन्द्र पर जाकर कार्य करने के लिए तैयार हूँ।'

इन सभी युद्धबन्दियों में कुल मिलाकर चार या पाँच लोग ही बैरिस्टर अथवा एल०एल०बी० अर्थात् कानून जाननेवाले थे। उनमें से मैं एक था। जो लोग एम० ए० डिग्रीधारी थे, ऐसे भी मेरे अतिरिक्त दो या तीन ही अन्य लोग थे। परन्तु ऊपर लिखी हुई दोनों उपाधियाँ प्राप्त करनेवाले उन सब युद्धबन्दियों में ही क्या, प्रत्युत उस सारे प्रदेश में केवल मैं ही एक था, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। उस प्रार्थना-पत्र को मैंने जनरल मोहनसिंह के पास भिजवा दिया। कुछ दिन बाद एक कैप्टन के ओहदे का अधिकारी हमारी छावनी के मुख्य कार्यालय में आया और उसने मुझे बुलवा लिया।

मेरे वहाँ पहुँचने पर उस कैप्टन ने कहा, ''आपका प्रार्थना-पत्र हमारे मुख्यालय में पहुँच गया है। आपने जिस त्याग का उल्लेख किया है उसके लिए हम आपका अभिनन्दन करते हैं। आपके प्रार्थना-पत्र पर उचित विचार किया जाएगा।''

ऐसा कहकर वह अधिकारी चला गया। वह कौन था, कहाँ से आया था, ऐसा उसने मुझे कुछ भी नहीं बताया। थोड़े दिनों बाद मेरे कानों में जो समाचार पहुँचा उससे तो 'कौन सैनिक योग्य है और कौन अयोग्य' इसके मूल्यांकन की पद्धति के लिए ही मेरे मन में वितृष्णा उत्पन्न हो गई। ऐसा कटु अनुभव इससे पूर्व भी मुझे अनेक बार यद्यपि हो चुका था और उसके साथ इस एक और अनुभव की वृद्धि हो गई थी।

जिसके लिए मैंने प्रार्थना-पत्र दिया था उस आकाशवाणी केन्द्र के लिए एक ले० कर्नल और दो कैप्टन प्रचारार्थ चुने गए थे। मुझे इस योग्य नहीं समझा

गया। जिनका चयन हुआ था वे कदाचित् मैट्रिक तक की शिक्षा भी ग्रहण नहीं कर पाए थे। राजनीति किसे कहते हैं इसका उन्हें किंचित् भी ज्ञान नहीं था। देहरादून के विद्यालय में दो वर्ष तक पढ़नेवाले ये लोग भारतीय सेना के अधिकारी के रूप में सेकण्ड लेफ्टिनैंट के पद पर नियुक्त हुए थे। सेना में कोई भी काम क्यों न हो, सैनिक ओहदा ही सारे कार्यों का प्रमाण-पत्र माना जाता है।

मुझे जब उनकी नियुक्ति का समाचार मिला तो मैंने एक अन्य पत्र लिखा। उस पत्र में मैंने अपना विरोध इस बात के लिए व्यक्त किया कि 'किसी कार्य-विशेष के लिए किसी व्यक्ति की पात्रता अथवा योग्यता पर विचार न करके केवल उसके ओहदे को ही प्राथमिकता देना अन्याय है।' मुझे उस पत्र का कोई उत्तर नहीं मिला। यथोचित प्रतीक्षा के उपरान्त मैंने उसी विषय का एक अन्य पत्र लिखा, उसका भी मुझे कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ।

उसके कुछ दिन बाद ले० जनरल मोहनसिंह का विद्याधारी छावनी में एक महत्त्वपूर्ण भाषण आयोजित किया गया। उसमें केवल अधिकारीवर्ग ही आमन्त्रित था। मैं क्योंकि टुकड़ी का सर्वाधिक शिक्षित व्यक्ति था, अत: अनेक लोगों ने मुझे उसमें चलने का आग्रह किया। किन्तु मैंने उनका आग्रह स्वीकार नहीं किया।

सेना में स्वार्थत्याग और योग्यता के लिए स्थान न होकर केवल ओहदों को और ऊपरी काम को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था—मुझे इस बात पर खेद था।

दूसरे दिन भाषण के बाद जब मेरी टुकड़ी के लोग लौटे, तब उन्होंने बताया कि भारतीय स्वतन्त्रता सेना के नए संगठन-निर्माण की बात वहाँ पर मोहनसिंह ने की थी। उसमें उस सेना का गणवेश, ओहदों के निदर्शक चिह्न आदि सब बातों का नए सिरे से विचार करने के लिए एक समिति गठिन करने का प्रस्ताव मोहनसिंह ने रखा था। प्रसन्नता की बात यह थी कि युद्धबन्दियों में से हर स्तर और हर ओहदे के व्यक्तियों को इसमें सम्मिलित करने की बात थी। उनका चयन किस प्रकार किया जाएगा और कब किया जाएगा इस विषय में अभी कोई तिथि निर्धारित नहीं की गई थी। तदपि सेना में यह माना जानेवाला तथ्य कि सेना में तो केवल सेना के उच्चाधिकारियों को ही भगवान बुद्धि देता है—इस तथ्य को पहली बार झुठलाया जा रहा था। यह प्रसन्नता की बात थी।

यह समाचार सुनकर मेरे मन में अनेक प्रकार के विचार चक्रायमान होने लगे। 'मेजर' तथा उससे ऊपर के अधिकारी अपने ओहदे का चिह्न के रूप में ब्रिटिशर्स का मुकुट-चिह्न धारण करते थे, अर्थात् स्वतन्त्रता के लिए युद्धरत सेना में दासता के प्रतीक-चिह्नों को पहले दूर किया जाना आवश्यक था। इस

स्वतन्त्रता-सेना में ओहदों के क्या-क्या चिह्न होने चाहिएँ इस बात पर मैं रातभर विचार करता रहा।

प्रातःकाल उठकर मैंने एक पत्र तैयार किया। उस पत्र में कंधों पर लगाने के योग्य, विभिन्न अधिकारियों के लिए पीतल के चार-पाँच चिह्नों का सुझाव मैंने अंकित किया था। पहला 'सुदर्शन चक्र'—दिव्य शक्ति, पवित्र भावना तथा शत्रु का नाश करके वापस आने की इस शस्त्र की शक्ति के कारण उसकी योजना मुझे उचित प्रतीत हुई। दूसरा 'स्वास्तिक'—शुभ कार्य का द्योतक, आर्यों का एक पुरातन चिह्न होने से ग्राह्य होना चाहिए। तीसरा 'धनुष-वाण'—मानव का प्रथम महत्त्वपूर्ण शस्त्र तथा अच्छी निशानेबाजी का द्योतक। चौथा 'तलवार'— वीरता का प्रतीक, तथा पाँचवाँ चिह्न भारतवर्ष का मानचित्र—मातृभूमि की शाश्वत स्मृति की दृष्टि से यह चिह्न आवश्यक था। ऐसे भिन्न-भिन्न विस्तृत कारण देकर मैंने इन पाँच चिह्नों को मान्य करने का सुझाव दिया था। मेरे इण्डोचायना से सैरगाँव चले जाने के बाद मुझे विदित हुआ कि 'सुदर्शन चक्र' को स्वीकृति मिल गई है। स्वतन्त्रता-सेना में ब्रिटिश मुकुट-चिह्न के स्थान पर मेजर अथवा उसके ऊपर के पदों के लिए निदर्शक के रूप में आगे चलकर उसका स्थान स्थिर हो गया। परन्तु सुदर्शन चक्र किस प्रकार का होता है, इस बात का जिन्हें किंचित् भी ज्ञान नहीं था, उन्होंने कुछ का कुछ बनाकर दे दिया, अर्थात् वह सुदर्शन चक्र की प्रतिकृति नहीं, किसी प्रकार की मकड़ी की प्रतिकृति था। परन्तु वही चिह्न सुदर्शन चक्र के नाम से प्रचलित कर दिया गया। स्वतन्त्रता-सेना में जो दूसरा चिह्न लिया गया वह मेरे द्वारा प्रस्तावित चिह्नों में से नहीं था। वह केवल एक ऐसी खड़ी पट्टी थी जो कन्धों पर लगाई जाती थी। सूचनाएँ भेजने के बहुत दिनों बाद का यह सारा इतिहास है। मेरे मित्र डॉ० जोशी की टुकड़ी भी स्थानान्तरित होकर सेलेतार छावनी में आ गई थी। उनको भी मैंने अपना वह पत्र दिखाया तो वह उन्हें भी बहुत अच्छा लगा।

कुछ दिनों बाद डॉ० जोशी ने भी इसी प्रकार का आलोचनात्मक पत्र लिखकर ले० जनरल मोहनसिंह को वहाँ के मध्यभाग में स्थित मुख्यालय में भेज दिया। उसमें उन्होंने यह विशेष बात लिखी थी कि 'ब्रिटिश राज्य-पद्धति में किंग्ज कमीशंड आफिसर को जो महत्त्व प्राप्त था और उन्हें स्वयं की ही प्रशंसा करने तथा ओहदों को ही प्रमाण मानने की जो आदत पड़ गई थी, यदि आपने भी उसी का प्रचलन चालू रखा तो हमारा स्वतन्त्रता का यह आन्दोलन सफलता कैसे प्राप्त कर सकता है? देशभक्ति और स्वार्थ-त्याग की भावना तो ओहदों पर कदापि निर्भर नहीं है। बढ़ते हुए पदों के साथ अधिकारी के मन में विपरीत

भावना ही बढ़ती जाती है, क्योंकि ब्रिटिश सत्ता द्वारा पदोन्नत किया गया अधिकारी स्वयं तो दास-प्रवृत्ति का ही होता है, औरों को भी ब्रिटिशर्स की ही भाँति दबाकर, डाँट-डपटकर उनको दासता में जकड़कर रखता है। ऐसे राजनिष्ठ व्यक्ति का निश्चय हो जाने पर ही उसे ऊपर का ओहदा प्रदान किया जाता था। ज्यों-ज्यों इस प्रवृत्ति में बढ़ोत्तरी होती जाती थी, त्यों-त्यों उनके पदों की भी उन्नति होती जाती थी। ये अधिकारी भारत के बहुत अमीर, बहुत राजनिष्ठ तथा जिनकी कई पीढ़ियों का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, ऐसे परिवारों में से बड़े ही प्रयत्नपूर्वक चुने जाते थे, अर्थात् ऐसे लोगों से स्वार्थ-त्याग की अथवा देशभक्ति की क्या आशा की जाए? अतः यह किंग्ज कमीशनवालों के प्रति पक्षपात की भावना पूर्णतया वर्जित कर, नया संगठन नई नींव पर खड़ा किया जाए।'

इस प्रकार मेरा और डॉ० जोशी का नाम जनरल मोहनसिंह तथा उनके अन्य सहयोगियों के सम्मुख आया। जब नई समिति का गठन करना ही है तो उसमें इन दोनों को ले लिया जाय—कदाचित् ऐसा उन्होंने सोचा होगा—क्योंकि इस घटना के कुछ ही दिन बाद हम दोनों को दो अलग-अलग टाइप किये हुए पत्र प्राप्त हुए, जिनमें निर्देश था कि नई मध्यवर्ती समिति का गठन किया जा चुका है और उसमें आपका नाम सम्मिलित कर लिया गया है। उस समिति की जब कभी भी कोई बैठक होगी, उसकी सूचना आपको यथासमय भेज दी जाएगी और आप उसमें अवश्यरूपेण उपस्थित रहिए।

उसके बाद लगभग प्रति सात-आठ दिन बाद एक कार हमारी छावनी में आती थी और उसके साथ उस बैठक में सम्मिलित होने का निमन्त्रण होता था। डॉ० जोशी का नाम भी उस समिति में था, अतः हम दोनों ही नियमित रूप से इन साप्ताहिक बैठकों में जाने लगे थे। उस समिति में केवल हम दो ही महाराष्ट्रियन थे, शेष सब पंजाबी ही थे।

जिस दिन उस समिति की बैठक थी उस दिन 'माउँट प्लेज़ैंट' बँगले के मुख्य द्वार के समीप के उद्यान में हमें कैप्टन ताज मुहम्मद मिल गए। वह भी मोहनसिंह के सहयोगियों में से एक थे। किन्तु उनका स्वभाव बड़ा ही निराला था। वे बड़े सात्त्विक विचारों के, विनयशील, मिलनसार तथा दयालु स्वभाव के व्यक्ति थे। इसका अनुभव हमें स्वयं भी हुआ था। अन्य लोगों के मुख से भी हमने उनके विषय में इसी प्रकार की बात सुन रखी थी। उच्चाधिकारियों में उन जैसा कोई अन्य व्यक्ति नहीं था। हमें देखते हुए, हमारे साथ हाथ मिलाते हुए इतनी विनम्रता से हँसते हुए उन्होंने हमसे पूछा, मानो कोई शालीन नम्र महिला

बोल रही हो "आप कौन हैं ?"

मैंने डॉ० जोशी का परिचय कराते हुए कहा, "ये डॉक्टर जोशी हैं और मेरा नाम ओक है।"

बड़ी आत्मीयता से उन्होंने कहा, "अच्छा, यह बात है, बहुत अच्छा!"

फिर वे मेरी ओर मुड़कर कहने लगे, "अरे हाँ, आप तो बहुत पढ़े-लिखे, अर्थात् एम० ए०, एल-एल०बी० हैं, है ना····बहुत अच्छा है। आपने जो चिह्न सुझाए हैं वे बहुत ही बढ़िया हैं। उनमें बहुत-कुछ नवीनता है।"

फिर डॉक्टर जोशी की ओर मुख करके कहने लगे, "डॉक्टर जोशी! आपने अपने पत्र में अधिकारियों की जो आलोचना की है वह बिल्कुल यथार्थ है।"

इन बैठकों के आरम्भ में पहले जनरल मोहनसिंह और उनके सहयोगी 'क्याबीजी' का भाषण होता था। उसमें वे भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बताते और फिर विभिन्न प्रश्नों पर विचार-विमर्श होता था। वे प्रश्न कुछ इस प्रकार के होते—पहले से गठित टुकड़ियों को तोड़ा जाए अथवा नहीं, नवीन टुकड़ियाँ किस आधार पर बनाई जाएँ, अधिकारियों को किस आधार पर पदोन्नत किया जाए, आदि ।

यह निश्चित कर लिया गया था कि यह बैठक सायंकाल सात बजे जनरल मोहनसिंह के निवास-स्थान पर हो, किन्तु निर्धारित समय पर सब कोई पहुँच नहीं पाते थे। अभी अमुक व्यक्ति नहीं आए, अमुक व्यक्ति अभी आनेवाले हैं, आदि कारणों से बैठक आरम्भ होते-आते आठ बज जाया करते थे।

उस समिति में सम्भवतया पच्चीस-तीस सदस्य नियुक्त किये गए होंगे, क्योंकि निश्चित संख्या के विषय में किसी को बताया नहीं गया था। अमुक नहीं आए अथवा अमुक आ रहे हैं, इस कथन के आधार पर मैंने यह संख्या का अनुमान लगाया है। आठ बजने पर कह दिया जाता कि अब तो खाना खाने के उपरान्त ही यह बैठक आरम्भ की जाए तो ठीक है। इस प्रकार निश्चय हो जाने पर हम लोग खाने की मेज पर बैठ जाते थे। प्रत्येक मेज पर पाँच-सात व्यक्ति होते थे। खाना अच्छा मिलता था। दाल, दो सब्जियाँ, घी, चिकन करी तथा अण्डों की बनी हुई दो बड़ी-बड़ी बर्फियाँ तथा चपाती होती थीं।

मैं सामान्यतया जनरल मोहनसिंह की मेज पर ही बैठता था। खाते समय बड़ी अनौपचारिकता के साथ वार्तालाप हुआ करता था। बैठकें भी हँसी-खुशी के वातावरण में ही होती थीं। उस समय बातों के मध्य ओहदों का भेदभाव नहीं आता था। इस प्रकार हर किसी का मन प्रसन्न रहता था। खुलेपन से तथा स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने के लिए ऐसा वातावरण अत्यन्त आवश्यक होता है।

जहाँ छोटे-बड़े का भेदभाव किसी एक अथवा अधिक व्यक्तियों के विषय में विद्यमान हो, वहाँ चर्चा के लिए बैठक करने का कोई औचित्य नहीं रह जाता, क्योंकि ऐसे वातावरण में छोटे स्तर के लोग भय के कारण योग्यता होने पर भी उपयुक्त परामर्श देने में असमर्थ होते हैं।

ये बैठकें रात को लगभग ग्यारह बजे तक चलती थीं। बैठकों के उपरान्त सभी समागतों को छोड़ने के लिए गाड़ियाँ नियुक्त थीं। वे हमको अपनी-अपनी छावनी में छोड़कर वापस चली जाती थीं।

अध्याय नौ

बन्दी छावनियों में प्रचार-कार्य

जनरल मोहनसिंह के पास मैंने जो दो-चार पत्र भेजे थे, वे सब हमारी छावनी के मुख्य अधिकारी के माध्यम से ही भेजे गए थे, क्योंकि नियम यही था। तदपि मैं कभी उनसे मिलने के लिए लालायित नहीं रहा। जो पत्र मैं भेजता था, उन्हें उनके कार्यालय के लिपिक के पास भेज देता था। मेरे पत्र पर मेरा नाम तथा उसके नीचे एम०ए०, एल०एल०बी० के अक्षरों को देखकर उस समय के हमारी छावनी के मुखिया ने उस लिपिक से कहा, ''मुझे इन महाशय से मिलना है, उन्हें यह सन्देश दे देना।''

जिस दिन मुझे उनका यह सन्देश मिला उसके दूसरे दिन मध्याह्न के समय मैं उनका स्थान ढूँढता हुआ उनके पास पहुँच गया। मैंने जैसे ही नाम और उनके सन्देश के विषय में बताया, उन्होंने उठकर हाथ मिलाते हुए प्रसन्न वदन से मेरा स्वागत किया। उन महाशय का नाम था मेजर बरार। बड़े पारखी स्वभाव के व्यक्ति थे। युद्धबन्दियों में शिक्षित लोगों को आदरपूर्वक देखनेवाले वही एक अपवादात्मक सैनिक अधिकारी दिखाई दिए।

उनको देखकर यह स्पष्ट पता चल रहा था कि उनकी दृष्टि में ज्ञान का बड़प्पन ही सबसे बड़ा बड़प्पन है; मोटे वेतन का, सैनिक ओहदे का, अधिकार का बड़प्पन वास्तविक बड़प्पन नहीं होता। उन्होंने कहा, ''आइए, आइए! आपके समान उच्च शिक्षित व्यक्ति हमारी छावनी में होगा इस बात का मुझे बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था। सेना में सुपठित लोग बहुत कम ही दिखाई देते हैं। आपसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसे वातावरण में किसी सुपठित से वार्तालाप करना मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता का अवसर है। अच्छा, यह बताइए कि मोहनसिंह जी ने जिन कार्यों को चलाया हुआ है उनके विषय में आपकी क्या सम्मति है? क्या सफलता और विफलता के विषय में विभिन्न लोगों के विभिन्न विचार हैं?''

मेजर बरार ने अभी तक यह निर्णय नहीं किया था कि जनरल मोहनसिंह

के कार्य में सम्मिलित हुआ जाय अथवा नहीं। इस समय की उनकी बातों से यही आभास मिल रहा था कि मैं जैसा परामर्श दूँगा, वह उनको स्वीकार्य होगा। उन्होंने उस समय वार्तालाप के मध्य यह भी बताया कि उनका और जनरल मोहनसिंह का प्रगाढ़ परिचय है।

इस सबको दृष्टि में रखते हुए मैंने उनसे कहा, "यदि मेरी सम्मति पूछी जाय तो मैं किसी भी कार्य को जय या पराजय की दृष्टि से नहीं मापता। मैं तो केवल इतना देखता हूँ कि यह कार्य उचित है अथवा अनुचित।"

मेरा उत्तर सुनकर उनको विशेष सन्तोष हुआ, ऐसा उनकी मुखाकृति से आभासित हो रहा था। वे बोले, "अपनी छावनी में यदि शिक्षित लोगों का एक मण्डल स्थापित किया जाय, साथ ही छावनी के अन्य बन्दियों के हित-साधन की दृष्टि से कोई कार्यक्रम किया जाय तो उससे बहुत लाभ होगा...आपका इस विषय में क्या विचार है?"

उनके प्रश्न के उत्तर में मैंने उनकी योजना से अपनी पूर्ण सहमति जताई। उसके साथ ही मैंने उनको यह भी सुझाव दिया कि नित्यप्रति प्रातःकाल जापानियों के साथ काम पर भेजे जानेवाले लोगों की सूची में से ऐसे लोगों का नाम निकाल दिया जाए।

मेरा यह सुझाव मेजर बरार ने स्वीकार कर लिया। 'इंटरमीडिएट' तथा उससे अधिक पढ़े हुए व्यक्तियों को इस मण्डल का सदस्य बना लिया जाय— ऐसा उस समय उन्होंने निर्णय किया।

हमारी छावनी में लगभग दस-बारह हजार सैनिकों में 'इंटरमीडिएट' उत्तीर्ण सैनिक केवल पैंतीस-चालीस की ही संख्या में थे। उनमें से भी अधिकतर लिपिक, डॉक्टर आदि थे जो युद्ध चालू होने के कारण ही सैनिक बने थे। हरेक की बात पर ही विश्वास करना पड़ रहा था, क्योंकि वहाँ पर किसी से भी प्रमाण-पत्र तो माँगा ही नहीं जा सकता था। हर टुकड़ी से इंटर तक पठित सैनिकों की सूची मँगाई गई। सूची मिल जाने के उपरान्त उन सबकी एक सभा आयोजित की गई। उस सभा में बताया गया कि इस सभा का उद्देश्य क्या है और उनका जो मण्डल गठित किया जा रहा है, उसका ध्येय क्या होगा।

इसके चार-पाँच दिन बाद पुनः एक सभा का आयोजन किया गया। उसमें हर भाषा के एक-एक परीक्षक नियुक्त किये गए। वे सब अपनी-अपनी भाषा में उच्च शिक्षित थे। मराठी, हिन्दी, उर्दू, बंगला, पंजाबी, अंग्रेजी आदि-आदि सभी भाषाओं के लिए एक-एक परीक्षक की नियुक्ति की गई। अंग्रेजी तथा मराठी के लिए एकमत से मेरा चयन किया गया। श्री रामाधारसिंह, बी०ए०, एल०एल०बी०

थे। वे काशी के निवासी थे। उनकी नियुक्ति हिन्दी परीक्षक के रूप में की गई। श्री दीनानाथ झाटू एम० ए० को हिन्दी और उर्दू का परीक्षक नियुक्त किया गया। ये कश्मीर-निवासी थे।

ऊपर जिन-जिन भाषाओं का उल्लेख किया गया है, उन-उन भाषाओं में निबन्ध लिखकर उन-उन परीक्षकों को देने का निर्देश दिया गया। निबन्ध सार्वजनिक हित के हों, यही विषय निर्धारित किया गया। यह निश्चय हुआ कि परीक्षकगण उन निबन्धों की निष्पक्षता से जाँच करें और यदि समझें कि किसी निबन्ध में कोई विशेष उल्लेखनीय बात कही गई है तो उसको मेरे ध्यान में लाएँ। उस पर विचार करने के उपरान्त यदि यह उचित समझा गया कि उक्त कृति सम्माननीय है तो किसी अवसर-विशेष पर उस लेखक को सम्मानित किया जाय।

ऐसी सभाओं के लिए हमारी छावनी में 30×50 फुट का एक मण्डप था। उसमें अनेक बैंच पंक्तिबद्ध रखे हुए थे। वे बैंच धरती में पक्के गाड़े गए थे। इस मण्डप के एक छोर पर लकड़ी का एक मंच भी बनाया गया था। उस मण्डप और मंच पर कभी-कभी वहाँ के सैनिकों के लोकनृत्य, लोकगीत, तमाशे, नाटक आदि कार्यक्रम हुआ करते थे।

एक बार हमारे मण्डल के एक सदस्य ने 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' विषय में मण्डल की सभा में अंग्रेजी में भाषण दिया था। उसके कुछ दिन बाद 'व्यसन' विषय पर अंग्रेजी में मेरा भाषण हुआ। उस सभा में उस दिन सारे अंग्रेजी के ज्ञाता लगभग ढाई-तीन सौ सदस्य विद्यमान थे।

किन्तु आगे चलकर नेताजी के साथ रहकर हमें परस्पर अंग्रेजी में बोलने पर लज्जा आने लगी थी। उस समय तक अंग्रेजी के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में सभा के सम्मुख बोला जाय—यह स्वप्न में भी नहीं सोचा जा सकता था। आज यह स्मरण करके मुझे आश्चर्य होता है कि इतनी सरल-सी बात हमारे ध्यान में आई ही नहीं।

भाषा, वेशभूषा, चाय, सिगरेट, मद्यपान, शिष्टाचार, पत्र-व्यवहार आदि-आदि कितनी ही बातें हैं जिनमें व्यक्ति अपने नेताओं का अन्धानुकरण कर रहे होते हैं, किन्तु उस समय यह बात किसी के भी ध्यान में नहीं आई। ऐसा लगता है कि ये सब बातें अथवा आदतें समय अथवा वातावरण के कारण होती हैं। किन्तु जो सच्चा देशभक्त है उसके लिए आवश्यक है कि वह इन सब बातों के विषय में सोचे कि पाश्चात्य रीति-रिवाजों और परम्पराओं का त्याग करना चाहिए तथा उनके स्थान पर अपनी पुरानी अच्छी आदतों को ग्रहण करना चाहिए। माथे पर शीतलता प्रदान करनेवाला सुगन्धित चन्दन का टीका लगाकर कार्यालय जाना

यदि आज हमें लज्जास्पद लग रहा है तो उसका कारण यही है कि हमारे अंग-अंग में छिपी दासता की वृत्ति ही है। हम जब बोलते हैं 'हमारी मिसेज', 'हमारे फादर', 'हमारे अंकल' और इस प्रकार अपने नाते-रिश्तेदारों का अंग्रेजी में उल्लेख करते हैं तथा पत्नी, परिवार, पिता, बहन इत्यादि शब्दों का अपनी भाषा में प्रयोग करने पर लज्जा का बोध हो तो यह हमारे रक्त में रची-बसी दासता की स्पष्ट निदर्शक है।

अत: नेताजी के प्रति आदरभाव व्यक्त करनेवाले तथा उनके कार्य के प्रति श्रद्धा रखनेवाले लोगों ने अपना प्रमुख कर्त्तव्य मानकर अपने दैनिक जीवन में तन-मन-धन से स्वदेशी का व्यवहार और आचरण करना चाहिए तथा उस बात को गर्व से स्वीकार भी करना चाहिए—ऐसा हमें लगने लगा था। क्योंकि, ऐसी छोटी-छोटी बातों से ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है।

'व्यसन' विषय पर मेरा भाषण बहुत अच्छा हुआ था, ऐसा सबका कहना था। जब मैं भाषण दे रहा था तब निरन्तर सवा दो घंटों तक श्रोतागण मन्त्रमुग्ध-से एकाग्रता से उसे सुनते रहे थे। डॉक्टर जोशी ने उसके बाद लगभग दस मिनट तक मेरे भाषण में व्यक्त किये गए विचारों पर अपने अनुभव सुनाए। श्रोताओं में से एक व्यक्ति दूसरे दिन मुझसे मिलने आए और कहने लगे, "चाय-कॉफी पीने की आदत से इतनी हानि हो सकती है, इस बात का मुझे किंचित् भी ज्ञान नहीं था। मैंने निश्चय किया है कि अब मैं चाय-कॉफी आदि किसी भी पेय का सेवन नहीं करूँगा।"

'व्यसन' विषय पर भाषण देने के लगभग सभी कारण ठोस और प्रामाणिक ही थे। बन्दी जीवन में चिन्ता एवं कष्ट अर्थात् मानसिक और शारीरिक ऐसे दोहरे दु:खों के कारण सामान्य लोग विवेक-भ्रष्ट हो जाते हैं। उस समय वे कुछ भी करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। वेश्यागमन, विशेषतया विवाहित व्यक्ति तो इसके अत्यधिक दास दिखाई दिए। मद्यपान, सिगरेट, चाय, कॉफी आदि दुर्व्यसन जिन्हें पहले नहीं होते, वे भी उसके शिकार हो जाया करते हैं। किन्तु जिन्हें इन दुर्व्यसनों ने पहले ही जकड़ा हुआ होता है वे उन दुर्व्यसनों के अधीन होकर कितनी हीन अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, वह मैंने अपनी आँखों से देखा है। सिगरेट खरीदने के लिए पैसे न होने पर किसी अन्य द्वारा सिगरेट पीकर अन्त में फेंके हुए सिगरेट के टुकड़ों को पूरी छावनी में घूमकर एकत्रित करनेवाले अनेक लोगों को मैंने देखा है। गरीब बूढ़ी महिलाएँ जिस प्रकार अकाल पड़ने पर धरती पर गिरे अन्न का एक-एक दाना चुनकर संग्रह करती हैं, उसी प्रकार ये लोग भी उन टुकड़ों को एकत्रित कर, उसमें बचे हुए तम्बाकू को निकालकर उसे चिलम अथवा लकड़ी

की नली में भरकर पिया करते थे।

शराब का व्यसनी एक शिक्षित अधिकारी बन्दी बनाए जाने के बाद शराब न मिलने के कारण एक रात कमरे में बहुत चीखने-चिल्लाने लगा। यह सुनकर उसके साथियों को बहुत बुरा लगा, क्योंकि इसके कारण उनकी निद्रा में बाधा आ रही थी। किन्तु इसे रोकने का उपाय भी सुझाई नहीं दे रहा था। तब यह सब रोकने का एक आश्चर्यकारक उपाय एक शिक्षित बुद्धिमान सैनिक के मस्तिष्क में उपजा।

उस व्यक्ति ने एक खाली शराब की बोतल ली और कमरे से बाहर निकलकर उसे भरकर ले आया। उसे लेकर वह उस शराब के लिए बेचैन व्यक्ति के पास गया और बोला, "देखो, न जाने कितने पापड़ बेलकर मैं तुम्हारे लिए यह शराब लेकर आया हूँ।"

यह कहकर उसने वह बोतल जब उस व्यक्ति को पकड़ाई तो वह व्यक्ति उसको झपट्टे से उससे छीनकर गटागट पी गया। वह वास्तव में मद्य न होकर मानव-मूत्र था। उसे पीकर शराबी ने जोर का डकार लिया और उससे वह सन्तुष्ट हो गया।

यह कोई कल्पित बात नहीं, अपितु हमारे डॉक्टर जोशी ने स्वयं नागपुर में रहकर इस घटना को देखा था। व्यसनाधीन मनुष्य का इतना अध:पतन हो जाता है—यह देखकर ही मैंने 'व्यसन' विषय को ही अपने प्रथम भाषण के विषय के रूप में चुना था।

जब हम जापान की शरण में चले गए तो उसके बाद प्रारम्भ के कुछ महीनों में सिख-समुदाय वैशाखी का पर्व तथा अपने गुरुओं के जन्म-दिनों को मनाया करते थे। इसी प्रकार कुछ टुकड़ियों में सत्यनारायण की कथा भी होती थी। ऐसे अवसरों पर सारी टुकड़ियों के लोग एकता और प्रसन्नता से नाचते और अपने सब प्रकार के मतभेदों को भुलाकर एक-दूसरे की सहायता करते थे। सब लोग एक-दो समय की चाय न पीकर, बचाई गई चीनी हलुवा बनाने के लिए दे देते थे। कभी-कभी नित्यप्रति के भोजन में से भी आटा बचाकर उसे हलवा बनाने के लिए दे दिया जाता था। ऐसे अवसरों पर कुछ लोग पताकाएँ लगाते, कुछ बैठक सजाते तो दूसरे किसी और काम पर लग जाया करते थे। सब लोग उस बन्दी छावनी के अपने परिचितों को उस अवसर पर आमन्त्रित कर लिया करते थे। ऐसे समय डॉ० जोशी को ही कथा बाँचने के लिए बुलाया जाता था। वे भी ऐसे अवसरों का पूर्ण लाभ उठाते हुए सब लोगों को स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सहयोगी बनने के लिए प्रेरित करने से नहीं चूकते थे।

जिस दिन सिखों का कोई उत्सव होता था उसमें, जो लोग मोहनसिंह के

स्वतन्त्रता-आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे, उन लोगों का आग्रह होता था कि ऐसे अवसरों पर केवल धार्मिक कथा-वार्ता ही होनी चाहिए। किन्तु दूसरे लोग इस अवसर पर स्वतन्त्रता-आन्दोलन का भी प्रचार करते थे। जो लोग इसके पक्ष में नहीं थे वे ऐसे अवसरों पर खुले रूप से इसका विरोध भी नहीं कर पाते थे। उनको यह भय बना रहता था कि कहीं उनकी इस भावना का ज्ञान मोहनसिंह की गुप्तचर पुलिस को विदित न हो जाय। तदपि कुछ लोग ऐसे भी थे जो इस प्रकार के आयोजनों में मोहनसिंह के क्रियाकलापों का विरोध जताने से चूकते नहीं थे। धार्मिक वचन इतनी अधिक मात्रा में तथा इतने विभिन्न प्रकार के हो गए हैं कि कोई भी उनका उपयोग किसी भी तत्त्व-प्रणाली का खण्डन अथवा मण्डन करने के लिए कर सकता है।

करीब-करीब प्रत्येक छावनी में सिख लोगों ने एक तम्बू-सा तानकर उसे गुरुद्वारा घोषित किया हुआ था। किसी छावनी में किसी छोटे कमरे को गुरुद्वारे का नाम दे दिया गया था। वे उसे रंग-बिरंगे कपड़े के टुकड़ों, पताकाओं तथा चित्रों से सजाते थे। वे किसी दुर्बल सिपाही को उसके ग्रन्थी के रूप में नियुक्त कर देते थे। प्रतिदिन सायंकाल होने पर सिख लोग वहाँ पर एकत्रित होकर कीर्तन करते थे।

इसी प्रकार युद्धबन्दियों में जो मुसलमान सैनिक थे, उन्होंने अपनी मस्जिद बना रखी थी। किसी-किसी छावनी में हिन्दुओं का मन्दिर भी देखने को मिल जाता था।

हर टुकड़ी के सिख सैनिकों को तेल और साबुन अधिक मात्रा में मिलता था। इसी प्रकार उनको कुछ अन्य भी सुविधाएँ प्राप्त हो गई थीं। साबुन-तेल का अधिक मात्रा में मिलना तो अन्य लोग ठीक ही मानते थे क्योंकि उनके केश होते थे, किन्तु अन्य बातों में भी उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार किया जाता था। यह भी स्वाभाविक ही था, क्योंकि अपने समुदाय के प्रति प्रत्येक का कुछ अधिक लगाव होता ही है, चाहे वह समुदाय सिखों का हो अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय का। स्वदेश में प्रान्ताभिमान, परदेश में देशाभिमान आदि का होना स्वाभाविक ही था।

जैसा कि पहले उल्लेख किया है, मैंने रेडियो स्टेशन पर भेजे जाने के लिए आवेदन किया था। किन्तु उस पर ध्यान न देकर अन्य दो-तीन अधिकारियों को केवल इसलिए नियुक्त किया गया था क्योंकि अंग्रेजों के समय में उनको प्राप्त उनका सैनिक ओहदा मुझसे बड़ा था और इसलिए उनको मुझसे पहले भेजा गया था। मुझे इस नियुक्ति पर दुःख हुआ था और मैंने उस नियुक्ति के विरोध में मोहनसिंह जी को पत्र भी लिखा था—विगत पृष्ठों पर इसका उल्लेख आ चुका

है। उसके उत्तर में मेरे पास एक पत्र आया जिसमें किसी निर्धारित तिथि पर मुझे मोहनसिंह जी के बँगले में उनसे मिलने के लिए कहा गया था।

जिस दिन मुझे उनके पास जाना था उस दिन निश्चित समय पर एक कार मेरे कमरे के सम्मुख आकर खड़ी हो गई। मैं उसके माध्यम से जब वहाँ पहुँचा तो जनरल मोहनसिंह के ए०डी०सी० ने मुझसे पूछा, "आपको उनसे क्या काम है?"

"मेरा तो कोई काम नहीं है, मैं तो उनके बुलाने पर आया हूँ।"

जनरल मोहनसिंह उस समय भोजन कर रहे थे। मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ी। बहुत देर बाद वह ए०डी०सी० बाहर आया और मुझसे पूछने लगा, "क्या आपने भोजन कर लिया है?"

"नहीं।"

तब मुझे भोजन पर अन्दर बुला लिया गया।

उस ए०डी०सी० की ब्रिटिश के समय की शान तथा हाव-भाव देखने पर मुझे विदित हुआ कि यह अधिकारी यद्यपि ऊपरी तौर पर मोहनसिंह के साथ सहयोग करने के लिए तैयार हो गया है, तदपि उसकी मानसिक वृत्ति ब्रिटिश काल की ही थी, उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ था। उसका झुकाव तब भी ब्रिटिशर्स की ओर ही था।

भोजन समाप्त करने के उपरान्त हम ऊपर छत पर गए। वहाँ का कमरा भी अत्याधुनिक फर्नीचर से सजा हुआ था। ज्यों ही हम लोग बैठे कि तभी ले० कुनी झगा जिनको मैं तब तक नहीं पहचानता था और वे भी मुझे नहीं पहचानते थे, उनका नाम मुझे आगे अनेक वर्ष बाद विदित हुआ था, ने आकर कहा कि उनको जनरल मोहनसिंह के साथ काम है। मोहनसिंह ने उनको एक कोने में ले जाकर कुछ बात की और फिर आकर मुझसे कहा, "मुझे क्षमा कीजिए, क्योंकि किसी महत्त्वपूर्ण कार्य से मुझे बाहर जाना पड़ रहा है।"

इतना कहने के बाद उन्होंने तभी वहाँ पर आए एक मेजर से परिचय कराया और बोले, "ये मेजर हमारे प्रचार-कार्य के विभाग के प्रमुख हैं। आप इनसे दिल खोलकर बात करिए। किसी भी प्रकार की कोई शंका मन में मत रखिए।"

इतना कहकर वे वहाँ से चले गए।

मैंने उस अधिकारी को अपनी निराशा का कारण स्पष्ट शब्दों में बता दिया। मैंने अपने द्वारा व्यक्त किये गए विरोध का कारण भी बता दिया। उसने शान्ति से मेरी बात सुनी और अन्त में, कहा, "सिंगापुर, रंगून, बैंकाक, सैगाँव तथा जावा द्वीप, इन सब स्थानों पर शीघ्र पाँच आकाशवाणी-केन्द्रों से हमारा प्रचार-कार्य आरम्भ होनेवाला है। उसके लिए हमें अनेक लोगों की आवश्यकता होगी। उस

समय मैं सर्वप्रथम आपकी ही नियुक्ति करूँगा।''

उसने अपने इस आश्वासन को बातों-बातों के प्रसंग में ही दो-तीन बार दोहराया और वार्तालाप सम्पन्न होने पर मैं गाड़ी में बैठकर वापस अपनी छावनी में आ गया। किन्तु उस समय भी मुझे ऐसा आभास हो रहा था कि यह आश्वासन केवल मन बहलाने के लिए होने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

हमारी छावनी में कुछ ऐसे शिक्षित महाराष्ट्रियन भी थे जो अंग्रेजों के कट्टर समर्थक थे। यही कारण था कि स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सम्मिलित होने का विचार उन्हें किंचित् भी नहीं सुहाया था। अतः उस कार्य में सब प्रकार के संकट और बाधाएँ उपस्थित करना उनका कर्त्तव्य था और उसके लिए वे साम-दाम-दण्ड-भेद आदि सब उपायों का प्रयोग करने से चूके नहीं थे। अपनी टुकड़ी के छोटे अधिकारियों एवं सैनिकों को उन्होंने हमारी सभाओं में अनुपस्थित रहने के लिए कड़े आदेश जारी कर दिए थे। हमारी सभाओं में वे अपने जासूस भेजकर उसमें व्यर्थ की शंकाएँ उपस्थित कराते, वाद-विवाद को बढ़ावा देते। कार्य सम्पन्न हुए बिना बैठकों को समय से पूर्व समाप्त करवाने का यत्न करना, हमारे विषय में झूठी अफवाहें फैलाना, हमें धमकियाँ देना, पीठ-पीछे हमें गालियाँ देना, हमारे साथ सब प्रकार से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना आदि-आदि अनेक बातें अनेक महीनों तक चलाकर देख लिया था। उनके इन दुष्प्रयत्नों के बाद भी हमारा कार्य सुचारु रूप से चलता रहा था। यद्यपि इनसे डॉक्टर जोशी को अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ा था, तदपि उन्होंने अपनी शान्त प्रवृत्ति से अपने कार्य को परिचालना देना चालू रखा था। अन्त तक बिना किसी घबराहट के बड़े उत्साहपूर्वक अव्याहत गति से उन्होंने इस सुकार्य को चालू रखा।

जब किसी गाँव अथवा नगर में किसी महामारी का प्रकोप होता है, उस समय वहाँ के सारे निवासी अपने आवश्यक सामान की गठरी बाँधकर किसी सुरक्षित स्थान पर झोंपड़ियाँ बनाकर रहने लगते हैं। ठीक वैसा ही उस समय का हमारा जीवन था। सारा काम समाप्त कर सूर्यास्त के समय खाना खाने के उपरान्त हमारी झोंपड़ियों के मध्य में स्थित आँगन में हम लोग गप्पें मारने के लिए एकत्रित होते थे अथवा बैठकें आदि करते थे। अन्य सबको सम्बोधित करके डॉ० जोशी, डॉ० साहनी, श्री गोरे अथवा मैं, प्रवचन के रूप में किसी एक विषय के बारे में जानकारी दिया करते थे। प्रारम्भ में दस-बारह लोग एकत्रित होते थे, क्रमशः बढ़ते-बढ़ते यह संख्या डेढ़-दो सौ लोगों तक पहुँच गई थी।

सेलेतार छावनी के दिनों में हमारी दिनचर्या भी लगभग निश्चित ही थी। सूर्योदय से पूर्व उठकर प्रातर्विधि के उपरान्त पहली सीटी बजते ही पंक्तिबद्ध

होकर उपस्थिति और उसके बाद ड्रिल, परेड तथा प्रत्येक ओहदे के अनुसार बारी-बारी से पहरे पर जाना, जापानियों के कार्य से छावनी से बाहर जाना, शौचकूप खोदना, लकड़ियाँ लाना, अनाज लाना, खाना पकाना, इत्यादि काम सब सैनिकों के लिए नियत थे। दोनों समय अपनी थाली और टीन का डिब्बा लेकर भोजन ग्रहण करते और कहीं भी पेड़ के नीचे बैठकर शान्ति से भोजन करते। जिस टीन के डिब्बे में हम दाल खाते थे, शौच जाते समय उसी में पानी लेकर जाना होता था। सायंकाल के भोजनोपरान्त सीटी बजते ही सब उपस्थिति के लिए पंक्तिबद्ध हो जाया करते थे। उस समय सामान्य बातों के, अनुशासन के, डॉक्टरों द्वारा बताए गए कैम्प को साफ रखने के तथा दूसरे दिन के काम के बारे में सारे आदेश प्रत्येक को सुनाए जाते थे। उसके बाद सामान्यतया दो-तीन घंटे का समय सबके पास खाली रहता था।

डॉक्टर के कहने पर जिन्हें दिनभर का अवकाश होता था, वे कभी ताश खेलकर अथवा पुराने अखबार और पत्रिकाएँ पढ़कर अपना समय बिताते थे या फिर सप्ताह-भर के एकत्रित वस्त्रों को धो लिया करते थे। कभी-कभी हम एक-दूसरे के कमरों में मिलने अथवा गप्पें मारने के लिए भी चले जाया करते थे।

फरवरी की पन्द्रह तारीख से 21 जून 1942 तक मेरा यह व्यक्तिगत बन्दी जीवन वैसा ही स्थिर था। ऊपर जो विवरण दिया गया है वह सब इसी अवधि का है। मैं जनरल मोहनसिंह के कार्यकारी मण्डल की तीन-चार बैठकों में उपस्थित रहा था। हमारी छावनी के 'इंडियन लिटरेरी एसोसिएशन' का उपाध्यक्ष होने के कारण मैंने चार-पाँच बैठकों को सम्बोधित भी किया था। 'व्यसन' विषय पर एक दिन भाषण भी दिया था। श्री दीनानाथ, कान्तिचन्द्र झादू और श्री रामसिंह तथा मैं—ऐसे कुछ लोगों ने मिलकर स्वतन्त्रता का प्रचार करनेवाला एक नाटक भी लिख डाला था।

19 जून 1942 को अचानक एक टाइप किया हुआ आदेश मेरे हाथ में थमा दिया गया। उसमें लिखा था कि मेरी नियुक्ति सैगाँव रेडियो-केन्द्र पर कर दी गई है। केवल दो-तीन घंटों में मुझे वहाँ पहुँचने का आदेश था। मुझे कुछ तैयारी तो करनी थी नहीं, केवल सूखने के लिए डाले हुए कुछ कपड़े रखने थे। इधर-उधर पड़ी हुई कुछ वस्तुएँ मैंने जल्दी से समेटीं और अपना बिस्तर बाँधकर मैं अपने मित्रों से मिलने के लिए उनके कमरों में गया। मैं दो-चार मित्रों से ही मिल पाया था कि तभी मुझे लेने के लिए मेरे कमरे के सामने कार आकर खड़ी हो गई। मैंने उसमें अपना सामान रखा और बैठ गया। कार चल पड़ी और विद्याधरी छावनी में जाकर ही रुकी।

वहाँ रहनेवाला एक व्यक्ति भी मेरे साथ ही सैगाँव जानेवाला था। कार उसको लेने के लिए ही रुकी थी। परन्तु ज्यों ही हम वहाँ पहुँचे तो वहाँ हमें सन्देश मिला—''आज का जाना स्थगित है। 23 तारीख को तैयार रहें।' हमें जिस वायुयान से सैगाँव जाना था उस वायुयान से दो जापानी अधिकारियों का जाना आवश्यक हो गया, इसलिए हमारा जाना स्थगित हो गया। इस अशोक वाटिका से छूटकर वायुयान द्वारा जाने का कार्यक्रम स्थगित हो जाने का दु:ख किसको न होगा! फिर से बन्दीगृह में जाना होगा; स्वतन्त्रता के लिए काम करने का अवसर हाथ से निकल गया। इसके साथ ही एक नये स्थान पर जाने का अवसर मिल रहा था, वह भी रह गया। अत: अपने भाग्य को कोसते हुए मैं उसी कार से वापस आ गया। मुझे उस समय मन में यही लग रहा था कि न जाने फिर जाना होगा भी कि नहीं।

दूसरे दिन से यथा-पूर्व अपने निश्चित कार्य पर लग गया। हमारे उस छोटे-से संसार में ही हमने कुछ ऐसा वातावरण बना लिया था कि जिससे बाहर के संसार के विषय में मन में विचार भी न आए। प्रतिदिन की भाँति उस दिन भी सायंकाल जब हम गपशप कर रहे थे कि नगर के चाँदेकर जी ने कह दिया, ''हम कब घर पहुँचेंगे?'' ब्रह्मदेश (बर्मा) अंग्रेजों की दासता से मुक्त होकर जापानियों के अधिकार में था। जनरल मोहनसिंह के स्वतन्त्रता के आन्दोलन के कारण थोड़े ही दिनों में हम ब्रह्मदेश होते हुए भारत पहुँचने में समर्थ हो जाएँगे, ऐसा कुछ लोगों को लगने लगा था। चाँदेकर जी डॉक्टर जोशी से पूछने लगे, ''अब की दीवाली में तो हम घर पहुँच ही जाएँगे, क्यों डॉक्टर साहब?''

डॉक्टर जोशी बोले,'' हाँ, ऐसा लग तो रहा है।''

मैं यह वार्तालाप चुपचाप सुन रहा था। मुझे चुप देखकर चाँदेकर जी ने वही प्रश्न मुझसे किया। मैंने उनको उत्तर देते हुए कहा, ''चाँदेकर! अभी आप तीन वर्ष तक तो घर जाने का नाम भी मत लीजिएगा।''

यह सन् 1942 की बात थी। युद्ध समाप्त हुआ था अगस्त 1945 में। इस प्रकार मेरे अन्तर्मन के बोल कैसे सत्य सिद्ध हुए थे, यह सोचकर आज भी मुझे आश्चर्य होता है।

मेजर बरार से मेरा परिचय बढ़ जाने के उपरान्त मैंने उनसे अपनी बन्दी छावनी में एक कमरा व्यायाम-मन्दिर चालू करने के लिए माँग लिया था। व्यायामशाला आरम्भ होने के उपरान्त प्रतिदिन प्रात:काल वहाँ पर साढ़े पाँच बजे से साढ़े छ: बजे तक मैंने 'सूर्य नमस्कार'-प्रशिक्षण का कार्य आरम्भ कर दिया। प्रतिदिन दस-बारह व्यक्ति नियमित रूप से वहाँ पर सूर्यनमस्कार सीखने तथा करने के लिए आते थे। एक मास तक, जब तक मैं वहाँ से सैगाँव नहीं चला

गया, यह कक्षा नियमित रूप से चलती रही।

जून मास की 21 तारीख को रविवार था। प्रातःकाल सूर्यनमस्कार की कक्षा समाप्त हो चुकी थी। तदनन्तर मैं 'हिन्दी साहित्य संघ' अर्थात् इंडियन लिटरेरी एसोसिएशन की साप्ताहिक बैठक का कार्य सम्पन्न कर प्रातःकाल दस बजे के करीब अपने कमरे में वापस आया। हमारी छावनी में पेचिश रोग फैल गया था; मेरा भी स्वास्थ्य ठीक नहीं था। नित्यप्रति दो-चार सैनिक मृत्यु-निद्रा में सो रहे थे। यह सब हम देख भी रहे थे और सुन भी रहे थे। तीन-चार दिनों से मुझे भी पेचिश हो गई थी। मैं केवल चावल का पानी पीकर जीवित था। थोड़ी दुर्बलता और थोड़ा बुखार जैसा लग रहा था। सभा का काम समाप्त कर जब मैं अपने कमरे में आकर अपने मित्र के बिस्तर पर पड़ा-पड़ा उससे गप्पें मार रहा था कि तभी दो जापानी अधिकारी तथा एक सिख अधिकारी भी हरी कार में से उतरकर मेरे कमरे में आकर मुझे ढूँढने लगे। पलभर के लिए मैं इसका कुछ अर्थ समझ नहीं पाया। पहले उन्होंने मेरे बिस्तर के समीप मुझे ढूँढा। जब उन्होंने देखा कि मैं वहाँ पर नहीं हूँ तब उन्होंने औरों से पूछा और उनके बताने पर मैं जिस बिस्तर पर लेटा था उस ओर को वे आने लगे।

वहाँ पर पहुँचकर सिख सिपाही ने एक टाइप किया हुआ कागज मुझे दिखाकर पूछा, "क्या, आपका ही नाम 'ओक' है?"

मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया तो वे बोले, "आपको हमारे साथ चलना होगा।"

मैंने पूछा, "कहाँ?"

उसने कहा, "सैगाँव।"

फिर वही प्रक्रिया। मैंने शीघ्र ही उस दिन धोए हुए कपड़े गठरी में डाले, बिस्तर बाँधा, किसी मित्र को दिया हुआ अपना वायलिन किसी अन्य से मँगवाया। इस अवधि में वे तीनों व्यक्ति मुझसे जल्दी करने की कहते रहे थे।

वायलिन न आने तक किसी प्रकार इन लोगों को रोक सका तो उचित होगा, यह सोचकर मैंने अपनी तैयारी करने में ढील करनी आरम्भ कर दी। फिर भी वायलिन नहीं आया। किन्तु ज्यों ही मैं मोटरगाड़ी में अपना सामान डालकर उसमें बैठने लगा कि मेरा वायलिन लेकर मेरा मित्र आ गया।

हम लोग चल पड़े। पहले दिन विद्याधारी छावनी से जिस मेरे साथी को साथ लेना था, वह आज पहले से ही उस कार में विद्यमान था। उस समय मुझे लगने लगा था कि अब मैं अवश्य ही सैगाँव जाऊँगा। और सचमुच ही उस दिन मेरा सेलेतार छावनी का बन्दी जीवन समाप्त हो गया।

अध्याय दस

भारतीय स्वतन्त्रता संघ

जापान की बन्दी छावनियों में स्थित भारतीय सैनिकों में भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के साथ ही वहाँ के सामान्य नागरिकों में भी इस आन्दोलन का आरम्भ किस प्रकार हुआ—इसकी जानकारी प्राप्त कर लेना भी परमावश्यक है। जैसे ही जापानी मलय नगर में प्रविष्ट हुए वैसे ही उनकी 'हिकारी किकान' नामक संस्था के प्रोत्साहन से 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' अर्थात् भारतीय स्वतन्त्रता संघ पेनांग, ईपो, क्वालालम्पुर, सिंगापुर इत्यादि प्रमुख नगरों में स्थापित हो गया। ये सब शाखाएँ अपने-अपने प्रान्त में एक ही प्रकार का कार्य करने लगीं। वहाँ के भारतीय नागरिक श्री एन० राघवन तथा श्री के० पी० के० मेनन ये दोनों मालाबार-निवासी बैरिस्टर, इनके साथ ही बंगाली बैरिस्टर श्री गोहो, आदि नेता अपनी-अपनी शाखाओं के प्रमुख अन्य नागरिकों की सहायता से कार्य करने लगे थे। जापानी राज्य-प्रणाली के अनुसार प्रत्येक नागरिक के पास अपना 'परिचय-पत्र' होना आवश्यक था। प्रत्येक घर में वहाँ के स्थायी निवासी अपने घर में हुए जन्म और मृत्यु को रजिस्टर कराते थे और यदि कोई एक रात के लिए भी उनके घर पर अतिथि आता तो उसके पूर्ण परिचय-सहित उसके आने के कारण का ब्यौरा आदि लिखने के लिए एक निर्वेतन व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। प्रत्येक दस घरों पर एक प्रमुख की नियुक्ति भी की जाती थी। वहाँ का नियम था कि इस पंजीकरण का कार्य वह प्रमुख बिना किसी प्रकार का वेतन आदि लिये सम्यक् प्रकारेण संचालित करता रहे। प्रत्येक बस्ती के दस-दस घरों के ये प्रमुख अधिकारी उस-उस बस्ती की पुलिस चौकी के मुख्य अधिकारी के अन्तर्गत कार्य करते थे। इस प्रकार की व्यवस्था से सरकार की कोई भी आज्ञा एक सामान्य से सामान्य नागरिक तक शीघ्रातिशीघ्र पहुँच जाया करती थी। सब लोगों में समान रूप से काम बाँट देने से न किसी पर बोझ पड़ता था, न इतने बड़े संगठन के लिए कोई व्यय-भार पड़ता था। युद्ध अथवा इसी प्रकार के संकट के समय उन

विभिन्न बस्तियों के दो-दो वयस्क पुरुष बारी-बारी से अपनी बस्ती में पहरा देने के लिए नियुक्त किए जाते थे। दिन के समय वायुयान के आक्रमण होने पर घर में स्थित लोग अपने-अपने घरों के आगे यातायात तथा अन्य सबको रोकने के लिए लाल चिह्न लगाते थे। शत्रुओं के विमान जाने की सूचना मिलते ही लाल चिह्नों के स्थान पर नीले चिह्न लगाते थे। आग लगानेवाले गोलों के गिरने पर उन्हें बुझाने के लिए प्रत्येक घर के सामने एक पीपा महीन रेत, लम्बी-लम्बी लोहे की सलाखें, फावड़े आदि रखते थे। यह सब कार्य सुनियोजित रीति से किया जाता था।

हर दस घरों में से एक घर के प्रमुख व्यक्ति को ही उन दस घरों में अनाज बाँटने का काम सौंपा जाता था। इस प्रकार सारे देश में एक कुटुम्बात्मक भावना निर्माण करके, घर की भाँति प्रत्येक व्यक्ति से देश के प्रतिदिन के कामं केवल कर्त्तव्य मानकर सावधानी से, किन्तु किसी प्रकार का वेतन दिए बिना करवा लेना जापानी राज-व्यवस्था की विशेषता है।

इस व्यवस्था के अनेक लाभ हैं। हम देश के एक उत्तरदायी नागरिक हैं, अपने शारीरिक तथा पारिवारिक कर्त्तव्य जितनी तत्परता से करते हैं उतनी ही तत्परता से देश का कर्त्तव्य निभाना भी आवश्यक है—यह तत्त्व किसी भी पाठशाला अथवा विद्यालय में गए बिना भी प्रत्येक व्यक्ति के मन में दृढ़तापूर्वक स्थान बना लेती है। यदि किसी कार्य के लिए वेतन लिया जाय तो हम तो किराए पर लिये गए हैं—यदि पैसे मिलेंगे तो काम करेंगे, नहीं तो इस काम की किसको चिन्ता है ? काम न करते हुए भी यदि पैसे मिल जायँ तो फिर तो बहुत ही अच्छा है—उससे इस प्रकार की विकृत भावनाएँ निर्माण होती हैं। इसके विपरीत कुछ भी वेतन लिये बिना केवल अपने देश का कर्त्तव्य मानकर कुछ काम करने की भावना प्रत्येक व्यक्ति को बाल्यकाल से ही अनुशासन के रूप में सिखाई जाने पर अन्य गुणों की ही भाँति यह अनमोल देशभक्ति भी बढ़ती है।

इस राष्ट्र-व्यवस्था का दूसरा लाभ यह होता है कि कोई भी आज्ञा या आदेश राष्ट्रप्रमुख से लेकर देश के कोने-कोने में चुटकी बजाते ही पहुँच सकता है, तथा किसी प्रकार की गड़बड़ न होते हुए भी सारा देश उस आदेश का पालन करता है। देश की व्यवस्था, अनुशासन, उत्तरदायित्व का भार समानरूप से बाँटा जाना तथा इतना बड़ा राज्य-शासन बिना व्यय के चलना, ऐसे अनेक लाभ इस व्यवस्था से होते हैं। जापानी लोगों ने जिन-जिन प्रान्तों पर अधिकार किया, उन-उन प्रान्तों में जापानी व्यवस्था पर आधारित राज्य-व्यवस्था शीघ्र ही चालू कर दी थी।

भारतीय लोगों में इस प्रकार के संगठन का कार्य उन्होंने 'भारतीय स्वतन्त्रता संघ' की स्थापना करके उस संस्था के हाथ में सौंप दिया। मलयाई, चीनी तथा ऐसे ही अन्य नागरिकों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष जापानियों से ही था। जापानियों ने कभी भी उनकी स्वतन्त्र संस्थाएँ स्थापित होने नहीं दीं। इसी से यह सिद्ध होता है कि जापानियों के मन में भारतीय लोगों के प्रति एक विशेष प्रकार की सहानुभूति की भावना थी। प्रमुख नगरों के भारतीय लोगों ने ऐसे स्वतन्त्रता संघों के कार्यालयों में जाकर शीघ्र ही अपने नाम लिखवाए। उन्हें भारतीय स्वतन्त्रता संघ के प्रमुख अधिकारी के हस्ताक्षर के छपे हुए कार्ड दिए गए। इस कार्ड पर उस व्यक्ति का पूर्ण परिचय अंकित होता था। इसी से उसकी नागरिकता भी सिद्ध होती थी। किन्तु जिसके पास ऐसा परिचय-पत्र न हो उस पर सन्देह किया जाना स्वाभाविक था। अनाज आदि भी इसी कार्ड के आधार पर दिया जाता था। अतः यह नाम लिखवाने का कार्य बड़ी सहजता से सम्पन्न हो जाता था।

अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' नीति के समान जाति, वंश इत्यादि की व्यर्थ की बातें इस परिचय-पत्र में नहीं होती थीं। सुदूरपूर्व के सारे प्रदेशों में जापानी राज्य आरम्भ हो जाने पर प्रत्येक स्थान में भारतीय स्वतन्त्रता संघ की स्थापना को प्रोत्साहन दिया गया और इस प्रकार सारे भारतीय लोगों के नाम अंकित कर लिये गए। परिणामस्वरूप इतने विस्तृत भाग में भी भारतीय नागरिकों को एकत्रित होने का सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया।

उधर स्वयं जापान में कै० रासबिहारी बोस, जो श्री सावरकर के समकालीन क्रान्तिकारी थे, श्री आनन्द मोहन सहाय, हनुमान व्यायाम मण्डल के श्री देशपाण्डे, पूना के श्री सुपनेकर इत्यादि लोग उस समय कार्यरत थे। उग्र क्रान्तिकारी, कट्टर देशभक्त, वृद्ध अनुभवी व्यक्ति तथा जापानी बड़े अधिकारियों से अच्छी मित्रतावाले श्री रासबिहारी बोस इस संगठन के एकमात्र नेता थे। जापान में स्थित भारतीय स्वतन्त्रता संघ के अध्यक्ष-पद तथा सुदूरपूर्व सारे भारतीय संगठनों के प्रमुख के रूप में उन पर दोहरी जिम्मेदारी डाली गई थी। उस दायित्व को उन्होंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के वहाँ आने तक बहुत ही भली प्रकार निभाया था।

जब जापान ने युद्ध की घोषणा की, तुरन्त ही अवसर का लाभ उठाने की दृष्टि से रासबिहारी बोस ने एक संगठन खड़ा कर दिया। उस समय युद्ध में विजय प्राप्त कर जापान ने जिस-जिस प्रदेश पर अधिकार किया, उस-उस प्रदेश में जापानी अधिकारियों की सहायता से रासबिहारी बोस ने जान की बाजी लगाकर भारतीयों के संगठन का कार्य पूर्ण किया।

सुदूरपूर्व के अन्य क्षेत्रों से मलय, सिंगापुर तथा ब्रह्मदेश में ही भारतीय लोगों की सबसे अधिक संख्या थी। ब्रह्मदेश में स्थित लाखों भारतीय तथा लगभग सारी सेनाएँ, अंग्रेजों के पीछे हटते ही मैदानी रास्तों से भारत भाग गईं। मलय में युद्धबन्दियों के रूप में तथा नागरिक के नाते से भी काफी भारतीय लोग थे। लन्दन से सिंगापुर तक यदि पृथिवी ही होती, मध्य में समुद्र न होता तो, वे भी भाग गए होते। परन्तु सिंगापुर की दक्षिण दिशा में समुद्र फैला पड़ा था। जमीन ही न रही तथा भाग निकलने का कोई और चारा ही न रहा। इसलिए सिंगापुर द्वीप में अटके हुए लोग भी जापानियों की शरण में आ गए। भारतीय नागरिक संख्या में अधिक होने के कारण मलय तथा सिंगापुर ही सुदूरपूर्व के भारतीय लोगों के लिए भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का केन्द्र बनना तो उचित ही था।

सुदूरपूर्व के सब भारतीय लोगों के संगठन के लिए कैप्टन रासबिहारी बोस ने टोकियो में एक छोटा-सा सम्मेलन करने का निश्चय किया। सन् 1942 में 28 मार्च से 30 मार्च तक इस परिषद् का अधिवेशन हुआ। मलय के भारतीय नागरिकों की ओर से गोहो, मेनन और राघवन उस टोकियो-सम्मेलन में सम्मिलित हुए। उसी समय एक दुःखान्त दुर्घटना घटित हो गई। ज्ञानी प्रीतमसिंह, स्वामी सत्यानन्द पुरी, कैप्टन मुहम्मद अकरम तथा के०ए०अय्यर टोकियो-सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए जिस वायुयान से यात्रा कर रहे थे, वह वायुयान मार्ग में दुर्घटनाग्रस्त हो गया। परिणामस्वरूप इन सभी लोगों की उस दुर्घटना में मृत्यु हो गई।

स्वामी सत्यानन्द पुरी का यहाँ पर, पाठकों को संक्षिप्त-सा परिचय करा देना आवश्यक होगा। लगभग 36 वर्ष के युवक संन्यासी श्री पुरी स्याम की राजधानी में कई वर्ष से रह रहे थे। वहाँ रहते हुए उन्होंने स्यामी भाषा पर अच्छा अधिकार जमा लिया था। मराठी और हिन्दी की ही भाँति स्यामी भाषा भी संस्कृतनिष्ठ भाषा है। स्वामी पुरी संस्कृत के ज्ञाता थे, अतः उन्हें स्यामी भाषा सीखने में सुविधा हुई। परिणामस्वरूप उन्होंने स्यामी भाषा में अनेक पुस्तकों की रचना की। 'थाई-भारत कल्चरल एसोसिएशन' अर्थात् 'स्याम-भारत सांस्कृतिक संस्था' की स्थापना करके, उसके माध्यम से स्याम में भारतीय संस्कृति का बीजारोपण तथा उसकी वृद्धि किस प्रकार हुई, इसका प्रतिपादन किया। स्यामी नागरिक भी उनको अपना पूज्य मानते थे। वे स्याम में सर्वत्र विख्यात थे। स्वामी पुरी के इस महत्त्वपूर्ण कार्य से हम लोगों को जितना परिचित होना चाहिए उतना हम परिचित नहीं हैं। वहाँ पर उनका अनुकरण करनेवाला भी कदाचित् ही कोई हो। उस समय स्याम के प्रधानमन्त्री पिबुल संग्राम थे। उन्होंने एक बार स्वामी पुरी

जी के विषय में बोलते हुए कहा था, "भगवान बुद्ध के बाद इस भूमि पर यदि कोई दूसरा महान् व्यक्ति हुआ है तो वह स्वामी सत्यानन्द पुरी महाराज ही हैं।"

सिंगापुर से जनरल मोहनसिंह और कर्नल गिल भी सैनिकों के प्रतिनिधि बनकर उस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए गए थे। उपरिवर्णित जापान के कुछ प्रमुख नागरिक तथा इधर-उधर से कुछ अन्य लोग भी इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे। इसके अतिरिक्त हांगकांग, शंघाई, मंचूरिया और एकमात्र भारतीय नागरिक मालाबार-निवासी नायर थे। वे सब उस सम्मेलन में प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए।

इस सम्मेलन में मुख्यतया निम्न चार प्रस्ताव पारित किये गए—

1. सुदूरपूर्व में प्रत्येक प्रान्त में भारतीय स्वतन्त्रता संघ की स्थापना करके भारतीय नागरिकों को संगठित किया जाय और उसके माध्यम से भारत की खोई हुई स्वतन्त्रता को प्राप्त किया जाय।

2. भारतीय स्वतन्त्रता सेना का गठन किया जाय।

3. यह सेना भारत-भूमि पर तथा अन्यत्र भी सभी स्थानों पर भारतीय अधिकारियों के नेतृत्व में युद्ध करे।

4. इन सब बातों पर सम्यक् विचार-विमर्श करने के लिए स्याम की राजधानी बैंकाक में एक बृहत् सम्मेलन आयोजित किया जाय।

सम्मेलन सम्पन्न होने पर सब प्रतिनिधि अपने-अपने देशों को लौटे और वहाँ पर स्थित भारतीय नागरिकों ने उन्हें सम्मेलन में पारित प्रस्तावों के विषय में सूचना दी। चारों ओर उत्साहपूर्ण वातावरण फैल गया। बैंकाक में होनेवाला सम्मेलन प्रतिनिधि रूप में होनेवाला था। फिलिपीन्स, बोर्नियो, मलय, जावा, सुमात्रा, हिन्द-चीन, चीन, स्याम, ब्रह्मदेश आदि देशों के सब भारतीयों ने अपना संगठन बनाकर उनमें से इस सम्मेलन-संयोजन के लिए अपने प्रतिनिधि चुन लिये।

जापान ने जब युद्ध की घोषणा की थी तो उसके तीन-चार मास के भीतर ही उसने सुदूरपूर्व के अपने सब शत्रुओं को पराजित कर दिया था। "यदि जापानियों ने युद्ध किया तो उन्हें ए०बी०सी०डी० के चार शक्तिशाली शत्रुओं द्वारा घेर लिया जाएगा, यह उन्हें नहीं भूलना चाहिए।" यह कहकर अंग्रेज लोग जापानियों को डराया करते थे। 'ए' से अभिप्राय आस्ट्रेलिया, 'बी' से अभिप्राय ब्रिटेन, 'सी' से अभिप्राय चीन तथा 'डी' का अभिप्राय डच से था। परन्तु इस प्रदेश में एक ही झटके में घुसकर जापानियों ने इस ए०बी०सी०डी० शत्रुओं के घेरे को तोड़कर एक ही फूँक में उनके हवाई किले की फूँक निकाल दी।

8 दिसम्बर 1941 को युद्ध आरम्भ करने के उपरान्त जापान ने कितनी शीघ्रता से एक-एक प्रान्त पर अपना अधिकार कर लिया, उसका विवरण निम्न प्रकार है—

पैसिफिक महासागर का ग्वाम द्वीप 13 दिसम्बर को;

पेनांग द्वीप 20 दिसम्बर को;

वेक द्वीप 22 दिसम्बर को;

हाँगकांग 25 दिसम्बर को;

फिलिपीन्स की राजधानी मनीला नगर 2 जनवरी 1942 को;

मलय द्वीपकल्प 1 फरवरी को;

अण्डमान-निकोबार द्वीप 23 मार्च को;

माण्डले : ब्रह्मदेश : 1 मई को।

इस प्रकार यह सारा प्रदेश अति शीघ्र जापान के नियन्त्रण में आ गया था। फिर आस्ट्रेलिया से लेकर भारत की पूर्वी सीमा तक जापानियों का शासन आरम्भ हुआ। तब इस विशाल क्षेत्र में रहनेवाले पच्चीस लाख भारतीयों का एक संगठन आरम्भ किया गया। भारतीयों को संगठित करने में निश्चित ही जापानियों का अपना स्वार्थ रहा होगा, अन्यथा उन्होंने भारतीयों के संगठन के प्रति इतनी आस्था दिखाकर उनकी इतनी सहायता क्यों की ?

जापानियों को भारत पर राज्य करना था, इस प्रकार का जो तर्क देते हैं वह किसी भी प्रकार उचित नहीं है। अंग्रेज जापानियों के प्रमुख शत्रु थे। अंग्रेजों की सारी शक्ति विशाल भारतीय सेना और भारतीय माल पर आश्रित थी। थोड़े-से भारतीयों को प्रोत्साहित करके उनसे भारत की जनता में चेतना उत्पन्न करके अंग्रेजों को वहाँ से भगाकर भारत को स्वतन्त्र कर देने पर अंग्रेजों को पूरी तरह से अपनी शरण में लाने के लिए यह आवश्यक था। जब भारत अंग्रेजों के हाथ से निकल जाएगा तब अंग्रेजों की बहुत बड़ी शक्ति समाप्त हो जाएगी—यह तथ्य जापानी भली प्रकार समझते थे। भारतीयों को संगठित करने के लिए जापान के प्रवृत्त होने में उसका अपना स्वार्थ भी कम न था।

बंदी छावनी में हर टुकडी को 'आजाद हिन्द' नामक एक-दो पृष्ठों का पत्रक दो या तीन की संख्या में मिलता था। इसकी लिपि रोमन होती थी और भाषा हिन्दी होती थी। सम्भवतया उसका कार्य पंजाबियों के संरक्षण में चलता होगा, तभी तो पत्रक में प्रतिदिन के प्रयोग में आनेवाली भाषा के शब्द मिलते थे। वे सामान्य लोगों को बड़े कठिन व अटपटे लगते थे, क्योंकि उनमें अधिकांशतया उर्दू, फारसी और अरबी के शब्द होते थे।

स्याम देश क्योंकि मलय के पास ही था, अतः मलय से रेलगाड़ी के माध्यम से वहाँ की परिषद् में सम्मिलित होने के लिए अनेक प्रतिनिधियों को भेजना सम्भव था। मलय सम्मेलन में अन्य प्रदेशों की अपेक्षा भारतीय अधिक थे। उस सम्मेलन में 'स्वतन्त्रता सेना' की स्थापना करनी थी, इसलिए सेना के भी अनेक प्रतिनिधि भेजने थे। प्रत्येक छावनी से दो-दो प्रतिनिधियों को इस सम्मेलन में भेजने का निश्चय किया गया था।

इस सम्मेलन में मैं भी उपस्थित होना चाहता था और मैंने उसके लिए यत्न भी किया। सैनिकों के प्रतिनिधि के रूप में मेरे चयन में बाधा आ गई, क्योंकि ओहदे की दृष्टि से मुझसे वरिष्ठ अनेक अधिकारी थे। तब मैंने कहा कि मुझे महाराष्ट्रियनों का प्रतिनिधि बनाकर भेजा जाय, क्योंकि महाराष्ट्र का कोई प्रतिनिधि वहाँ नहीं जा रहा है। किन्तु उसके लिए भी कह दिया कि मेजर भोंसले उसमें सम्मिलित हो रहे हैं। मुझे अपनी विवशता और अपने बन्दी जीवन पर निराशा ने घेर लिया।

उसी बीच सैगाँव आकाशवाणी केन्द्र पर मेरी नियुक्ति हो गई तो मैं 21 जून 1942 को वहाँ के लिए प्रस्थान कर गया। स्याम में सम्पन्न होनेवाला सम्मेलन 15 से 23 जून 1942 तक हुआ। उसमें स्याम, मलय, ब्रह्मदेश, हिन्द चीन, मंचूरिया, जापान, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपीन्स, चीन आदि देशों के कुल मिलाकर सवा सौ प्रतिनिधि उपस्थित थे, जिनमें कुछ महिलाएँ भी थीं। बैंकाक के विभिन्न होटलों में इन प्रतिनिधियों के निवास की व्यवस्था की गई थी। स्याम के तत्कालीन प्रधानमन्त्री पिबुल संग्राम और उनकी सरकार ने इस सम्मेलन के संयोजन में सहयोग किया था।

वहाँ के एक विशाल सभागार में भारत, स्याम तथा जापान देशों के राष्ट्रीय ध्वज लहराए गए थे। सभागार को रंग-बिरंगी पताकाओं के साथ-साथ देशभक्तों के चित्रों आदि से भी सजाया गया था। श्री रासबिहारी बोस उसके अध्यक्ष थे। जापान के दो महाराष्ट्रियन प्रतिनिधि के० देशपाण्डे तथा श्री विनायकराव सुवनेकर भी उसमें उपस्थित थे। सभागार-स्थल पर ध्येय-वाक्यों से अंकित बैनर भी लगाए गए थे। सम्मेलन सात दिन तक चला और इसमें श्री रासबिहारी बोस, जनरल मोहनसिंह, श्री देवनाथ दास, आदि-आदि महानुभावों के वीरता से परिपूर्ण ओजस्वी भाषण हुए। स्याम-सरकार ने सबका स्वागत किया। वहाँ भारतीयों की भी अलग से सभाएँ आयोजित की गई थीं। अन्त में 20 महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित कर सम्मेलन समाप्त हुआ। यहाँ पर ही आगामी स्वतन्त्रता-आन्दोलन की नींव रखी गई। परिषद् में अग्रलिखित प्रस्ताव पारित किये गए—

1. भारत को पूर्णतया स्वतन्त्र करना इस सम्मेलन का उद्देश्य है और उसे सम्पन्न करने का समय अब आ गया है।

2. स्वतन्त्रता की प्रप्ति के लिए उचित आन्दोलन चलाने का दायित्व यह परिषद् स्वीकार करे।

3. अ—अपनी ध्येय-प्राप्ति पर अटूट विश्वास, समस्त हिन्दुओं में परस्पर एकता तथा परम स्वार्थ-त्याग—इन तीन तत्त्वों पर यह आन्दोलन आधारित हो।

आ—हिन्दुस्तान को अविभाजित रखा जाय।

इ—सब कार्य राष्ट्रीय तत्त्वों पर आधारित हो। उसमें किसी भी प्रकार के जातीय, प्रान्तीय, पंथीय भेदभाव न हो।

ई—हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय सभा 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' ही स्वदेश की एकमेव राष्ट्रीय संस्था होने के कारण उस संस्था के उद्देश्यों से मिलती-जुलती अपने कार्यों की रूपरेखा हो।

उ—हिन्दुस्तान की भविष्य की राज्य-प्रणाली भारतीय जनता जो निश्चित करेगी, वह रहेगी, उसमें कुछ परिवर्तन का हमें अधिकार नहीं होगा।

4. भारतीय स्वतन्त्रता संघ की ओर से स्वतन्त्रता-आन्दोलन चलाया जाएगा।

5. स्वातन्त्र्य युद्ध के लिए भारतीय स्वतन्त्रता सेना का गठन किया जाय।

6. भारतीय स्वतन्त्रता सेना के निम्न लिखित विभाग हों—

अ—कार्यकारी मण्डल, आ—प्रतिनिधि मण्डल, इ—प्रान्तीय समितियाँ, ई—स्थानीय शाखाएँ।

7. कार्यकारी मण्डल में अध्यक्ष के साथ-साथ चार सदस्य और हों। उनमें से कम-से-कम दो सदस्य **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** से लिये जाएँ। कार्यकारी मण्डल के अध्यक्ष के रूप में श्री रासबिहारी बोस को चुना जाता है।

8. इस परिषद् द्वारा निर्धारित रूपरेखा के आधार पर ही सारा कार्य किया जा रहा है, इसका दायित्व कार्यकारी मण्डल का होगा। इस कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने तथा भविष्य में उत्पन्न होनेवाली समस्याओं के समाधान का दायित्व भी सब प्रकार से कार्यकारी मण्डल पर होगा।

9. सुदूरपूर्व के सभी भारतीय युद्धबन्दियों को अपने संरक्षण में लेने के लिए यह कार्यकारी मण्डल जापान सरकार से अनुरोध करेगा।

10. भारतीय स्वतन्त्रता सेना के किसी भी पद पर किसी अन्य देशवासी की नियुक्ति नहीं होगी अथवा किसी अन्य देश का इसके साथ किसी भी अन्य प्रकार का सम्बन्ध नहीं होगा।

11. भारतीय स्वतन्त्रता सेना के गठन होते ही उसे स्वतन्त्र राष्ट्रीय सेना का दर्जा प्राप्त होगा, जिससे भारतीय स्वतन्त्रता सेना जापान अथवा अन्य स्वतन्त्र राष्ट्र की सेना के समकक्ष होगी।

12. अ—भारतीय स्वतन्त्रता सेना हिन्दुस्तान की भूमि पर ही युद्ध करेगी तथा वह भी अंग्रेज तथा उनकी सहायता करनेवाले देशों के विरोध में।

आ—'हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता प्राप्त कर उसकी रक्षा करना' इसी एक अन्तिम ध्येय का अनुसरण करने के लिए जो कुछ करना पड़ेगा वह सब यह सेना करेगी। परन्तु और किसी भी कारण के लिए भारतीय स्वतन्त्रता सेना का प्रयोग नहीं किया जाएगा।

13. भारतीय स्वतन्त्रता सेना का सैनिक 'भारतीय स्वतन्त्रता संघ' का भी सदस्य माना जाएगा तथा उस संघ के प्रति एकनिष्ठ रहना उसका कर्त्तव्य होगा।

14. जनरल ऑफिसर कमाण्डिग मोहनसिंह भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मुख्य अधिकारी होंगे तथा वे कार्यकारी मण्डल के परामर्श से इस सेना का संचालन करेंगे।

15. अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय सभा (कांग्रेस) के ध्येय से अपना ध्येय मिलता-जुलता हो, इस बात की पुष्टि करनी होगी।

16. कार्यकारी मण्डल जब उचित समझे अथवा जब भी आवश्यकता पड़ जाय तो वह किसी अन्य राष्ट्र से सहायता प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र होगा।

17. सुदूरपूर्व के सब भारतीयों से जितना आवश्यक हो उतना धन एकत्रित करने के पूर्ण अधिकार कार्यकारी मण्डल को दिए जाते हैं।

18. यह परिषद् निपान (जापान) सरकार से निवेदन करती है कि सुदूरपूर्व के किसी भी निरपराध भारतीय व्यक्ति को वह शत्रु न समझे और न ही उसकी सम्पत्ति को शत्रु की सम्पत्ति समझे।

19. परिषद् मित्र राष्ट्रों से निवेदन करती है कि वह भारतीय राष्ट्रीय ध्वज तिरंगे को मान्यता प्रदान करे।

20. श्री सुभाषचन्द्र बोस से प्रार्थना की जाती है कि वे इस प्रदेश में आएँ तथा निपान (जापान) सरकार से निवेदन किया जाय कि उनको यहाँ लाने की व्यवस्था करे।

इस प्रकार 20 महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित करने के उपरान्त सम्मेलन सम्पन्न घोषित किया गया। दुर्योग से लगभग उसी समय बैंकाक नगर में बाढ़ का प्रकोप फैल गया। बैंकाक नगर के निचले स्तर पर बसे होने के कारण प्रति आठ-दस

वर्ष में एक बार वहाँ बाढ़ आती रहती है; उसी क्रम में इस बार वह बाढ़ आई। बाढ़ में प्रत्येक घर की प्रथम मंजिल डूब गई। लोग दूसरी मंजिल पर रहने लगे और आवश्यक कार्य होने पर ही नाव के आश्रय लोग घर से बाहर निकल पाते थे। इस स्थिति में सब्जी, फल आदि दैनंदिन के उपयोग में आनेवाली सामग्री का अभाव होना स्वाभाविक था।

इसी अवधि में 'हिकारी किकान' के मुख्य अधिकारी के पद पर मेजर फुजीवारा के स्थान पर कर्नल इवागुरु को नियुक्त कर दिया गया। जापानी युद्ध-मण्डल 'हिकारी किकान' को क्या आदेश-निर्देश देता था, यह रहस्य किसी को विदित नहीं था। अत: भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की ध्वजा धारण करनेवाले अधिकारियों को यह आभास हुआ कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के विषय पर इस विभाग को अन्तिम अथवा सर्वाधिकार प्राप्त नहीं है, अपितु यह विभाग तो केवल टोकियो युद्ध मण्डल के साथ भारतीय अधिकारियों से तालमेल बैठाने के कार्य में ही सहायक मात्र है, अर्थात् भारतीय जन, उनकी संस्कृति, स्वभाव, उनकी भाषा (हिन्दी और अंग्रेजी) जाननेवाले व्यक्ति ही इस विभाग में नियुक्त किए जाते थे। इस विभाग के साधारण सिपाही से लेकर कर्नल और जनरल तक के पद के अधिकतर सब लोग सैनिक ही होते थे। सैनिकों के अतिरिक्त दो-चार लोग ही इस विभाग में नियुक्त किये गए थे।

जनरल मोहनसिंह के कार्यकाल में इस विभाग में एक मनोरंजक घटना घटित हुई थी, उसका उल्लेख करना यहाँ पर आवश्यक है।

अंग्रेजों की सेना में आस्ट्रेलिया में निर्मित औटाए हुए दूध के डिब्बे सब सैनिकों को दिए जाते थे। सिंगापुर के पतन के बाद वहाँ से दूध आना बन्द हो गया। स्थानीय ग्वालों का धंधा भी युद्ध के कारण बन्द-सा हो गया था। ऐसी स्थिति में प्रत्येक सैनिक तो क्या, रुग्ण सैनिकों को भी दूध मिलना बन्द हो गया। जनरल मोहनसिंह ने 'हिकारी किकान' के लेफ्टिनेंट कुनि झगा को कहा कि इस विषम परिस्थिति में यदि दूध नहीं मिलता है तो कम से कम हमारे लिए डेढ़ सौ गायों की व्यवस्था कर दी जाय।

जापानी भाषा में गाय और बैल के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त होता है 'उशी'। इसी प्रकार घोड़ा और घोड़ी के लिए 'उमा' शब्द है। यदि अन्तर करना हो तो 'ओउशी' का अर्थ होता है बैल और 'मेउशी' का अर्थ होता है गाय। ले० कुनि झगा को केवल यह स्मरण था कि भारतीय स्वतन्त्रता सेना को डेढ़ सौ 'उशी' चाहिए। उन्होंने कर्नल इवागुरु की सम्मति से मलय के विभिन्न विभागों को डेढ़ सौ 'उशी' एकत्रित करके भेजने के लिए पत्र लिख दिए।

एक या दो मास बाद 'हिकारी किकान' के एक सैनिक ने डेढ़ सौ बैल लाकर भारतीय अधिकारियों को सौंप दिए। जनरल मोहनसिंह को इसकी सूचना दी गई। जनरल मोहनसिंह जब अगली बार 'हिकारी किकान' के अधिकारियों से मिलने गए तो अपने साथ अपना दुभाषिया ले गए और उन्होंने वहाँ जाकर बताया कि डेढ़ सौ गाय के स्थान पर हमारे पास डेढ़ सौ बैल भेजे गए हैं। उनकी हमें आवश्यकता नहीं है। हमें तो दूध के लिए गायों की आवश्यकता है। यह बात अधिकारियों को समझने में बड़ी कठिनाई हुई कि क्या गलत हो गया है। अन्त में जब गलती समझ में आ गई तो उन्होंने बैलों को वापस भेजने की व्यवस्था कर दी।

इसका परिणाम यह हुआ कि 'हिकारी किकान' के सारे अधिकारी अपने बिचौलिये की भूमिका को भूलकर ऐसा व्यवहार करने लगे कि मानो जापान सरकार की ओर से इस आन्दोलन के सारे निर्णयात्मक अधिकार उनके पास ही हैं। उनके इस प्रकार के व्यवहार से आगे चलकर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को बहुत कष्ट हुआ, जिसका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा।

'हिकारी किकान' के इस प्रकार के व्यवहार से इस आन्दोलन को क्या क्षति हुई, इस विभाग के प्रमुख कार्य क्या थे तथा इसके स्थान पर कौन-सी व्यवस्था होनी चाहिए थी—ये सब बातें आगे किसी अध्याय में स्पष्ट की जाएँगी। अब तो 'हिकारी किकान' के सारे अधिकारी लगभग यह प्रकट करते थे कि यह स्वतन्त्रता- आन्दोलन है क्या, यह तो हमारे हाथ का एक खिलौना मात्र है; हम जैसा निर्देश देंगे उसके अनुसार ही इन भारतीयों को चलना होगा। परिणामस्वरूप 'हिकारी किकान' के अधिकारियों और जनरल मोहनसिंह के मध्य कुछ तनातनी का वातावरण बनने लगा।

बैंकाक सम्मेलन में पारित सारे प्रस्ताव आदि का विवरण 'हिकारी किकान' के माध्यम से जापान सरकार के पास भिजवा दिए गए थे। बहुत समय बीत गया किन्तु टोकियो से इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का आभास नहीं मिला। 'हिकारी किकान' के अधिकारियों ने उसे अपने मुख्यालय में ही दबाए रखा है, अथवा उसका केवल सारांश लिखकर जापान सरकार का मन कलुषित करने के लिए अपनी कुछ विपरीत टिप्पणी के साथ भेजी है; या फिर उस पत्र के साथ उसमें उल्लिखित कुछ महत्त्वपूर्ण शर्तों को न मानने का अपना सिफारिशी पत्र भी साथ में भेजा है, इत्यादि बातों को जानने का कोई साधन नहीं था।

क्योंकि, एक तो 'हिकारी किकान' की सारी गतिविधि गुप्त चलती थी;

दूसरे, जापानी लिपि ऐसी थी जिसको पढ़ पाना हर किसी के लिए सम्भव नहीं था और भारतीयों के पास जासूसों का भी अभाव था और उन्हीं के राज्य में उन्हीं पर जासूसी करने का जोखिम भी उठाया नहीं जा सकता था, इस कारण उस पत्र की क्या परिणति हुई यह जानने का कोई मार्ग भारतीयों के पास नहीं था।

बहुत दिनों बाद जब कभी मिलने का अवसर आया तो उस समय इसका स्मरण दिलाने पर भी जापानियों की ओर से गोलमोल ही उत्तर प्राप्त हुआ। उसके बाद 27 नवम्बर 1942 को पुन: एक स्मरणपत्र 'हिकारी किकान' के माध्यम से ही निप्पन सरकार के पास भेजा गया। किसी भी पत्र का जापानी भाषा में अनुवाद होने पर ही वह जापानी विभागों अथवा जापान सरकार के पास भेजा जाता था। यह अनुवाद का कार्य भी 'हिकारी किकान' के पास ही था। वह किस प्रकार का अनुवाद करते हैं इस पर शंका नहीं की जा सकती थी, न उस पर टिप्पणी की जा सकती थी और न ही अपना मत व्यक्त किया जा सकता था। इस सारी प्रक्रिया में बहुत सन्देह के लिए तो स्थान था, किन्तु उसके निराकरण का कोई उपाय नहीं था। जापान सरकार को भेजे गए पत्र का सारांश कुछ इस प्रकार था—

1. भारतीय स्वतन्त्रता संघ के बैंकाक सम्मेलन का जो विवरण आपको भेजा गया था, वह प्राप्त हो गया होगा।

2. हम समझते हैं कि आपको वे सारे प्रस्ताव मान्य ही होंगे। यदि उनमें कुछ सन्देह हो तो कृपया उसकी ओर संकेत कीजिए तथा उसके कारण का भी उल्लेख कीजिए।

3. अंग्रेजों तथा उसी प्रकार के अन्य शत्रु राष्ट्रों को विपरीत एवं शरारतपूर्ण प्रचार करने का अवसर न मिले—इसके लिए समानता के आधार पर परस्पर एक करार कर लेना उपयुक्त होगा।

4. भारतीय स्वतन्त्रता सेना को मान्यता देकर उसे आवश्यक वे सब सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

इस पत्र पर कार्यकारी मण्डल के अध्यक्ष के नाते श्री रासबिहारी बोस के हस्ताक्षर थे। किन्तु बहुत समय तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त भी इस पत्र का भी कोई समाधानकारक उत्तर प्राप्त नहीं हुआ।

इस विचित्र स्थिति में जनरल मोहनसिंह बेचैनी अनुभव कर रहे थे।

''आप व्यर्थ का दायित्व अपने सिर पर ले रहे हैं। आपने ऐसी भयंकर भूल की है जैसी कि आज तक किसी ने भी नहीं की होगी। यदि आप कभी अंग्रेजों के हाथ लग गए तो वे आपको फाँसी पर लटकाए बिना नहीं छोड़ेंगे। न केवल आपको अपितु आपके परिवार को भी उसी प्रकार कष्ट देंगे। जापान जैसे

साम्राज्य-लिप्सु के गुट से मिलना उचित नहीं है। अंग्रेज बड़े दयालु स्वभाव के हैं। वे बार-बार इसका निषेध करते हैं। जवाहरलाल नेहरू का भी यही कहना है। फिर आप पर जापानियों के 'पिल्ले' कहकर आप पर गुस्से की बरसात होगी। जापानियों का काम बना नहीं कि वे आपको छोड़कर चल देंगे। देखिए, हमें तो कुछ पता नहीं है। हम यह सब आपके लाभ की दृष्टि से कह रहे हैं। यदि आपको ठीक लगे तो सुनिए, अन्यथा एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल दीजिए। इसमें हमारा कोई स्वार्थ नहीं है। किसी प्रकार से आपका भला हो, हमारा यही उद्देश्य है। अन्यथा हमें इस झंझट में पड़ने का लाभ ही क्या है ?''

इस प्रकार का अनर्गल परामर्श देनेवालों की कमी नहीं थी। ये लोग इस प्रकार का परामर्श नित्यप्रति ही दिया करते थे और आरम्भ से ही देते आ रहे थे। इसके साथ ही 'हिकारी किकान' का इस प्रकार का व्यवहार और जापान सरकार द्वारा की जानेवाली अवहेलना! भारतीय सेना की कुछ टुकड़ियों को किसी न किसी बहाने से कहीं भी ले-जाकर उनका पता भी न चलने देना तथा उनसे कोई सम्पर्क न रखने देना, आठ सौ भारतीय सैनिकों की टुकड़ी को किसी बहाने से अपने प्रयोग के लिए ब्रह्मदेश के उत्तर की सीमा पर ले-जाना, आदि अनेक ऐसी बातों से मोहनसिंह का संतुलन भी बिगड़ने लगा था। वे सोचने लगे कि जापानी लोग अधिक से अधिक क्या करेंगे, मार ही डालेंगे ना ? किसी न किसी के द्वारा तो हम मारे ही जाएँगे, फिर यह नित्य की सिरपीड़ा क्यों ?

चाहे कुछ भी हो, जापानियों के साथ अपनी और रासबिहारी बोस की पहचान होने के कारण वे हमें मारेंगे नहीं, ऐसा जनरल मोहनसिंह के मन में विचार उठता होगा। अतः उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम से स्वयं को अलिप्त करने का मन में निश्चय कर लिया। जब रासबिहारी बोस के कानों में यह विचार पहुँचा तो उन्होंने मोहनसिंह को कुछ और प्रतीक्षा करने का परामर्श दिया। रासबिहारी बोस वयोवृद्ध और अनुभवी व्यक्ति थे। उन्हें दुनियादारी का ज्ञान था एवं कई वर्षों तक जापान में रहने के कारण उनको जापानियों के स्वभाव का भी ज्ञान था।

जनरल मोहनसिंह और उनके साथियों को बोस का परामर्श कुछ जँचा नहीं, अतः उन्होंने इस आन्दोलन से स्वयं को अलिप्त रखने का अपना पक्का निश्चय कर लिया। दिसम्बर मास में उन्होंने एक दिन सब सैनिकों को सम्बोधित करते हुए एक आदेश प्रसारित किया। उसमें कहा, ''इस आन्दोलन पर से मेरा विश्वास अब पूर्णतया उठ गया है। इतने दिन तक इस भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मुख्य अधिकारी के रूप में आपने मुझ पर विश्वास व्यक्त किया; आपने जो शपथ

ली थी, उससे मैं आप सबको मुक्त करता हूँ। इसके बाद प्रत्येक सैनिक अपनी इच्छानुसार अपना मार्ग स्वयं ढूँढे। इसके बाद आपको मिलनेवाले किसी भी आदेश अथवा निर्देश के लिए मैं उत्तरदायी नहीं रहूँगा।''

तदनन्तर जनरल मोहनसिंह ने रासबिहारी बोस के पास अपना लिखित त्यागपत्र भेज दिया। परिणामस्वरूप कार्यकारी मण्डल के अन्य अनेक सदस्यों ने भी अपने-अपने त्यागपत्र भेज दिए। इस पर जापानियों ने सबको स्थानबद्ध कर लिया तथा युद्ध के अन्त तक मोहनसिंह उसी अवस्था में स्थानबद्ध ही रहे।

इस घटना से कुछ दिन पूर्व ही भारतीय स्वतन्त्रता की सेना में सम्मिलित होने के लिए जिन-जिन सैनिकों ने अपने नाम दिए थे, उन्हें अन्य युद्धबन्दियों से पृथक् कर लिया गया था। उनके रहने के लिए विद्याधारी छावनी में स्थान दिया गया था। जनरल मोहनसिंह तथा अन्य अधिकारियों के त्यागपत्र दे देने से सैनिकों को मनमानी करने का अवसर मिल गया। कागज तथा अन्य सामग्री लूट लेना, उन्हें जलाना आदि कार्य करने लगे। किसी-किसी ने तो अपनी खाकी वर्दियाँ बदलकर शहर में जाकर सामान्य नागरिक के रूप में रहना आरम्भ कर दिया था। अन्य कुछ लोग युद्धबन्दियों में सम्मिलित हो गए थे। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य लोग 'किंकर्त्तव्यविमूढ़' बने रह गए थे।

रासबिहारी बोस को यद्यपि जापानियों पर बहुत क्रोध आया था, किन्तु उन्होंने अपने क्रोध को बड़ी चतुराई से भीतर ही भीतर दबा लिया था। इस टूटते हुए आन्दोलन की धुरी को अपने कन्धे से हटाया नहीं था। इस घटना से दो-चार मास पूर्व अर्थात् सितम्बर 1942 के आसपास कर्नल भोंसले इस आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे। उन्हें इस ओर प्रवृत्त करने का श्रेय अधिकांशतया धुले के डॉ० पळशीकर तथा पुणे के पोस्ट-मास्टर गोरे को जाता है। ऐसा स्वयं कर्नल भोंसले ने बातों के प्रसंग में अनेक बार कहा था। मलय की सारी भारतीय सेना में भोंसले ही ओहदे में सबसे वरिष्ठ थे।

श्री रासबिहारी बोस ने उनसे विनती की कि वे स्वतन्त्रता सेना का नेतृत्व वहन करें। ले० क० भोंसले ने उसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। 1942 के फरवरी मास से इस सेना की पुनर्रचना का कार्य उन्होंने आरम्भ कर दिया। उसके बाद 10 फरवरी 1943 को श्री रासबिहारी बोस ने सब सैनिक अधिकारियों की एक विशिष्ट बैठक आयोजित कर उसमें ले० क० भोंसले को 'डायरेक्टर ऑफ मिलिटरी ब्यूरो' घोषित कर दिया।

इस सभा में यह स्पष्ट किया गया कि **'भारतीय स्वतन्त्रता सेना'** सब प्रकार से कार्यकारी मण्डल के प्रति ही उत्तरदायी होगी तथा सेना के वरिष्ठ

अधिकारियों को भी मण्डल के आदेश-निर्देशों का पालन करना होगा।

श्री सुभाषचन्द्र बोस को भी जर्मनी से यहाँ लाने के प्रयत्न चालू हैं—यह सुसमाचार भी उसी समय सुनाकर यह निवेदन किया गया कि कम-से-कम तब तक सब लोग संगठित होकर रहें तथा उनके आने के बाद उनकी सलाह से चाहे तो इस प्रथा में परिवर्तन कर दें।

ले० क० भोंसले ने बड़े धैर्य और बड़ी चतुराई से अनुशासन बनाए रखकर अपना मार्ग निकाला और **भारतीय स्वतन्त्रता सेना**[1] की फिर से रचना की। परिणामस्वरूप उनके तथा श्री रासबिहारी बोस के परस्पर सम्बन्ध अन्तिम समय तक स्नेहिल बने रहे। **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** की फिर से रचना करने के कारण श्री रासबिहारी बोस ने कार्यकारी मण्डल के अध्यक्ष के नाते ले० क० भोंसले को पत्र लिखकर उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की और उनका सम्मान भी किया। श्री बोस तथा श्री भोंसले के बँगले माउँट रोजी पर पास-पास ही थे। थामसन रोड पर **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** का केन्द्रीय मुख्यालय था।

इस समय तक **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** को व्यवस्थित तथा अन्य युद्धबन्दियों से पूरी तरह अलग कोई स्वरूप प्राप्त नहीं था। वह स्वरूप मुख्यतया ले० क० भोंसले के प्रयत्नों से ही प्राप्त हुआ था। उन्होंने जापानी अधिकारियों पर भी अपना सिक्का जमा लिया तथा वे श्री रासबिहारी बोस के भी विश्वासपात्र बन गए। भारतीय स्वतन्त्रता के अधिकारियों तथा सैनिकों में भी वे पूर्ण सहकारिता तथा एकता निर्माण करने में सफल हो गए थे।

श्री सुभाषचन्द्र बोस के वहाँ पहुँचने तक किसी भी प्रकार से हमारे मध्य में जापानी अधिकारी दखल न दें, ऐसी चेतावनी भी उन्होंने जापानी अधिकारियों को दे दी थी। इस प्रकार 2 जुलाई 1943 तक अर्थात् नेताजी के आगमन तक, **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** का भार उन्होंने सम्यक्तया वहन किया।

---

1. भारतीय स्वतन्त्रता सेना ही आज़ाद हिन्द फौज के नाम से प्रसिद्ध हुई।

अध्याय ग्यारह

मेरा सैगाँव गमन

मैं और छावनी के एक अन्य श्री इकबाल 21 जून 1942 को, हमें लेने के लिए आए हुए एक सिख और एक जापानी अधिकारी के साथ, उनकी गाड़ी में सैगाँव जाने के लिए बन्दरगाह की ओर चल दिए। बन्दरगाह से लगभग एक मील के अन्तर पर उनका कार्यालय था। कार वहाँ रुकी और जापानी अधिकारी हम दोनों के पासपोर्ट आदि बनवाकर आधा घंटे बाद वापस आ गए। तदनन्तर हम चले और फिर बन्दरगाह पर जहाज के समीप जाकर रुके। जिस जहाज में हमें जाना था वह 'मिकेमारू' नाम का जापानी जहाज बारह हजार टन का था। यह पाँच-मंज़िला था, किन्तु उस पर काम करनेवाले केवल 200 व्यक्ति ही थे।

हमें निर्धारित स्थान पर बैठाकर वह जापानी अधिकारी जहाज के कप्तान को ढूँढने चला गया और कुछ काल पश्चात् ही उसको लेकर वापस आ गया। कप्तान एक युवक ही था। उसने हमसे हाथ मिलाए और फिर किसी अन्य अधिकारी को बुलाकर उसने उसे निर्देश दिया कि वह हमें नीचे ले-जाकर हमें हमारा कमरा दिखा दे। यह व्यवस्था हो जाने के उपरान्त वह सिख और जापानी अधिकारी हमसे विदा लेकर वापस हो गए। हमारा जहाजवाला कमरा छोटा होने पर भी सब सुविधाओं से सज्ज था। उस दिन लगभग एक बजे मध्याह्न के समय जहाज ने आगे की यात्रा आरम्भ की।

हमको भोजन के समय से पहले ही छावनी से यात्रा के लिए बुला लिया गया था और जब हम जहाज पर पहुँचे तब तक भोजन का समय निकल चुका था। उस समय हमें बहुत भूख लगी हुई थी। किन्तु किसी को भी हमारी इस स्थिति का ज्ञान नहीं था; अतः किसी ने हमसे इस विषय में पूछा भी नहीं। जहाज बहुत बड़ा था और हम उसकी किस मंज़िल पर तथा किस भाग में हैं, यह जानने का कोई साधन नहीं था। भाषा की कठिनाई के कारण कप्तान कहाँ मिलेंगे यह भी किसी से पूछा नहीं जा सकता था। सिंगापुर में रहते हुए जापानियों को थोड़ी-

बहुत अंग्रेजी आती थी, इसलिए काम चल जाया करता था; किन्तु यहाँ चारों ओर साधारण सिपाही ही दिखाई दे रहे थे। पास के कमरे में कुछ जापानी दिखाई दिए तो उनसे जानकारी प्राप्त करने का यत्न किया, किन्तु इस बार भी वही हुआ। वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और हम जापानी नहीं जानते थे। हमने अनेक प्रकार से अपनी बात समझाने का यत्न किया, किन्तु किसी की समझ में कुछ नहीं आया।

अन्त में एक सिपाही की समझ में कुछ आया तो उसने अपने झोले में से एक डबलरोटी निकालकर दी और हम उनका धन्यवाद कर अपने कमरे में आकर इकबाल की लाई हुई चीनी के साथ आधी-आधी खाकर सो गए। शाम को उठकर अपनी वर्दी पहनकर जहाज की छत पर टहलने के लिए निकले ही थे कि उनमें से ही एक जापानी सिपाही हमें भोजन के लिए आमन्त्रित करने आ गया।

खाने में आलू की रसेदार सब्जी, चावल, मछली और ब्रेड थी। हर वस्तु चीनी-मिट्टी के बर्तन में रखी थी। खाने के लिए चम्मच के स्थान पर 'चॉप स्टिक' थी जिसे जापानी भाषा में 'हाशी' कहते हैं। हमने हाथों से ही खाना आरम्भ किया। मैं मछली नहीं खाता था और मैंने खाई भी नहीं।

ये जापानी प्रातःकाल उठकर नित्यक्रिया से निवृत्त होकर जहाज की छत पर जाकर अपने अधिकारी की देखरेख में स्वच्छ वायु में व्यायाम करते थे। पानी मिल गया तो स्नान कर लेते थे और यदि न मिला तो अंगोछा भिगोकर बदन पोंछ लेते थें। व्यायाम के उपरान्त प्रातः सात बजे उनका नाश्ता होता था और फिर सब अपने-अपने काम में लग जाया करते थे। बारह बजे 'लाइफ बैल्ट' पहनने का अभ्यास करते थे। इसमें सबको उपस्थित रहना आवश्यक था। एक घंटा आराम करने के उपरान्त फिर सब अपने काम में लग जाया करते थे।

सूर्यास्त-पूर्व ही साढ़े पाँच-छः के बीच में सायंकाल का भोजन कर लिया करते थे। इस प्रकार तीन बार भोजन और दो बार नींद लेकर दो दिन तथा दो रातों के बाद 23 जून 1942 की दोपहर दो बजे हम लोग सैगाँव पहुँच गए।

सैगाँव बन्दरगाह है। समुद्र के किनारे पर स्थित न होने के कारण, समुद्र से मेकांग नदी के बीच से बहुत अन्दर को जाना होता है। पहले 'शोलोन' आता है जो भीड़-भाड़ से भरा और बहुत ही निकट-निकट बने घरोंवाला है और जहाँ चावलों की चक्कियों के सायरन दिखाई देते हैं। इण्डोचाइना में चावल की अच्छी खेती होती है और वहाँ से चावल का निर्यात अधिक मात्रा में होता है।

शोलोन के समीप ही सैगाँव बहुत ही छोटा-सा किन्तु सुन्दर नगर है। वास्तव में ये एक ही नगर के दो भाग हैं—एक भीड़-भाड़ से भरा हुआ और दूसरा शान्त। सैगाँव पहुँचते ही, जहाज का जो कप्तान दो दिन तक हमें दिखाई

भी नहीं दिया था, वह हमारे पास आया। उसने कहा, ''आप लोग थोड़ा ठहरिए। मैं सामने कार्यालय में जाकर फोन करता हूँ, जिससे आपको ले-जाने के लिए कार का प्रबन्ध हो सके।''

उसके बाद दो-तीन घंटे तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त, हरे वस्त्र धारण किये हुए तथा कमर में तलवार लटकाए हुए एक सज्जन आए। पता चला कि उनका नाम लेफ्टिनेंट नागाव है। वे जहाज पर हमसे मिले। वह सज्जन हमें ले-जाने के लिए आए थे।

इस प्रसंग में एक विशेष बात यह है कि जापानी अधिकारी जहाज से नीचे उतरते समय अपना सारा सामान पीठ पर लादकर नीचे उतरते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें किसी प्रकार की हीन भावना का बोध नहीं होता। इसके ठीक विपरीत अंग्रेजों की सेना में प्रत्येक अधिकारी को उसके पद के अनुसार एक-एक, दो-दो सिपाही उसकी सहायता के लिए दिए होते हैं, जो दिनभर साहब की सेवा में तत्पर रहते हैं। इस प्रकार के कार्य पर वे सामान्यतया भारतीय अथवा एशिया के अन्य देशों के सिपाहियों को नियुक्त करते हैं। अंग्रेज अधिकारियों को प्रथम बार जापान के साथ युद्ध में पराजय मिलने पर इस प्रकार के कार्य स्वयं करते हुए देखा था। जब वे ही लोग युद्धबन्दी के रूप में हुए तो उनको भी इसी प्रकार के कार्य जापानियों के आदेश पर करते हुए देखा था।

लेफ्टिनेंट नागाव के साथ हम दोनों कार में बैठकर गए। सैगाँव पहुँचने पर एक तीन मंज़िल के विशाल कंकरीट के भवन के पास जाकर हमारी कार रुकी। कार से उतरकर लिफ्ट पर आरूढ़ हो हम भवन की ऊपरी मंज़िल पर आए। वहाँ एक बड़े-से हॉल में अनेक मेजें, उन पर टाइपराइटर आदि सामग्री विद्यमान थी। वहाँ कुछ जापानी तथा भारतीय स्वातन्त्र्य सेना के चार अधिकारी कार्य कर रहे थे। सैगाँव रेडियो से भारतीय स्वतन्त्रता संगाम का प्रचार-कार्य 6 फरवरी 1942 से आरम्भ हो चुका था। सर्वप्रथम इस सेना के एक अधिकारी ने यह कार्य आरम्भ किया था और उसके बाद सिंगापुर से तीन अन्य अधिकारी आ गए थे। इस प्रकार हम दोनों के वहाँ पहुँचने से पूर्व चार अधिकारी वहाँ पर कार्यरत थे। वहाँ पहुँचने पर उन चारों से हमारा परिचय कराया गया। आध-पौन घंटा वहाँ पर रुकने के उपरान्त सायंकाल 6 बजे के लगभग हम सब भारतीय लोगों को नागाव हमारे रहने के स्थान नम्बर 17 'रियु फ्रेअर लुई' पर ले गए। यह एक दो-मंज़िला बँगला था।

जून 1940 में फ्रांस की पराजय के उपरान्त जापानी लोग इण्डोचाइना में प्रविष्ट हुए थे। उसके बाद 8 दिसम्जर 1941 को अर्थात् जापानियों द्वारा इंगलैंड

और अमेरिका के साथ युद्ध की घोषणा करने के बाद इण्डोचाइना के सब अंग्रेज तथा अमेरिकन अधिकारी लोगों को, और इसी प्रकार जो भी फ्रैंच अधिकारी उनके विरुद्ध थे उनको, उन्होंने बन्दी बना लिया था। उनके तथा अन्य भवनों को जापानियों ने अपने अधिकार में कर लिया था। उनमें से ही एक बँगला यह भी था। इन भवनों का निर्माण फ्रैंच भवनों के अनुसार किया गया था। बड़ी-बड़ी सलाख-रहित खिड़कियाँ, बँगले के चारों ओर एक बड़ा-सा आँगन, दो ओर दीवार तथा दो ओर खम्भों तथा कँटीली तारों की बाड़ थी। बँगले के पीछे की ओर तीन कमरे और एक गैरेज था। उनमें से एक रसोईघर, एक गोदाम तथा तीसरा कमरा ड्राइवर के रहने के लिए था। रसोई के पास ही एक हौद और पानी का नल था। खाना बनाने के लिए एक मुसलमान बावर्ची था। हमारा ड्राइवर अन्नामी था। उसका नाम मंग अर्थात् पाँच था। वहाँ क्रमांकों के आधार पर ही सन्तान के नाम रखे जाते हैं। उसकी पत्नी हमारे घरेलू नौकर का काम करती थी।

रेडियो स्टेशन पर कार्यक्रम शुरू करने से पहले की तैयारी अर्थात् लिखना आदि सब कार्य हम अपने बँगले की पहली मंजिल पर स्थित एक कमरे में करते थे। वहाँ कार्यालय के सभी उपकरण और सामग्री विद्यमान थी। ले० नागाव आदि जापानी अधिकारी भी हमारे बँगले पर ही हमारे साथ भोजन के लिए आया करते थे। हमारे साथ रहते-रहते उन्हें भारतीय भोजन अच्छा लगने लगा था। भोजन के कमरे में ही एक कोने में रखे टेबल पर रेडियो रखा रहता था। प्रात:काल से लेकर रात्रि होने तक वह रेडियो निरन्तर चलता रहता था। हम सब लोग बारी-बारी से विश्वभर के विभिन्न स्टेशनों से प्रसारित होनेवाले समाचारों को सुनकर उनमें से महत्त्वपूर्ण बातों को लिख लिया करते थे। विशेषतया अपने पक्ष के रेडियो केन्द्र जैसे सिंगापुर, बैंकाक, शंघाई, टोकियो, बर्लिन, रोम तथा भारत में गुप्त रूप से काम करनेवाले केन्द्रों के प्रसारण होते थे। अपने अनुकूल होने के कारण उनकी विशेष बातों का हम उल्लेख किया करते थे। उसी प्रकार लन्दन, मास्को, सानफ्रांसिस्को तथा दिल्ली आदि विरोधी पक्षों के केन्द्रों के कार्यक्रम भी, उनकी यथोचित प्रतिक्रिया करने के उद्देश्य से हम ध्यान से सुनते थे। रेडियो के प्रचार-तन्त्र पर यदि लिखा जाय तो इस पर भी एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया जा सकता है, किन्तु यहाँ पर यह प्रासंगिक नहीं है।

हम लोग दिल्ली केन्द्र से भेजे गए युद्धबन्दियों के घरों के सन्देश लिखकर उन-उन व्यक्तियों के पास उनको भेजने की व्यवस्था करते थे। सैगाँव के समयानुसार हम लोग रात के साढ़े नौ बजे से साढ़े दस बजे तक, तदनुसार

भारतीय समय से रात के आठ बजे से नौ बजे तक हम भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन का कार्यक्रम प्रसारित किया करते थे। यह रेडियो-केन्द्र हमारे निवास-स्थान से लगभग तीन मील की दूरी पर था। यह स्टेशन फ्रैंच लोगों का था अतः अपने एक घंटे के प्रसारण का हम उनको निर्धारित शुल्क दिया करते थे।

कार्यक्रम के प्रारम्भ में 'वन्देमातरम्' का रिकॉर्ड लगाते, उसके समाप्त होते ही हम घोषण करते—"यह स्वतन्त्र भारत का रेडियो केन्द्र सैगाँव है। यहाँ पर प्रतिदिन रात्रि को भारतीय समयानुसार आठ बजे से नौ बजे तक भारतवासियों के लिए हमारा कार्यक्रम 25 एवं 21 मीटर्स पर प्रसारित किया जाता है....."

इस प्रकार प्रारम्भ कर फिर अगले कार्यक्रम प्रसारित करते थे। अंग्रेजी, हिन्दी और पंजाबी भाषाओं के कार्यक्रम नित्यप्रति 15-15 मिनट के होते थे। इस प्रकार पौन घंटे का समय व्यतीत होता था। शेष पन्द्रह मिनटों में कभी मराठी, कभी तमिल तथा कभी गोरखाली भाषाओं में प्रसारण करते थे। हर भाषा के कार्यक्रम को आरम्भ करते हुए पहले तीन मिनट तो रेकॉर्ड बजाने में तथा घोषणा करने में लगते थे, सात मिनट समाचार प्रसारित किये जाते थे, शेष पाँच मिनटों में हम अपने कार्यक्रम के समर्थन अथवा शत्रुओं के प्रचार का खण्डन करने में व्यतीत करते थे। अंग्रेजी तथा हिन्दी के लिए चार व्यक्ति, पंजाबी के लिए तीन व गुरखाली एवं तमिल के लिए दो-दो तथा मराठी के लिए मैं—इस प्रकार व्यक्ति नियुक्त किये गए थे। अंग्रेजी तथा हिन्दी कार्यक्रमों में भी मैं सहयोग दिया करता था। किसी आधुनिक महत्त्वपूर्ण विषय पर दिया जानेवाला भाषण हम घर पर तैयार करते थे और उसको कार्यालय में टाइप के लिए देते जिससे कि वह छः बजे तक टाइप होकर हमारे पास पहुँच जाए। उसके साथ विभिन्न कागजों पर टाइप किये हुए समाचार व जापानी सरकार के खाते की ओर से हमारे पास घोषणा के लिए भेजे जाते थे।

विश्व के सारे देशों में स्थित उनके प्रतिनिधि अथवा संवाददाता रेडियो, टेलीग्राफ, वायरलैस इत्यादि साधनों से दिन-रात आनेवाले समाचारों की छानबीन कर संकलित करते और फिर महत्त्वपूर्ण समाचार हमारे पास भेज दिया करते थे। इन सबके लिए सात मिनट बहुत कम पड़ते थे, अतः हम उनमें से अत्यन्त महत्त्व की सामग्री को छाँट लिया करते थे। सरकारी समाचार सायंकाल पाँच बजे के लगभग आते थे। उनका संकलन तुरन्त करना पड़ता था। भारत में जिन-जिन पुस्तकों को प्रतिबन्धित कर दिया गया था, हमने उनकी प्रतियाँ मँगाकर रख ली थीं; अवकाश-समय में उनका अध्ययन कर उनमें से आवश्यक सामग्री संकलित कर लेते थे।

मेरे सैगाँव पहुँचने के लगभग दो मास बाद इन्द्रसिंह नामक एक पंजाबी युवक हमारे सहायक के रूप में आया। उसके बाद अक्टूबर मास में दो गोरखे भी आए। तब नियमित रूप से गोरखाली कार्यक्रम आरम्भ हुआ। इस प्रकार स्वतन्त्रता-आन्दोलन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाले हम आठ लोग वहाँ एकत्रित हो गए थे। सैगाँव नगर में सिन्धी कपड़ों के व्यापारी, सिख दरबान तथा तमिल साहूकार—इस प्रकार तीन प्रकार के भारतीय लोग वहाँ की जनता में थे। वहाँ पर लगभग चार हजार भारतीय रहते थे।

सैगाँव की गलियाँ आदि सब रास्ते चौड़े, साफ, सीधे तथा तारकोल से बने हुए थे और बीच-बीच में उनमें बाग-बगीचे भी लगाए हुए थे। नहाने का तालाब, पाश्चात्य पद्धति के नृत्य एवं जुआघरों की भी अनेक स्थानों पर व्यवस्था थी। मार्ग के दोनों ओर दीयों की पंक्तियाँ बनी थीं। साफ-सफाई, सुख-सुविधा तथा सौन्दर्य आदि के चाहनेवाले फ्रैंच राज्यकर्त्ता विजित देशों में भी इस प्रकार की व्यवस्था कर लेते थे—यह उनका विशेष गुण था। सामाजिक जीवन में उनमें किसी प्रकार वर्ण-भेद नहीं रहता था। सार्वजनिक स्थानों, होटलों अथवा क्लबों में न किसी के आने-जाने पर प्रतिबन्ध था और न ही वहाँ किसी का अपमान किया जाता था। हमारे समय में नागरिक व्यवस्था फ्रैंच अधिकारियों के हाथों में थी। अन्य सब बातों में जापानी सरकार का वर्चस्व था। परिणामस्वरूप फ्रैंच अधिकारियों को जापानियों का आदेश पालन करना पड़ता था।

दोनों को इस बात की अनुभूति होने पर दोनों में कभी किसी प्रकार का विवाद नहीं होता था; यदि कभी हो भी जाए तो फ्रैंच सिपाही को ही चुप हो जाना पड़ता था। दोनों में परस्पर शान्ति का अनुबन्ध होने के कारण राजकीय विचारशैली तथा चतुराई की दृष्टि से ऊपरी तौर पर तथा छोटी-मोटी बातों में जापानी लोग फ्रैंच लोगों को सहयोग देते थे। परन्तु यदि अपने देश के सम्मान अथवा वैसे ही किसी प्रश्न के उपस्थित होने पर वे फ्रैंच लोगों पर दबाव डालने से पीछे नहीं हटते थे।

एक बार सैगाँव में रहनेवाले जापानी 'वाइस कौंसल' श्री सातो ने हमें भोजन के लिए आमन्त्रित किया। सरकार की ओर से यदि चाय अथवा भोजन पर बुलाया जाय तो अतिथि की पदवी के हिसाब से अलग-अलग बँगलों में व्यवस्था की जाती थी। ऐसे ही किसी एक कार्यक्रम में हम भोजन के लिए ग्यारह बजे पहुँचे। वहाँ पर पहले से ही विद्यमान श्री सातो हमारे स्वागत के लिए नीचे आए, हाथ मिलाया। हमारे साथ के जापानी अधिकारी ने उनसे हमारा परिचय करवाया। तदनन्तर हमें ऊपर ले-जाया गया। भोजनगृह में प्रविष्ट होने के लिए

जूते उतारने पड़ते थे। बैठने के लिए दरी पर सफेद चादर बिछी हुई थी। बीच में एक बड़ी मेज थी जिस पर आमने-सामने छः-छः व्यक्ति बैठ सकते थे। इस प्रकार वहाँ पर हमारा भोजन हुआ।

श्री सातो ने जापान की और लीग ऑफ नेशन्स अर्थात् राष्ट्रसंघ की बैठक में तथा अन्यान्य समितियों में भाग लिया था। वे बहुत ही शान्त, सात्त्विक और अनुभवी तथा चतुर व्यक्ति प्रतीत हुए। खाना खाते समय श्री सातो भारत की जलवायु, वहाँ के निवासी, रीति-रिवाज, स्वतन्त्रता-आन्दोलन तथा हमारे काम-काज के विषय में बड़ी विनम्रता से अंग्रेजी भाषा में हमसे पूछताछ करते रहे। राष्ट्रसंघ के सदस्य होने के कारण उनको अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने मुझसे भारतीय अभिवादन आदि-आदि अनेक विषयों पर जानकारी प्राप्त की। उनको यह जानकर आश्चर्य हुआ कि भारत में किसी भी समय अभिवादन करने के लिए एकमात्र शब्द 'नमस्कार' ही है, क्योंकि विभिन्न स्थानों पर विभिन्न समय में विभिन्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है। मैंने उनके आश्चर्य का समाधान कर दिया। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

भोजनोपरान्त शिष्टाचारपूर्वक हमने उनसे विदा ली। सामान्यतया ऐसे भोज के अवसर पर वाणी पर संयम रखना परमावश्यक होता है। अधिक बोलने से कुछ गुप्त रहस्यों का उद्‌घाटन हो जाने की सम्भावना होती है। भारतीय लोग इस वास्तविकता से अनभिज्ञ होने के कारण बोलचाल में कम ही संयम बरतते हैं।

मयेकर नामक एक वृद्ध महाराष्ट्रियन सैगाँव में चित्रपटों के वितरण का कार्य करते थे। उनके एक सिन्धीभाषी मित्र ने जब प्रथम बार रेडियो से मेरा मराठी प्रसारण सुना तो उसकी सूचना उसने उनको दी। मयेकर सूचना पाकर मुझे खोजते हुए मेरे स्थान पर आए। उस समय से उनका मेरा परस्पर परिचय हुआ। जापान, मलयेशिया, ब्रह्मदेश आदि पूर्व के देशों में वे ही अकेले महाराष्ट्रियन व्यक्ति थे। महाराष्ट्रियन और बंगाली लोग परदेश में कम ही मिलते हैं।

एक दिन रात्रि के समय हमारे सैगाँव रेडियो केन्द्र पर एक रोचक घटना घटित हुई। भाषण से दस मिनट पूर्व ही केन्द्र पर उपस्थित हो जाना चाहिए, ऐसा निश्चित होने पर भी एक तमिल प्रसारण करनेवाला व्यक्ति विलम्ब से आया। उसके पूर्व की घोषणाएँ व समाचार इत्यादि पढ़नेवाले व्यक्ति ने घोषणा कर दी थी कि अमुक-अमुक व्यक्ति आज तमिल का प्रसारण करेंगे। तमिल में प्रसारण करनेवाला व्यक्ति उसी समय आया और उसकी घोषणा सुनकर उसने वहीं पर बोल दिया, "किन्तु मैं तो आज जल्दी-जल्दी में कुछ भी लिखकर नहीं लाया हूँ।" और असावधानी में उद्‌घोषक ने भी बोल दिया, "जो कुछ भी इस समय

तुम्हें सूझे वह बोल दो।'' परिणामस्वरूप उन दोनों का यह सम्भाषण भूलवश प्रसारित हो गया।

मैं यहाँ पर इससे भी विचित्र एक अन्य बात का उल्लेख करना चाहता हूँ। हमारे प्रचार में एक बार मिलिटरी अकादमी देहरादून के प्रशिक्षकों को सम्बोधित करते हुए कहा गया था कि—''आप यहाँ से उत्तीर्ण होने पर अधिकारी बनने के उपरान्त, अपने अधीन सेना का उपयोग अंग्रेजों के विरुद्ध कीजिए और इस कार्य के लिए कांग्रेस की अथवा अन्य क्रान्तिकारियों की सहायता प्राप्त कीजिए।'' यह सुनकर देहरादून की अकादमी के किसी विद्यार्थी का, हिन्दी प्रसारण करनेवाले व्यक्ति के नाम एक पत्र आया। उस पत्र में लिखा था कि—''आपकी अमुक दिन की सूचना को सुनकर हमें बहुत प्रसन्नता हुई। इस कार्य के लिए हमने एक संगठन बनाकर इस दिशा में बहुत जोरों से प्रयत्न करने का निश्चय कर लिया है। फिर भी आपके आगे के कार्यक्रम तथा उद्देश्यों के विषय में हमें 'पोस्ट मास्टर, देहरादून' के माध्यम से सूचित करें।'' इस लिफाफे पर चुकिंग के डाकघर की छाप थी। भारत से जानेवाले पत्रों का सदा का मार्ग कलकत्ता, रंगून, बैंकाक, सैगाँव आदि था। अतः यह पत्र देहरादून से किसी व्यक्ति के साथ चुकिंग आया तथा फिर वहाँ से डाक द्वारा इण्डोचाइना से लगी चीन की दक्षिणी सीमा तक आया होना चाहिए।

इण्डोचाइना के सब फ्रेंच अधिकारी यद्यपि ऊपरी तौर पर जापानियों के सहयोगी के रूप में ही दिखाई देते थे, परन्तु भीतर ही भीतर वे अंग्रेजों तथा अमेरिकनों की विजय की कामना करते थे। अंग्रेजों को समाचार पहुँचाने अथवा अन्य सहायता करने के लिए वे हवाई के उत्तर में कुछ मील दूर स्थित इण्डोचाइना की सीमा का प्रयोग करते थे। इस प्रकार जापानियों से छिपकर उनका अंग्रेजों से ऊपरी मार्ग से सम्पर्क बना रहता था।

ऊपर जिस पत्र का उल्लेख किया गया है वह चीन की दक्षिणी सीमा पर आया होगा और वहाँ के अधिकारियों द्वारा बताए जाने पर फ्रेंच अधिकारियों ने अपनी सीमा पर लिया होगा। वहाँ से उसे डाक से सैगाँव रेडियो पर भेजा होगा—ऐसा हमने निष्कर्ष निकाला। इतनी समस्याओं से घिरे होने के कारण कोई निजी पत्र सरलता से नहीं आ सकता था। प्रतीत होता है अंग्रेजी सरकार ने यह सारी सहायता हमारे अग्रिम कार्यक्रमों को जानने के लिए की होगी। युद्धकाल में ऐसे चमत्कारों का होना असम्भव नहीं होता।

अधिकांशतया भाषण, संवाद और गाने आदि इस प्रकार के प्रचार के उपाय होते हैं, परन्तु इनके साथ-साथ मैंने वहाँ दो-तीन अन्य उपायों का भी परिचालन

किया। वे थे लघु नाटिकाएँ, राजकीय विनोद तथा उपरोधक व्याख्या आदि। राजकीय विनोद तथा उपरोधक व्याख्या का एक उदाहरण देता हूँ। एक सूचना प्रसारित की गई कि अमेरिका में लोहे की कमी होने के कारण अब मुख्यतया लकड़ी के जहाज बनाएँ जाएँगे। उस पर एक के मुख से अगला संवाद बुलवाया गया—'क्यों जी, अमेरिका ने क्या लकड़ी का जहाज बनाने का निश्चय किया है ?'

दूसरा व्यक्ति 'हाँ, यह तो स्पष्ट ही है। जब देखो उसके जहाज डूबने लगते हैं! वे न डूबने पायँ, इसलिए उन्होंने यह नया तरीका निकाला है।'

'ब्रिटिश लोग सदा ही स्वतन्त्रता प्रदान करने की गप्पें मारते रहते हैं, परन्तु ऐसा तो हमें कहीं दिखाई देता नहीं, अर्थात् भारत में जो चाहे उस प्रकार की मनमानी करने की स्वतन्त्रता को ही वे भारत की स्वतन्त्रता मानते होंगे।' आदि।

यह विनोद, व्याख्या अथवा नाटक लोगों को सरलता से समझ में आ जायँ अतः वे उस विशेष दिन के समाचारों पर ही आधारित होते थे। विनोदी लेख तथा बातें सबको ही भा जाने के कारण बहुत प्रभावी होती थीं और इससे समय की भी बचत होती थी। अमेरिका के जहाज बड़ी संख्या में क्यों डूबते हैं, इस बात की लम्बी-चौड़ी टिप्पणी करने की अपेक्षा ऊपर बताए गए विनोद द्वारा वे मन में अधिक पक्का स्थान बना लेते हैं।

अन्य सब आकाशवाणी केन्द्रों की अपेक्षा हमारे द्वारा किया गया प्रचार अधिक प्रभाव डालता था, ऐसा हमें बार-बार बहुत-से पत्रों के द्वारा अथवा अनेक श्रोता प्रत्यक्ष मिलकर भी बताया करते थे। उसका प्रमुख कारण यह था कि हम जापानियों के सैंसर आदि व्यवधानों से सर्वथा स्वतन्त्र थे। अतः हम जो चाहें वह कह सकते थे। हमारे भाषण जापानियों द्वारा सैंसर नहीं किये जाएँगे—ऐसी व्यवस्था हमने आरम्भ से ही कर ली थी। अंग्रेजों के ऐसे प्रचार को कि "भारतीय जन जापानियों के दूत बनते जा रहे हैं" हम इसका उत्तर देते हुए कहते—"दूसरा कोई भी देश भले ही वह जापान ही क्यों न हो, हमारी स्वतन्त्रता में यदि बाधा डालेगा तो हम उसे भी मुँहतोड़ उत्तर देंगे।"

ऐसा हम सरलता से खुल्लमखुल्ला कह सकते थे। अन्य केन्द्रों पर जापानी सैंसर भारत की विशेष खबरों के तथा प्रसंगों के वर्णन को दूर रखकर जापान की प्रगति के वर्णन प्रसारित करने को बाध्य करता था, जिससे उनका भारतीय समाचारों का प्रसारण छूट ही जाता था। परन्तु हमारे साथ ऐसा होने की सम्भावना नहीं थी। हमारे साथ समय की कोई बाध्यता नहीं थी। जब मन चाहे तब अपना काम पूरा करके शेष समय मनोरंजन के लिए, हम इधर-उधर आराम से घूम-फिर सकते थे।

जून 1943 के आरम्भ में सिंगापुर में ले०क० भोंसले का सन्देश लेकर भारतीय स्वातन्त्र्य सेना का एक अधिकारी विमान से सैगाँव आया। उसने कहा, "कर्नल भोंसले जी को एक निजी सचिव तथा ए०डी०सी० की आवश्यकता है। यदि आपकी इच्छा हो तो उन्होंने आपको शीघ्र ही बुलाया है।"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैं उनसे कभी मिला भी नहीं था। मेरी बात सुनकर उन्होंने कहा, "आपके मित्रों ने इस कार्य के लिए आपको उपयुक्त व्यक्ति बताया है, अतः आप इसे स्वीकार कर लीजिए।"

यह सुनकर मैंने सोचा कि सालभर तक आकाशवाणी का तो काम कर ही लिया है, अब यदि किसी अन्य कार्य का अनुभव प्राप्त हो तो अच्छा ही है। इस प्रकार उनके साथ जाने का निश्चय कर लेने के उपरान्त भी हमें वाहन की प्रतीक्षा में पन्द्रह-बीस दिन तक रुकना पड़ गया। इस मध्य ही हमारे सामान की तीन-चार बार चोरी भी हो गई। हमारे बँगले की खिड़कियाँ बड़ी चौड़ी और सलाखों के बिना ही थीं। उन्हें बन्द करके सोने पर रात्रि को बहुत गरमी लगती थी, इससे निद्रा में बाधा पड़ती थी। परिणामस्वरूप सोते समय खिड़कियों को खुला रखना पड़ता था। इसका लाभ उठाकर चोर हमारे वस्त्र और जूते आदि चुराकर ले जाते थे। विगत एक वर्ष में ऐसा कभी नहीं हुआ था। दूसरी बात यह थी कि सीमा से जापानी लोगों के देश में जाने के लिए बड़ी डॉक्टरी परीक्षा हो जाने के उपरान्त चेचक, टायफायड तथा हैजे के टीके लगाए गए थे।

हम जून की 23 तारीख 1943 को एक जापानी मिलिटरी बस में बैठकर 250 मील पर स्थित कम्बोडिया की राजधानी 'नाम पेन' शाम के पाँच बजे के लगभग पहुँच गए। बीच में मध्याह्न बारह बजे के लगभग 'मेकांग' नदी के समीप आते ही हमारी बस नदी पर तैर रहे मोटे, चौरस लकड़ी के तख्तों पर पार हुई। यह तख्ता इतना विशाल होता है कि उस पर एक समय में चार बसें आसानी से जा सकती हैं। उस पर तीन अन्य बसें खड़ी कर फिर उस तख्त को वाष्प-नौका की सहायता से खींचकर उसे दूसरे छोर पर ले-जाया गया। तट पर बहुत बड़ा फलक लगा था जिस पर पश्चिम का मार्ग 'नामपेन' की ओर तथा वायव्य दिशा का मार्ग 'अंकोर वाट' की ओर जाने का संकेत अंकित था।

'अंकोर वाट' वहाँ से 336 मील की दूरी पर है। यह स्थान 12वीं अथवा 13वीं शताब्दी में बृहत्तर भारत की राजधानी रह चुका था। वहाँ जाने की मेरी इच्छा अपूर्ण ही रही। उस समय भारत का राज्य सुदूरपूर्व के विशाल प्रदेशों— जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो, फिलिपीन्स, इण्डोचाइना, मलय, स्याम एवं ब्रह्मदेश आदि तक फैला हुआ था। इस बात के प्रमाणस्वरूप इन देशों की

विभिन्न भाषाओं में प्रचुर मात्रा में संस्कृत के शब्द मिलते हैं। वहाँ के निर्जन प्रदेशों की खुदाई करने पर मन्दिर, देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ तथा संस्कृत-शिलालेख भी प्राप्त होते हैं। 'अंकोर वाट' का प्राचीन नाम 'नगर थोम' था। आज वहाँ लगभग 100 चौरस मील के प्रदेश पर इस राजधानी के अवशेष, भव्य मन्दिर तथा प्रासाद इत्यादि उत्तम स्थिति में उपलब्ध हैं। उसके पार्श्व के प्रदेश को आज भी 'अरण्य प्रदेश' कहा जाता है। सरकारी कागज-पत्रों में भी इसका ऐसा ही उल्लेख है।

'अंकोर वाट' की देखभाल ठीक न होने के कारण कई वर्षों तक वहाँ जंगल उग आया था। यह बात एक फ्रैंच यात्री के ध्यान में आई। उसके प्रयत्न से इस राजधानी का सारा परिसर साफ किया गया। अब वहाँ प्राचीन भवनों के आस-पास प्रवासियों के लिए होटल तथा धर्मशालाएँ बनाई गई हैं। यह अपनी प्राचीन संस्कृति का स्थान, जिसे देखना सम्भव हो उसे देखने के लिए जाना अवश्य चाहिए। वहाँ की शिल्पकला इतनी अनोखी है कि उसे आजकल विश्व का प्रथम आश्चर्य माना जा रहा है। अमेरिका से भी पर्यटक उसे देखने के लिए आते हैं। अतः हमें इसे अपना तीर्थ-क्षेत्र मानकर वहाँ पर जाने का हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए।

कम्बोडिया अथवा 'काम्बोज' कदाचित् 'खम्बूज' शब्द का अपभ्रंश है। खम्बोज वहाँ के निवासियों का नाम है, क्योंकि उनके पूर्व-पुरुष का नाम 'खम्बु' था। उनका शरीर-गठन तथा रंग-रूप हमसे मिलते-जुलते हैं। आजकल वहाँ के निवासियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया है। तदपि वहाँ उपनयन संस्कार किया जाता है। गृहस्थ धर्म का पालन करने से पूर्व कुछ दिनों तक वहाँ के युवक पीत परिधान धारण करते हैं। वहाँ के हाट-बाजार, नगर-विभाग अथवा जिलों के नामों का उद्गम संस्कृत भाषा से ही हुआ है, ऐसा स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इतने वर्षों से वहाँ के लोग फ्रैंच सरकार के अधीन होने पर भी अभी तक हमारी भाँति ही 'नमस्कार' करते हैं। अपने पूर्वजों के नाटक जब वे खेलते हैं तब उस समय के उनके वस्त्र, आचार-व्यवहार, आदि सब हमारी संस्कृति से मिलते-जुलते लगते हैं। आजकल भी उनके प्रासादों का वास्तुशास्त्र हमारी भारतीय पद्धति जैसा ही है। वहाँ के राजा का अभिषेक भी हमारे रीति-रिवाजों जैसा ही होता है। यज्ञोपवीत धारण करनेवाले मनुष्य के लिए उनके मन में आदर होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्हें हमारी सामाजिक रचना अपने समान ही दिखाई देती है।

शाम के पाँच बजे नामपेन स्टेशन पर पहुँचने पर मैंने वहाँ के जापानी

स्टेशन मास्टर से बैंकाक को जानेवाली गाड़ी के आने के समय के विषय में पूछा। उस समय युद्ध आरम्भ हो जाने के कारण स्याम और इण्डोचाइना का रेल-यातायात निजी लोगों के उपयोग के लिए वर्जित था। अतः रेलगाड़ियों के आवागमन का दिन तथा समय निश्चित नहीं थे। सेनाओं की आवश्यकता के अनुसार उन्हें छोड़ा जाता था। उस स्टेशन मास्टर ने मुझे बताया कि अगले दिन प्रातःकाल दस बजे सैनिकों के लिए गाड़ी छोड़ी जाएगी।

यह सूचना मिलने पर मैं शहर में चला गया और वहाँ एक होटल में जाकर ठहर गया। बाद में शहर में घूमने निकला तो पता चला कि यहाँ बहुत-से भारतीय व्यापारी हैं। उस दिन सोमवार था, अतः उस दिन वहाँ का 'संग्रहालय' बन्द था। तदपि वहाँ के बाहरी दालानों में घूमकर तथा काँच के भीतर झाँककर जितना सम्भव हो सका उतना देख लिया। वह सारा संग्रहालय गणेश, शंकर भगवान तथा देवी की मूर्तियों से ही भरा हुआ था। उस म्यूज़ियम में रहनेवाले एक-दो अधिकारियों से मैंने टूटी-फूटी फ्रैंच भाषा में बात की तो विदित हुआ कि संग्रहालय सोमवार के दिन बन्द रहता है। उन्होंने भी यह माना कि वहाँ की सारी वस्तुएँ भारतीय संस्कृति की निदर्शक हैं।

बाद में वहाँ के राजमहल को देखने के पश्चात् उस नगर के एक सुन्दर तालाब के किनारे घूमने गए। शाम हो जाने के कारण महल देखने का पास प्राप्त नहीं हो सकता था। उस सरोवर में राज-नौका तथा अन्य नौकाएँ भी सुन्दर कला-कौशल का उदाहरण थीं। वह रात होटल में बिताकर दूसरे दिन दस बजे बैंकाक जानेवाली गाड़ी के लिए रवाना हो गए।

वहाँ की सब रेलगाड़ियाँ स्टैंडर्ड गेज की होती थीं। दो दिन बाद अर्थात् 25 जून 1943 को मध्याह्न 12 बजे हम बैंकाक पहुँचकर 'योरोप होटल' में ठहरे। वहाँ से आगे सिंगापुर जाने के लिए सात दिन तक कोई गाड़ी थी ही नहीं। यहाँ पर हमें फ्रैंच सिक्के बदलकर स्यामी सिक्के लेने पड़े। होटल में दो बार खाना खाकर सारा दिन बैंकाक नगर में भ्रमण—यही सात दिन तक चलता रहा। एक दिन प्रातःकाल रेलगाड़ी से निकलकर वहाँ से चालीस मील की दूरी पर स्थित 'अयोध्या' नामक नगर देखकर शाम को वापस आ गए। स्याम के सब नगरों के भवनों, होटलों, मन्दिरों, रास्तों तथा बाजारों के नाम संस्कृत भाषा के ही हैं, परन्तु आजकल उनका रूप विकृत हो गया है। उदाहरणार्थ, 'नगर श्री धर्मराज' का आधुनिक रूप 'नाखोन श्री तामरात' है तथा 'नगर प्रथम' का 'नाखेन पाथोम'। बाजारों का नाम 'सूर्यवंश' और 'राजवंश' के स्थान पर 'सूर बोंग' और 'र वोंग' बन गए हैं। उनके नए मुख्य मार्ग का नाम 'राजमदन' आजकल भी लगभग पहले जैसा ही है।

होटल्स के नाम 'शुत्थ भोजन होटेल' आदि हैं। मन्दिरों के नाम 'वट अरुण' और 'वट श्रीदेवेन्द्र' हैं। साइकल का नाम 'रोट चक जोन' अर्थात् रथचक्र-यन्त्र तथा मोटर कार को 'राट जोन' अर्थात् रथ-यन्त्र कहते हैं। 'स्वस्ति' का अपभ्रंश 'सवड्डी' हो गया है। यह उनके नमस्कार के रूप में अभिवादन करने का सदा का शब्द है। उनका राजचिह्न यद्यपि गरुड़ है किन्तु उसे वे आज 'वरुट' नाम से पुकारते हैं। उनकी लिपि पाली है तथा भाषा भी पहले पाली ही थी। आधुनिक स्यामी भाषा उसी पाली का विकृत रूप है। पुजारियों की परम्परा के कारण राजघरानों की भाषा अभी भी शुद्ध पाली है। स्यामी लोग अपने बच्चों के नाम भी अपने-जैसे संस्कृत भाषा के ही, केवल थोड़ा रूप बदलकर रखते हैं। पाश्चात्य लोगों से सम्बन्ध के कारण नई वस्तुओं के नाम बनाने के लिए हमारी ही भाँति वे भी संस्कृत भाषा की सहायता लेते हैं।

वहाँ के मन्दिरों की छत के ऊपर तक सोने के कलशों तक का भाग विभिन्न रंगों से इतना सुन्दर रंगा होता है कि सूर्य के प्रकाश में उसे देखकर आँखें चुँधिया जाती हैं। मन्दिरों के नाम यद्यपि विभिन्न होते हैं किन्तु सभी मन्दिरों में भगवान बुद्ध की ही प्रतिमा होती है। बैंकाक के मुख्य राजमन्दिर में पन्ना से बनी मूर्ति है। यह मन्दिर भव्य तथा ऊँचा है। विभिन्न स्थानों पर उसमें बारीक कारीगरी की गई है। इस मन्दिर का आँगन बहुत बड़ा है। इस प्रकार के अन्य तीन-चार मन्दिर हैं। राजमन्दिर के दीवारों की अन्दर की ओर बुद्ध भगवान का चित्र चित्रित किया गया है। वैसे ही इस आँगन की दीवार के अन्दर की ओर सीताजी के जन्म से लेकर श्रीराम के राज्याभिषेक तक के सब प्रसंग चित्रित किए हुए हैं।

श्री सत्यानन्द पुरी का हम पिछले पृष्ठों में उल्लेख कर आए हैं। वे उन दिनों यहीं पर कार्य करते थे। अपनी संस्कृति के विषय में वे स्यामी लोगों को बताया करते थे। वे बंगाल से यहाँ आकर स्थायी तौर पर बस गए थे।

'योरोप होटल' पाश्चात्य पद्धति का होटल था। भोजनोपरान्त वहाँ स्यामी कलमी आमों का आस्वादन किया, वे बहुत ही मधुर थे। एक वर्ष उपरान्त वह होटल अमेरिकन बमों के आक्रमण में सर्वथा नष्ट हो गया। इस प्रकार सात दिन मनोरंजन करते हुए हम 2 जून 1943 को शाम के छः बजे रेलगाड़ी से सिंगापुर जाने के लिए निकले और चार दिनों बाद शाम को छः बजे हम सिंगापुर नगर पहुँच गए।



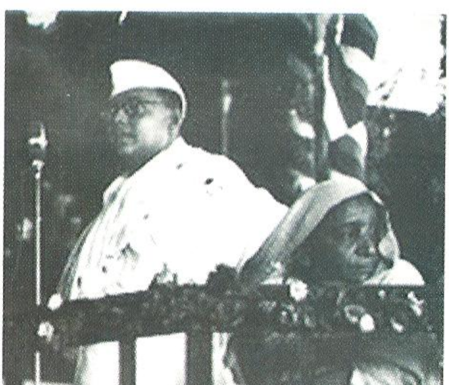
नेताजी सुभाषचन्द्र बोस



नवयुवक सुभाष

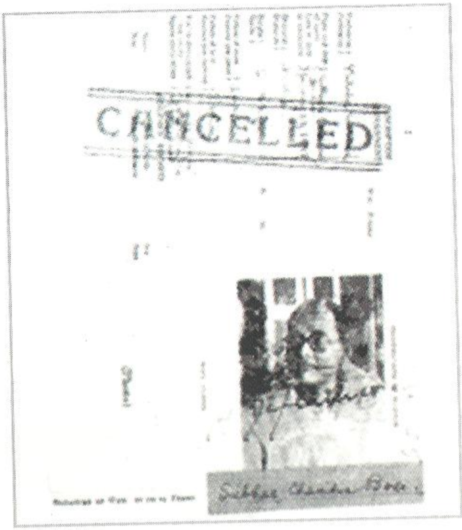


कांग्रेस अधिवेशन से पूर्व गांधी जी से सलाह करते हुए सुभाष जी।





कांग्रेस अधिवेशन के दौरान लिये गये चित्र।



नेताजी सुभाष का पासपोर्ट – ब्रिटिश सरकार द्वारा केंसिल किया गया



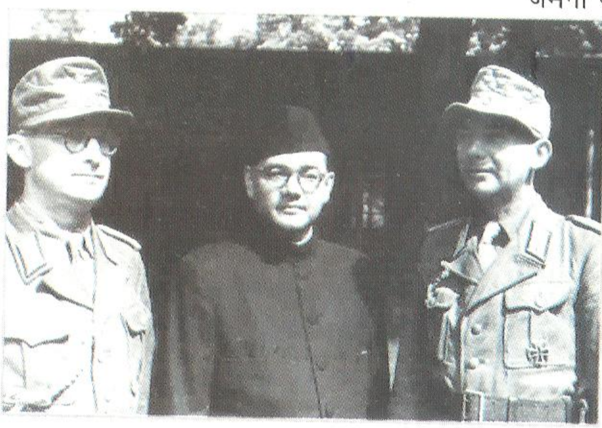
वह कार जिसमें बैठकर नेताजी कलकत्ता से लापता हुए।



एक दुर्लभ चित्र जिसमें नेताजी हिटलर से हाथ मिला रहे है।



जर्मनी की सेना का निरिक्षण करते हुए नेताजी।



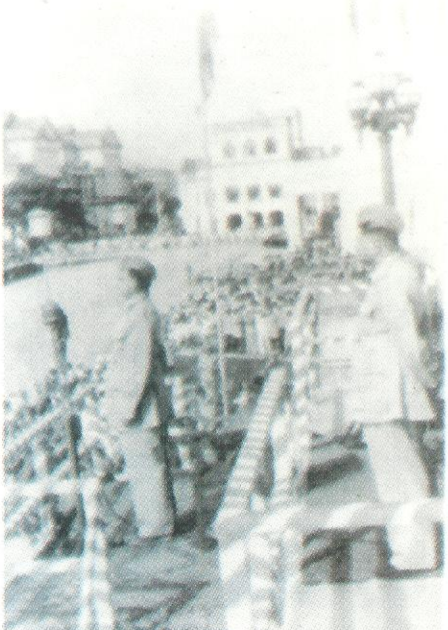
जर्मन सेनाधिकारियों के साथ नेताजी।



जर्मन सेनाधिकारियों के साथ नेताजी।



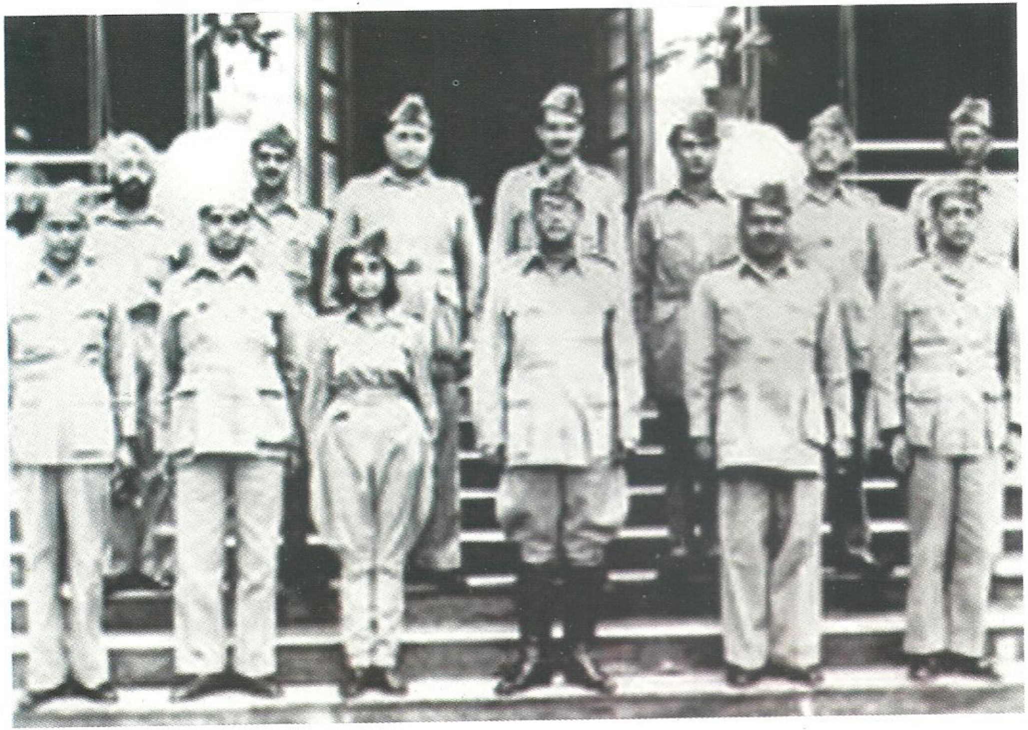
सिंगापुर में हिंदवी स्वतंत्रता सेना का गठन करने के पश्चात्
अक्तूबर सन् 1943 में इस सेना के संचालन के समय
सलामी लेते हुए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस।



नेताजी सुभाष के पीछे दाहिनी ओर सिंगापुर स्थित जापानी सेना प्रमुख खड़े हैं।



हिन्दवी स्वतंत्रता सेना का गॉड ऑफ आनर लेते हुए नेताजी सुभाष।



हिन्दवी स्वतंत्रता सेना के विभिन्न सेनाप्रमुखों के साथ खड़े नेताजी।
उनके बाईं ओर रानी लक्ष्मी रेज़िमेन्ट की प्रमुख केप्टन लक्ष्मी खड़ी है।
दाहिने बाजू स्वतंत्रता सेना के प्रमुख जनरल जगन्नाथ कृष्ण भोंसले खड़े हैं।



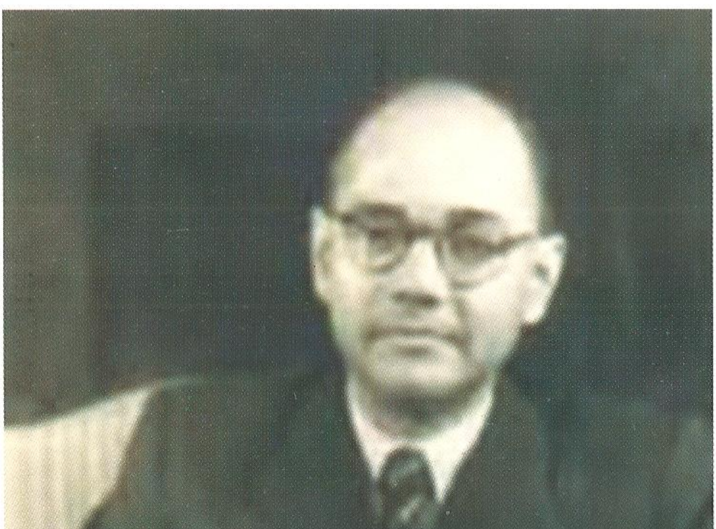
जापान में सेनाधिकारियों से विचार विमर्श करते हुए नेताजी।



हिन्दवी स्वतंत्रता सेना का निरिक्षण करते हुए नेताजी।

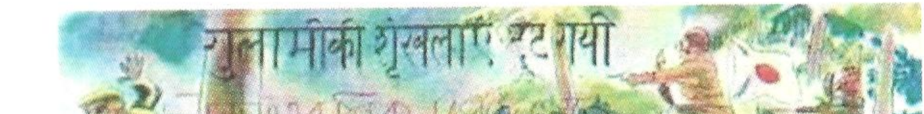


बर्मा में जन समारोह में सम्बोधन करते हुए नेताजी।



नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भविष्य के विषय में सोचते हुए।





विदेशों में जारी पोस्टर व चित्र जिसमें गुलाम हिन्दुस्तानियों की दुर्दशा दर्शायी गई।
यह चित्र व पोस्टर विदेशों में बसे भारतीयों को सेना में भर्ती के
आह्वान के लिए जारी किये गये थे।



लेखक पुरुषोत्तम नागेश ओक के साथी स्वतंत्रता सेना
के एक अधिकारी ले. अब्दुल लतीफ़ सयानी।

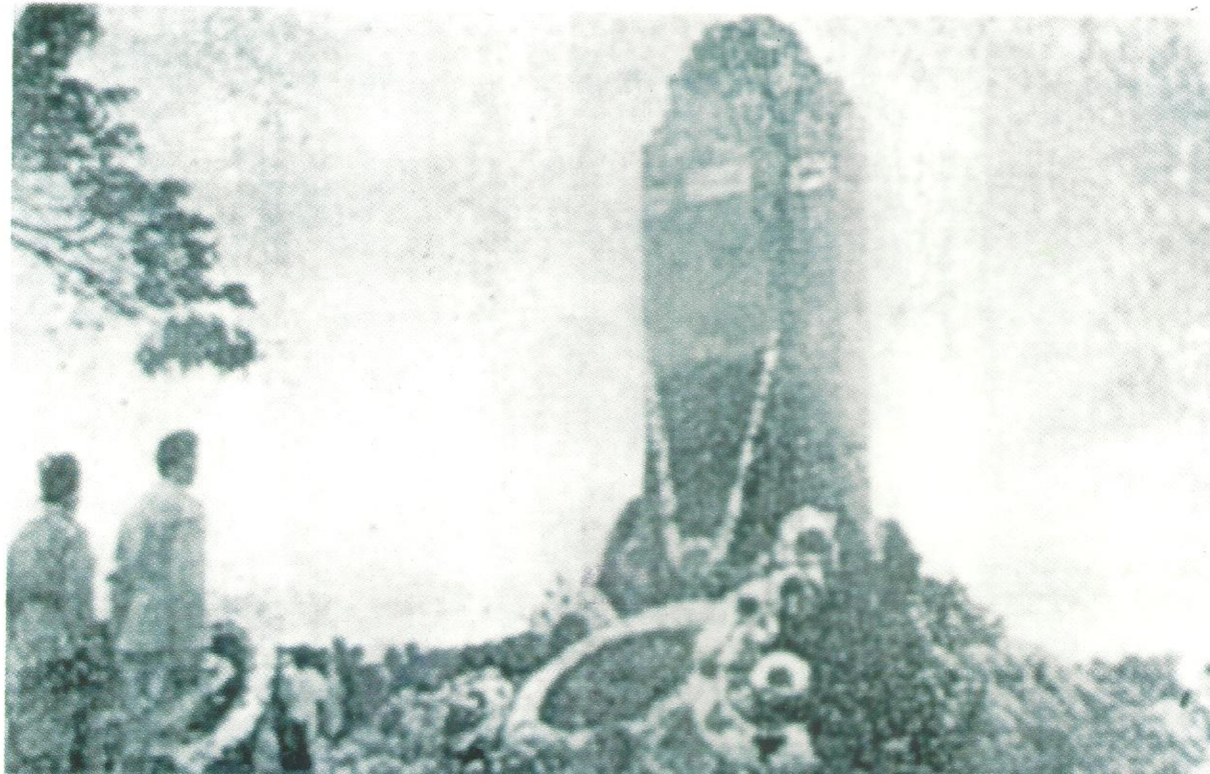
Second World War :
Events of the Far East - The I.N.A. Saga
पुस्तक के लेखक



हिन्दवी स्वतंत्रता सेना के सर सेनापति की वर्दी में नेताजी



हिन्दवी स्वतंत्रता सेना की वर्दी में लेखक।



हिन्दवी स्वतंत्रता सेना ने सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध जो संग्राम चलाया था उसका यह स्मारक भारतीयों ने सिंगापुर में खड़ा किया। युद्ध समाप्ति पर अंग्रेजों का सिंगापुर पर दुबारा कब्जा हुआ तब उन्होंने बारुदी सुरंग लगाकर इस स्मारक को नष्ट किया।



जर्मनी द्वारा प्रस्तावित आजाद हिन्द का डाक टिकट व करंसी नोट



नेताजी की स्मृति में जारी आजाद हिन्द / भारत सरकार द्वारा कुछ डाक टिकट

अध्याय बारह

श्री सुभाषचन्द्र बोस

सिंगापुर में थॉमसन रोड पर स्थित भारतीय स्वातन्त्र्य सेना के मुख्यालय में पहुँचा। वहाँ मुख्यालय एक छोटी-सी ऊँची पहाड़ी के मुख्य मार्ग पर ही स्थित था। उस पहाड़ी के नीचे वहाँ काम करनेवाले दो-चार वरिष्ठ अधिकारियों को छोड़कर, अन्य अधिकारियों के निवास के लिए झोंपड़ियाँ बनी हुई थीं।

अगले दिन प्रातः कर्नल भोंसले जब अपने कार्यालय में पधारे, तब मेरी उनके साथ भेंट हुई। उनका निवास वहाँ से दो फर्लांग के अन्तर पर था। उनसे प्रथम भेंट और औपचारिक वार्तालाप होने के उपरान्त मैं करीब एक मास बाद 6 जुलाई 1943 को उन्हीं के बँगले में रहने के लिए चला गया। जब मैं वहाँ पर था तब श्री सुभाषचन्द्र बोस टोकियो पहुँच गए हैं—यह सुसमाचार हमने 'आजाद हिन्द' नामक समाचारपत्र में पढ़ा। यह सर्वविदित ही है कि श्री सुभाषचन्द्र बोस ने जर्मनी से जापान तक की अपनी यात्रा पनडुब्बी के आश्रय ही पूर्ण की थी। सामान्य जनों को उस समय यह समाचार जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ था। यद्यपि उस समय से बहुत पहले ही नेताजी जापान आ चुके थे, तदपि जापानी सरकार से उनका वार्तालाप समाप्त होने तक जनता को यह समाचार विदित नहीं होने दिया था।

जापान के मुख्यमन्त्री जनरल तोजो, तथा सैनिक परिषद् के अन्य अधिकारियों के साथ उनकी चर्चा चलती रही थी। उस चर्चा का मुख्य आशय था—"जापान को भारत का स्वामित्व अपेक्षित नहीं है। दोनों का समान शत्रु एक होने के कारण दोनों परस्पर सहयोग करके अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करें।" इस विषय में जब नेताजी सुभाषचन्द्र को पूर्ण विश्वास हो गया, उसके उपरान्त ही उन्होंने सुदूरपूर्व में स्थित भारतीय स्वातन्त्र्य सेना का दायित्व स्वीकार करने का निश्चय किया। इस सारी चर्चा में श्री रासबिहारी बोस का प्रमुख योगदान था।

बाद में टोकियो रेडियो से सुभाषचन्द्र जी ने सारे भारतीय लोगों को

सम्बोधन करने के उद्देश्य से एक भाषण प्रसारित किया। उसमें 'भारत की स्वतन्त्रता स्थापित करने में जापान देश सब प्रकार से हमारी सहायता करने के लिए तैयार है, अतः इस अवसर का हमें अवश्य लाभ उठाना चाहिए' की घोषणा की थी। टोकियो में रहते हुए उन्होंने रेडियो से जो भी भाषण प्रसारित किये, उनमें दो भाषणों का प्रमुख रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। उनमें से एक भाषण जर्मनी के लोगों को सम्बोधित कर प्रसारित किया गया था। यह भाषण जर्मन भाषा में ही था। विगत एक वर्ष जब वे जर्मनी में रहे थे तो उस अवधि में उन्होंने जर्मन भाषा सीख ली थी। उस प्रसारण में उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के विषय में जो आत्मीयता व्यक्त की थी तथा उसने उसके लिए जो सहायता की थी, उसके लिए आभार व्यक्त करते हुए अन्त में कहा था, ''दोनों ही देशों का उद्देश्य सिद्ध हो जाने तक हम आपके साथ पूर्णतया सहयोग करेंगे, इसका विश्वास रखिए।''

दूसरा भाषण जापानियों को सम्बोधित कर प्रसारित किया गया था। उस भाषण में उन्होंने जापान द्वारा किया गया उनका हार्दिक स्वागत तथा आतिथ्य-सत्कार के लिए उसका धन्यवाद किया था। उन्होंने कहा था, ''सारे एशियाई देशों में आप ही ने उचित समय पर जागृत होकर यह युद्ध आरम्भ किया, यह सत्कार्य वास्तव में ही अत्यन्त सराहनीय है।'' इस प्रकार भाषण का आरम्भ कर उन्होंने जापान और भारतवासियों की समान आदतों और समान संस्कृति का उल्लेख किया और कहा कि इस प्रकार के परस्पर सहयोग से हम अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

नेताजी जिस समय टोकियो में रह रहे थे, उस समय कई बार उनकी भेंट विभिन्न अन्यान्य देशों के प्रतिनिधियों के साथ भी हुई। उस भेंटवार्ता में वे सदा ही इस बात का अनुमान लगाने के लिए तत्पर रहते थे कि कौन-कौन-से देश हमारे साथ, हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहानुभूति रखेंगे और हमारी सहायता करेंगे। इसका निरीक्षण वे बड़ी सूक्ष्मता से करते थे। इनमें एशिया के देशों में मुख्यतया जापान तथा योरोपीय देशों में प्रमुख रूप से जर्मनी—इन दो देशों पर ही उनका अधिक भरोसा था।

इसके बाद श्री सुभाषचन्द्र बोस श्री रासबिहारी बोस के साथ 2 जुलाई 1943 को वायुयान से सिंगापुर आए। विमानपत्तन पर उनके स्वागत के लिए ले०क० भोंसले तथा 8-10 प्रमुख अधिकारी उपस्थित थे। उनको सैनिक सम्मान देने के लिए 'आजाद हिन्द फौज' की एक टुकड़ी भी विमानपत्तन पर उपस्थित थी।

कुछ वरिष्ठ जापानी अधिकारी भी विमानपत्तन पर उनके स्वागत के लिए

उपस्थित थे। विमान से नीचे उतरते ही उन्हें माला पहनाई गई और सैनिक सम्मान दिया गया। इस सम्मान पर आभार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा, ''मित्रो! यह समय लम्बा-चौड़ा भाषण देने का नहीं है। आज मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि आपके मध्य आने की मुझे बड़ी प्रसन्नता है।'' उनका यह भाषण हिन्दी में था। तदनन्तर वे उनके लिए विशिष्ट रूप से आरक्षित स्थान के लिए प्रस्थान कर गए।

उनके निवास के लिए जो बँगला निर्धारित किया गया था वह सिंगापुर के 'कातोंग' नामक स्थान पर समुद्र के किनारे पर था। इससे पूर्व वह किसी करोड़पति ज्यू के आधिपत्य में था। युद्ध आरम्भ होते ही वह बँगला छोड़कर भाग गया था। अतः शत्रुओं की सीमा में जाकर शरण लेनेवालों की, जो सम्पत्ति जापानियों के अधिकार में आई थी, उनमें से यह बँगला भी था। बँगले के चारों ओर बारह फुट ऊँची दीवार बना दी गई थी। भीतर बाग-बगीचे थे। बँगले के द्वार पर सदा ही 'आजाद हिन्द फौज' के सैनिक तैनात रहते थे। मुख्य द्वार के निकट ही पहरेदारों का आवास था। समीप के दो-मंजिले मकान में उस बँगले में कार्यरत कर्मचारियों की आवास-व्यवस्था थी। पीछे की ओर विशाल समुद्र था।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ऊपर की दूसरी मंजिल पर रहते थे। केवल दो बार भोजन के लिए वे निचली मंजिल पर आते थे। सर्वोच्च सैनिक अधिकारी के बँगले पर जिस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए, वह सब वहाँ पर यथोचित रीति से की गई थी। नेताजी से सम्पर्क करने के लिए शिक्षित जापानी अधिकारियों को नियुक्त किया गया था जिनको जापानी भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का भी समुचित ज्ञान था।

नेताजी के घर की व्यवस्था के लिए बहुत समय से मलय में निवास करनेवाले श्री सुरीन बोस को नियुक्त किया गया। नेताजी से मिलने आनेवाले व्यक्तियों की सारी व्यवस्था भी वही देखते थे और उनका आदर-सत्कार करते थे। किसी परिषद् या बैठक के लिए आनेवाले अधिकारियों तथा उनके कर्मचारियों और बँगले में रहनेवाले सभी व्यक्तियों के रहन-सहन और खान-पान की व्यवस्था भी वही देखते थे।

नित्यप्रति नेताजी के साथ भोजन के लिए प्रातः और सायंकाल दोनों समय छः-सात वरिष्ठ अधिकारी अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति तो होते ही थे, यदि कभी किसी दिन कोई बाहर का कोई व्यक्ति न हो तो वे बँगले में रहनेवाले सब अधिकारियों को अपने साथ भोजन के लिए आमन्त्रित कर लेते थे।

भोजन करते हुए उस दिन के कामकाज, तात्कालिक समस्याएँ तथा

अन्यान्य आवश्यक बातों के अतिरिक्त अनेकानेक मनोरंजक चर्चाएँ भी हुआ करती थीं। नेताजी सबके साथ मुक्त रूप से वार्तालाप करते थे।

नेताजी बिल्ली, कुत्ते आदि पालतू पशुओं को रखने के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि हमें सर्वप्रथम मनुष्यों की ओर ध्यान देना चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जाती थी कि उनको कहीं से बिल्ली अथवा कुत्ते का स्वर सुनाई न दे। जो पालते थे, वे उनको छिपाकर रखते थे।

श्री सुरीन बोस बँगले की इतनी व्यवस्था बड़े ही सुचारु रूप से करते थे। वे सबका सब प्रकार से ध्यान रखते थे। उस बँगले की परिधि में रहनेवाले व्यक्तियों और परिवारों के लिए भी खाद्य-सामग्री की व्यवस्था उसी प्रकार की जाती थी जिस प्रकार किसी बटालियन की होती थी।

आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों ने निश्चय किया कि जिस प्रकार अन्यान्य राष्ट्रों के राष्ट्रपति के निवास और रहन-सहन की व्यवस्था होती है, वैसी ही व्यवस्था नेताजी की भी होनी चाहिए। अन्य देशों के राष्ट्राध्यक्षों का उनके पास आना-जाना लगा ही रहता था, इसके लिए भी यह सारी व्यवस्था आवश्यक थी, अन्यथा नेताजी तो सामान्य भारतीय जन के समान ही अपना रहन-सहन चलानेवाले व्यक्ति थे।

नेताजी की विशिष्ट मोटरकार के अतिरिक्त उनके बँगले पर दो मोटर-साइकिलें तथा विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए चार मोटर कारें सदा ही सुसज्ज रखी जाती थीं। इस प्रकार किसी राष्ट्राध्यक्ष के समान ही उनके निवास की सारी व्यवस्था रखी गई थी।

अध्याय तेरह

'नेताजी' नाम का प्रचलन

भारत की विशिष्ट प्रणाली के अतिरिक्त कार्य करना सरल न होने के कारण, इस प्रकार के कठिन कार्यों को न्यून अथवा अधिक मात्रा में करनेवाले लोगों को हम पूजनीय मानते हैं तथा उन्हें उन्हीं नामों से सम्बोधित भी करते हैं। किन्तु सुदूरपूर्व में श्री सुभाषचन्द्र बोस के समान काम करनेवाला अन्य कोई न होने के कारण, अथवा सुदूरपूर्व में उन्होंने जो कार्य कर दिखाया था, ऐसा कार्य करनेवाले उस महान् उपाधि को धारण करनेवाला कोई अन्य व्यक्ति भारतवर्ष में भी न होने के कारण तथा सभी लोगों के हृदय में उनके लिए विशिष्ट स्थान होने के कारण, उनके लिए उनके नाम के स्थान पर एक विशिष्ट सम्बोधन आवश्यक समझा जाने लगा था।

उनका वह सम्बोधन किसी प्रकार का विचार-विमर्श करने के उपरान्त अथवा कुछ लोगों की इच्छा के अनुसार निर्धारित नहीं किया गया था। उनका वह सम्बोधन सुदूरपूर्व में लाखों भारतीय जनों के हृदय में स्थित उनके प्रति आदर-सम्मान की भावना के वशीभूत उद्भूत हुआ था—लो वे आ गए! लक्ष-लक्ष भारतीयों के पूजनीय जनों में से वे एक हैं तथा वे सुदूरपूर्व में आकर अपने आन्दोलन का नेतृत्व स्वीकार करेंगे·····नहीं, उन्होंने यहाँ आकर उस नेतृत्व को स्वीकार कर लिया है!—यह समाचार जब आजाद हिन्द सेना के सेनानियों ने तथा सिंगापुर नगर के अन्यान्य साधारण लोगों ने सुना तो उस समय 'सुभाषचन्द्र बोस' बहुत बड़ा तथा एकवचन का-सा लगने के कारण वे लोग परस्पर जब उनके विषय में बोलते थे तो 'नेताजी' सम्बोधन स्वयं स्फूर्त रूप से प्रचलित हो गया था। विशेषतया सेना में तो अपने बड़ी श्रेणी के व्यक्ति से बोलते समय 'साहब' 'सर' आदि कहना ही पड़ता था। उनके स्थान पर 'नेताजी' सम्बोधन अधिक सार्थक और सरल लगने लगा था। सहसा वायुगति से यह सम्बोधन सुदूरपूर्व के सारे जनों तथा कागज-पत्रों में भी प्रचलित हो गया था।

इस सम्बोधन की उत्पत्ति के विषय में कुछ लोगों की धारणा है कि शिवाजी महाराज के समय के 'नेताजी' पालकर के नाम से इसका कुछ सम्बन्ध होगा, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं था। श्री सुभाषचन्द्र बोस को 'नेताजी' इसलिए सम्बोधित किया गया कि 'नेता' अर्थात् आगे बढ़ानेवाले इस शब्द को, आदर प्रदान करने के लिए 'जी' से संयुक्त कर दिया। तदुपरान्त वह नाम न केवल सिंगापुर अथवा आजाद हिन्द सेना में, अपितु समस्त विश्व में प्रचलित हो गया। उसी से उनकी ख्याति बढ़ी।

जिस प्रकार भारतीय लोगों ने आदरास्पद 'नेताजी' नाम रखा था, उसी प्रकार जापानी भी उनके नाम का संक्षिप्तीकरण करके 'चन्द्रबोस' नाम से सम्बोधित करते थे। जापान तथा जापान से बाहर स्थित सारे आबाल-वृद्ध जापानी उन्हें 'चन्द्रबोस' नाम से ही जानते थे। जापान में भी नेताजी की प्रसिद्धि उतनी ही हो गई थी जितनी कि भारत में। जापान का कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो उनको तथा उनके कार्य को न जानता हो। किसी पराये देश में इतना आदर-सम्मान प्राप्त करनेवाले 'नेताजी' एकमात्र सौभाग्यशाली व्यक्ति थे।

जैसे ही नेताजी सिंगापुर आए, वैसे ही सुदूरपूर्व में स्थित सभी भारतीय जनों की एक प्रतिनिधि सभा आयोजित करने का निर्णय टोकियों में ही श्री रासबिहारी बोस और श्री सुभाषचन्द्र बोस ने परस्पर ले लिया था। उनके वहाँ पहुँचने पर फिलिपीन्स, बोर्नियो आदि देशों के भारतीय लोगों को उस सभा में सम्मिलित होने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए लिखा गया। जापानी सैन्य परिषद् की ओर से उन-उन प्रदेशों के मुख्य अधिकारियों को इन भारतीय प्रतिनिधियों को सिंगापुर जाकर वापस आने के लिए वायुयानों की व्यवस्था करने के आदेश हो गए।

नेताजी जुलाई 1943 में सिंगापुर पहुँच गए थे। 4 तारीख को परिषद् का अधिवेशन निश्चित हुआ था। 2 तथा 3 तारीख को नेताजी के निवास-स्थान पर महत्त्वपूर्ण लोगों में परस्पर विचार-विमर्श चलता रहा था। सुदूरपूर्व की सारी महत्त्वपूर्ण बातें तथा वहाँ के प्रसिद्ध व्यक्तियों के परिचय आदि नेताजी को कराने का विशिष्ट कार्य श्री रासबिहारी बोस को सौंपा गया था। श्री बोस अधिकांश समय नेताजी के साथ ही रहते थे। जापानी सैन्य-परिषद् के सिंगापुर के सब बड़े अधिकारी आकर नेताजी से मिले और उनका अभिवादन किया। परस्पर वार्त्तालाप के मध्य उन्होंने नेताजी को सब प्रकार से सहयोग देने का वचन दिया।

सिंगापुर-स्थित सभी जर्मन अधिकारी, जर्मन जहाजी बेड़ों के प्रमुख भी नेताजी से मिलने के लिए आए। अभिवादनोपरान्त उन्होंने जर्मनी में उनके

आतिथ्य की जानकारी प्राप्त की और उनके सुख-स्वास्थ्य का समाचार पूछने के उपरान्त उन्होंने भी आश्वासन दिया कि जर्मनी सदा उनके साथ सहयोग करता रहेगा।

सिंगापुर-स्थित अनेक विशिष्ट जनों की भेंट श्री रासबिहारी बोस ने नेताजी के साथ करवाई। ले०क० भोंसले तथा आजाद हिन्द सेना के अन्यान्य विशिष्ट अधिकारियों से भी उन्हें मिलवाया और परस्पर विचार-विमर्श भी करवाया।

इन सब कार्यों से निवृत्त होने के उपरान्त समय-समय पर श्री रासबिहारी बोस ने नेताजी को सुदूरपूर्व में रहनेवाले सभी प्रमुख भारतीयों के विषय में जानकारी दी और उनके कार्यों से भी उनको अवगत कराया। कैप्टन मोहनसिंह का भी विस्तृत परिचय उन्होंने नेताजी को दिया।

इस प्रकार सबका परिचय प्राप्त कर नेताजी ने दो-तीन दिन के भीतर ही अपने भविष्य के कार्य की योजना बना ली और वे अविरत कार्य में जुट गए।

सिंगापुर विमानपत्तन पर जिस समय नेताजी उतरे थे, उस समय वे खादी का कोट, टोपी तथा पैंट पहने हुए थे। किन्तु अपने निवास-स्थान पर पहुँचते ही उन्होंने साधारण भारतीयों की भाँति नित्य का पहनावा खादी की कमीज, धोती और टोपी को अपना लिया।

4 तारीख को होनेवाले सम्मेलन के लिए तीन तारीख की शाम को ही हांगकांग, इण्डोचाइना, फिलिपीन्स, मंचूरिया, जावा, सुमात्रा, ब्रह्मदेश आदि-आदि स्थानों के सारे भारतीय प्रतिनिधि आकर एकत्रित हो गए थे।

इस परिषद् की व्यवस्था सिंगापुर की एक चौदह-मंजिली इमारत के निचले तल के सभागृह में की गई थी। सभागृह के बाहर की सारी व्यवस्था भारतीय सेना के जिम्मे थी। सारा सभामण्डप भारतीय तिरंगों तथा जापानी पताकाओं से सुशोभित था। मंच पर दो कुर्सियाँ रखी गई थीं। दीवार के पीछे भी भारतीय तथा जापानी ध्वज फहरा रहे थे। सभामण्डप में लगभग एक हजार लोगों के बैठने की व्यवस्था थी। प्रतिनिधियों के अतिरिक्त भी विभिन्न प्रतिष्ठित नागरिकों को इसमें भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया था। सभागृह में प्रविष्ट होने के लिए प्रवेश-पत्र वितरित किये गए थे।

सभागृह पूर्णतया भरा हुआ था और जिन लोगों के पास प्रवेशपत्र नहीं था वे बाहर खड़े-खड़े ही ध्वनिविस्तारक की सहायता से भीतर के व्याख्यान का आनन्द उठा रहे थे।

जुलाई 1943 की 4 ता० के प्रातःकाल ठीक 8 बजे नेताजी, श्री रासबिहारी बोस तथा ले०क० भोंसले मोटर कार द्वारा सभामण्डप पधारे। उनके पीछे-पीछे

अन्यान्य भारतीय तथा जापानी अधिकारियों की कारें थीं। नेताजी तथा श्री रासबिहारी बोस का सैनिक अभिवादन किया गया। तदनन्तर दोनों विभूतियाँ सभागृह में प्रविष्ट होकर मंच पर स्थापित कुर्सियों पर जा विराजमान हुईं। उन दोनों की जय-जयकार से सारा वातावरण गुंजायमान हो रहा था।

समारोह के प्रारम्भ में कुछ भारतीय बालाओं ने वन्दे मातरम् गान के साथ-साथ कुछ अन्य देश-भक्ति के गीत गाए। तदुपरान्त दोनों विशिष्ट अतिथियों को प्रतिष्ठित व्यक्तियों और विभिन्न संस्थाओं की ओर से मालाएँ पहनाई गईं।

उस समय नेताजी की आयु साढ़े छियालीस वर्ष की थी। स्वास्थ्य की दृष्टि से उनका जर्मनी-आवास लाभदायक रहा था—ऐसा उनकी मुखाकृति से प्रकट होता था। श्री रासबिहारी बोस की आयु उस समय साढ़े चौंसठ वर्ष की थी। आयु के अधिक होने तथा विगत कई वर्ष से कष्टमय जीवन व्यतीत करने के कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था।

तालियों की गड़गड़ाहट के मध्य सुदूरपूर्व की आजाद हिन्द सेना के प्रथम प्रमुख के नाते श्री रासबिहारी बोस भाषण देने के लिए खड़े हुए। अपने विस्तृत भाषण में उन्होंने सुदूरपूर्व में भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का विवरण दिया और फिर यह भी परामर्श दिया कि वर्तमान परिस्थिति में, जबकि जापान एक महान् शक्ति के रूप में उभरा है और वह सब प्रकार से भारतीयों की सहायता के लिए तत्पर है तो हमें चाहिए कि हम अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए उसके साथ मिलकर प्रयत्न करें। इस सुअवसर को किसी भी प्रकार हमें हाथ से गँवाना नहीं चाहिए।

श्री बोस ने अपनी बढ़ती आयु और गिरते स्वास्थ्य का भी अनेक बार उल्लेख करते हुए बताया कि जो दायित्व वे अब तक वहन करते आ रहे थे, उसे अब अधिक समय तक वहन करने का सामर्थ्य उनमें नहीं रहा है। ऐसे समय में उन्होंने नेताजी के नेतृत्व की सराहना की। भारतीय स्वातन्त्र्य सेना ने अब तक जो कार्य किया था, उसके लिए प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा कि नेताजी ने यहाँ आकर इस सारे कार्यभार का दायित्व लेने का जो निश्चय किया है उसके लिए भारतीय सेना और भारत देश उनका ऋणी रहेगा। हम उनके आभारी होंगे।

अपने भाषण के अन्त में उन्होंने अपनी असमर्थता का उल्लेख करते हुए स्वातन्त्रता-आन्दोलन के नेतृत्व तथा अध्यक्ष-पद के कार्य से निवृत्त होने की इच्छा व्यक्त करते हुए सबसे क्षमा-याचना की और यह भी कहा कि भविष्य में इस कार्य की बागडोर अपने से अधिक कर्तृत्वशील, उत्साही, कार्यक्षम तथा अपेक्षाकृत युवक एवं जगद्वंद्य विभूति को सौंपते हुए धन्यता अनुभव कर रहे हैं।

श्री रासबिहारी बोस के भाषणोपरान्त ज्यों ही नेताजी भाषण देने के लिए

खड़े हुए तो बहुत समय तक तो सारे सभागृह में तालियाँ बजती रहीं। नेताजी का जय-जयकार होता रहा। सभागृह ही नहीं, अपितु उसके आस-पास का सारा वातावरण इन जयघोषों से गुंजित होता रहा। जब यह उत्साह कुछ शान्त हुआ तो नेताजी ने भाषण देना आरम्भ किया।

उन्होंने कहा, ''बन्धुओ! आपने जो प्रेम, सौहार्द्र, सद्भावना, प्रशंसा और सराहना तथा सहायता-सहयोग का वातावरण निर्माण किया है, उससे मैं अभिभूत हूँ। मैं आपके इस कृतज्ञता-बोझ से दबा जा रहा हूँ। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि मैं वास्तव में इस सबके लिए योग्य व्यक्ति हूँ। मैं जो उत्तरदायित्व ग्रहण कर रहा हूँ वह कितना भयावह और संकटापन्न है, इस तथ्य से भी मैं भलीभाँति परिचित हूँ।''''

''श्री रासबिहारी बोस महाशय ने सुदूरपूर्व में आज तक जो-जो कार्य किये हैं, उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम है। अपने बिगड़ते हुए स्वास्थ्य का विचार न करते हुए, युद्ध के आरम्भ होते ही भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम को प्रबल वेग से आरम्भ कर उसे आज के इस विराट रूप में प्रस्तुत किया—इसके लिए उनको जितना धन्यवाद दिया जाय वह कम ही होगा।''''

''कोई भी कार्य संकटों का सामना किये बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में परदेश में रहते हुए इस कंटकाकीर्ण कठिन मार्ग से अपने लिए मार्ग बनाते हुए कितनी कुशलता, शांति तथा बुद्धिमत्ता से उन्हें अपनी नौका चलानी पड़ी होगी, इसका अनुमान आप सब लोग सहज ही लगा सकते हैं। जहाँ तक मेरा विचार है—जब तक सशस्त्र क्रान्ति के माध्यम से विरोधी के साथ युद्ध कर उसको परास्त न किया जाय, तब तक स्वतन्त्रता प्राप्त होना सम्भव नहीं है। हमें शत्रु के साथ प्रत्यक्ष युद्ध करना ही पड़ेगा। इसका कोई अन्य विकल्प नहीं है।''''

''इस कठिन कार्य की सिद्धि के लिए अपने ही देश में रहकर युद्ध-सामग्री एकत्रित करना, सैनिकों को तैयार करना आदि-आदि अनेक प्रमुख कार्य कर पाना सम्भव नहीं था। परिणामस्वरूप किसी बहाने से मुझे देश से बाहर निकलना पड़ा। इस प्रयाण में मेरा मुख्य उद्देश्य यह जानना था कि अंग्रेज और अमेरिका जैसे शत्रुओं से युद्ध करने के लिए कौन-कौन-से देश हमारी सहायता कर सकते हैं और उनमें से कौन-कौन-से इसके लिए तत्पर हो जाएँगे।''''

''अपने देश से निकलकर मैंने योरोपीय देशों का भ्रमण किया और उनके विचारों को जानने का यत्न किया। स्थिति का सम्यक् आकलन करने के उपरान्त जापान आकर मैंने वहाँ के बड़े-बड़े अधिकारियों के साथ विचार-विमर्श किया।''''

"इन सबका जो निष्कर्ष मैंने निकाला वह यह है कि जिन-जिन देशों में मैं गया और जिन-जिनके साथ मैंने विचार-विमर्श किया, उन सबकी हार्दिक इच्छा यही है भारत को स्वतन्त्र होना ही चाहिए। इस कार्य में वे भारतीय लोगों की सब प्रकार से सहायता करने के लिए भी तत्पर दिखाई दिए।....

"अंग्रेज तथा उनके पिट्ठू देश हमें कुख्यात करने के लिए कहा करते हैं कि हमारा रुझान फासिस्ट देशों की ओर हो रहा है। किन्तु हमें उन देशों की आन्तरिक राजनीति से कोई सरोकार नहीं है। हमें तो अपने कार्य की सिद्धि के लिए उनकी सहायता चाहिए। और जो-जो देश हमें इस कार्य में सहायता तथा सहयोग देंगे, उन्हें हम अपना मित्र देश घोषित करने में किंचित् भी संकोच नहीं करेंगे।....

"विभिन्न देशों द्वारा स्वतन्त्रता के लिए किये संग्राम का अध्ययन करने के उपरान्त मुझे ऐसा लगा कि किसी भी पराजित देश को अपनी स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करने के लिए दो बातों की मुख्य आवश्यकता होती है—युद्ध की घोषणा करने के लिए बहुत बड़ी सुसज्ज सेना तथा स्वतन्त्रता की इच्छा रखनेवालों की अपनी स्वतन्त्र सरकार। किन्तु हमारी स्थिति में भारत में रहते हुए इन दोनों बातों को साध्य कर पाना कठिन तो क्या, नितान्त असम्भव था। परन्तु यहाँ पर हम इन दोनों बातों को कर सकते हैं। इस सुकार्य में आप सब लोगों की सहायता, सहयोग और निष्ठा तथा लगन पूर्वक कार्यरत होने से हम यश प्राप्त करने में सफल होंगे, इसमें मुझे सन्देह के लिए कोई स्थान दिखाई नहीं देता।...."

नेताजी के इस ओजस्वी भाषण के उपरान्त 'वन्दे मातरम्' गाया गया। तदनन्तर कार्यक्रम-सम्पन्नता की घोषणा की गई।

अगले दो-तीन दिनों में कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं। परिणामस्वरूप इस परिषद् का कार्य कुछ अधिक ही बढ़ गया। इस प्रकार इस सप्ताह एक के बाद एक इस प्रकार कार्यक्रम होते रहे और सप्ताह कब बीता इसका पता ही नहीं चला।

तदपि, इस आपाधापी में भी समय निकालकर परिषद् के प्रमुख व्यक्तियों की बैठकें होती थीं तथा अल्पाहार आदि के कार्यक्रम भी होते थे। इन सब कार्यक्रमों में नेताजी स्वयं उपस्थित रहते थे। वे प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श करते और उन्हें आवश्यक निर्देश भी देते थे। सिंगापुर में बाहर से आए प्रतिनिधियों को उन्होंने वापस जाने से पूर्व अपने-अपने प्रदेशों में स्थित भारतीय लोगों की स्थिति, स्वतन्त्रता आन्दोलन की गतिविधि, वहाँ की सरकार की सहानुभूति आदि के विषय में लिखित विस्तृत विवरण देने का निर्देश दिया। हर

किसी को यह छूट थी कि इस कार्य के सम्बन्ध में लिखित और मौखिक सूचना दे।

इसी प्रसंग में लगभग सभी प्रतिनिधियों ने नेताजी से आग्रह किया कि वे उनके प्रान्तों में एक बार स्वयं आकर स्थिति का आकलन करने की कृपा करें और फिर उन लोगों को आवश्यक निर्देश दें। नेताजी ने उनके आग्रह को स्वीकार कर लिया। किन्तु उन्होंने कहा कि उनके आने से पूर्व वे प्रतिनिधि अपने-अपने प्रान्तों के गाँव-गाँव में जाकर वहाँ पर सब स्थानों पर भारतीय स्वातन्त्र्य संघ के केन्द्रों की स्थापना करें। इस प्रकार अपने संगठन का जाल सर्वत्र फैलाकर यथा-समय उन्हें सूचित करें। उन्होंने यह भी निर्देश दिया कि वे उन-उन स्थानों पर अपने संगठन से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति का नाम, काम, आयु, उसकी गति-विधि, आय और आय के साधन, सम्पत्ति आदि का विवरण भी तैयार करें।

इस प्रकार परिषद् का कार्य सम्पन्न होने पर जिस-जिस प्रतिनिधि को जब-जब वायुयान में स्थान उपलब्ध हुआ, वह वहाँ से विदा हो गया।

5 जुलाई को आजाद हिन्द सेना की 'मिलिटरी रिव्यू' अर्थात् सैनिक समीक्षा की गई। इसका उल्लेख करना आवश्यक है। सिंगापुर नगर के दक्षिण में स्थित भवनों में एक भव्य भवन नगरपालिका का भी है। भवन कुछ ऊँचाई पर होने से उससे नीचे सड़क पर जाने के लिए कुछ सीढ़ियाँ उतरना पड़ता है। उन सीढ़ियों के मध्य में एक चबूतरा बना हुआ है और उस पर मेज, कुर्सी तथा माइक्रोफोन की व्यवस्था की गई थी।

यहाँ पर नेताजी, रासबिहारी बोस, ले०क० भोंसले और कुछ अन्य जापानी अधिकारी तथा कुछ अन्य प्रतिनिधि बैठे हुए थे। सड़क के उस पार एक बहुत बड़ा हरा-भरा मैदान था। उससे परे एक सड़क थी और उसके पास ही समुद्र था। यहाँ पर ही समुद्र के किनारे सन् 1914 के महायुद्ध की स्मृति में एक शिला स्थापित थी और उसके नीचे एक चबूतरा बना था। उस युद्ध-स्मारक पर, विभिन्न वृक्षों पर तथा समुद्र के तट पर स्थित मार्ग की ओर प्रेक्षकों की एक बड़ी भीड़ एकत्रित हो गई थी।

उस समय आजाद हिन्द सेना के सैनिकों की संख्या केवल दस हजार ही थी। इस सेना की विभिन्न टुकड़ियाँ अपने-अपने युद्ध-साहित्य के साथ जिस क्रम से नेताजी के सामने से गुजरनेवाली थीं, उसी क्रम से अपने विशेष गुटों में समुद्र-तट पर भी वे सुसज्जित थीं। नेताजी ने वहाँ आकर पहले से निर्धारित व्यवस्था के आधार पर डोरी खींचकर ध्वजोत्तोलन किया। उस समय सैनिकों की एक टुकड़ी ने बैण्ड पर राष्ट्रगीत-धुन बजाई। गीत समाप्त होने पर नेताजी ने

झण्डे को सलामी दी।

इसी प्रकार अगले दो वर्ष तक इस आन्दोलन के प्रत्येक कार्यक्रम के आरम्भ में ध्वज-वन्दना तथा राष्ट्रगीत का यह समारोह होता रहा था। यदि उस समय नेताजी उपस्थित होते तो वह स्वयं, तथा अन्य समय पर स्वातन्त्र्य सेना के अन्य बड़े अधिकारी ध्वजोत्तोलन कर सलामी लेने की रीति का निर्वाह करते थे।

उस समय भी यह कार्यक्रम सम्पन्न होने अर्थात् सलामी लेने के उपरान्त नेताजी आकर अपनी कुर्सी पर बैठ गए। माल्यार्पण से उनका स्वागत किया गया और फिर उन्होंने सैनिकों को सम्बोधित किया। अपने उद्बोधन में उन्होंने भारतीय स्वातन्त्र्य सेना के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि वह अंग्रेजों की सेना की भाँति वेतनभोगी अथवा किराये की सेना न होकर क्रान्तिकारी और ध्येयवादी संगठन है। इस बात की अनुभूति हम सबको होनी चाहिए। और फिर उन्होंने कहा, ''इस ध्येय के लिए प्राणों को अर्पण करने की आपकी तैयारी देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता तथा आपके प्रति आदर प्रतीत हो रहा है। अपना ध्येय प्राप्त होने तक निरन्तर युद्ध करना अथवा प्रसन्नता से मृत्यु का वरण करना, ये दो बातें ही सच्चे सैनिक का कर्त्तव्य होता है, जो उसे सदा ध्यान में रहता है, अर्थात् आपमें से प्रत्येक सैनिक इस कसौटी पर खरा उतरेगा—मुझे इस बात का पूरा विश्वास है।''

नेताजी का भाषण समाप्त होते ही समुद्र-तट पर एकत्रित सैनिक टुकड़ियाँ धीरे-धीरे आगे के लिए बढ़ने लगीं तथा उस रास्ते से मुड़कर नेताजी के सामने के चबूतरे के पासवाले मार्ग से जाने लगीं। जो-जो टुकड़ी नेताजी के सम्मुख आती थी, वह उनको सलामी देकर आगे बढ़ती थी। बैंड के ताल पर यह सब कार्क्रम चल रहा था।

जुलाई की 6 तारीख को जापान के प्रधानमंत्री जनरल तोजो एक वायुयान से सिंगापुर आ विराजे। उनके स्वागत के लिए नगर में स्थान-स्थान पर सजावट की गई थी। उनके आगमन से दो दिन पूर्व ही जनरल तोजो की सुरक्षा के लिए जापानी सुरक्षा अधिकारी सिंगापुर के विभिन्न मार्गों पर नियुक्त कर दिए गए थे जो आने-जानेवाले प्रत्येक व्यक्ति की जाँच करते थे।

जनरल तोजो के पधारने पर उनका स्वागत किया गया। जनरल तोजो ने जब नेताजी से भेंट की तो परस्पर वार्ता के प्रसंग में विगत दिन आज़ाद हिन्द सेना की समीक्षा करने का प्रसंग भी सम्मुख आया तो जनरल तोजो उसे सुनकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से यह सब देखने की इच्छा व्यक्त की। पुनरेण उसका प्रबन्ध उसी प्रकार किया गया और इस बार सलामी लेनेवाले

अकेले नेताजी नहीं अपितु जनरल तोजो भी उनके साथ खड़े थे। इस प्रकार दूसरे दिन यह कार्य सम्पन्न हुआ।

7 जुलाई को सहसा जनरल तोजो अपने सामान्य घरेलू वेश में प्रातः भ्रमण के लिए अपने निवासस्थान से बाहर निकले। मार्ग में उनको कुछ जापानी अधिकारी अपनी मोटरगाड़ियों में आते-जाते दिखाई पड़े। जनरल तोजो ने उन्हें रोका और उन्हें अपने वाहनों से नीचे उतरने के लिए कहा। उनसे पूछा गया कि वे कहाँ जा रहे हैं तो उन्होंने बताया कि उस स्थान से एक मील पर स्थित जापानी अधिकारियों के पास जा रहे हैं। जनरल तोजो किसी कारणवश क्रोधित हो गए और उन्होंने उनको डाँट दिया। उन्होंने कहा, "क्या तुम लोगों को यह पता नहीं है कि इस समय जापान पर जी-जान की बनी हुई है। युद्ध पर हमारा करोड़ों व्यय हो रहा है। ऐसे समय में इतने निकट जाने के लिए आप पैदल अथवा साइकल पर जा सकते थे। मोटरकार और पेट्रोल की आज अपने देश को कितनी आवश्यकता है, क्या इस बात का आप लोगों को अन्दाज़ा नहीं है? यह सब सामग्री युद्ध के लिए सुरक्षित है। आप लोगों को चाहिए कि जब नितान्त आवश्यकता हो और उसके बिना काम न चलता हो तभी इनका व्यय अथवा उपयोग करना चाहिए। यह समय बचत करने का है। अपना देश इतना सम्पन्न नहीं है। जिस शत्रु से हमें टक्कर लेनी है वह बलशाली तथा सम्पन्न भी है। यह बात आपको भूलनी नहीं चाहिए।"

जनरल तोजो के सम्मुख होने पर उन अधिकारियों के रोंगटे खड़े हो गए थे। उन्होंने अपने वाहन वापस भेज दिए और वे आगे के लिए पैदल ही चल पड़े।

उसके बाद जनरल तोजो एक-दो जापानी अधिकारियों के बँगलों के भीतर भी अनायास ही प्रविष्ट हो गए। उन बँगलों में पहले अंग्रेज अधिकारी रहते थे, अतः वहाँ पर सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ अभी भी विद्यमान थीं। जनरल तोजो ने यह सब उन बँगलों के भीतर देखा और फ्रिज खोलकर यह भी देखा कि उनमें डबलरोटी, मक्खन, मछलियाँ, मांस आदि अनेक वस्तुएँ दिखाई दीं।

जनरल तोजो ने उन बँगलों के स्वामियों को अपने पास बुलाकर कहा, "इतने सुख-सुविधाओं का उपभोग करते हुए आप युद्ध किस प्रकार लड़ पाएँगे? जब एक व्यक्ति इतने पदार्थ खाएगा तो बाकी के लोग क्या खाएँगे? क्या आपको अनुमान है कि यदि आप बचत करके अपना जीवन चलाएँगे तो युद्ध के क्षेत्र में इससे कितने लोगों को खाद्य-सामग्री मिल सकती है?"

अधिकारियों के पलँग और उन पर बिछे गद्दे भी उन्हें अच्छे नहीं लगे। इस

प्रकार सहसा अपने अधिकारियों के रहन-सहन का निरीक्षण करने के उपरान्त वे अपने निवास-स्थान पर आ गए।

उस युद्धकाल में जापानी सेना में अनुशासन की भावना इतनी उच्च हो गई थी कि कोई भी सैनिक अथवा अधिकारी अपने कर्त्तव्य से कभी भी और किसी भी स्थिति में विमुख हो ही नहीं सकता था। उनमें राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भर दी गई थी। उन्होंने सादा जीवन जीना और अपने उच्चाधिकारियों की आज्ञा-पालन करना भली-भाँति सीख लिया था। सारा जापान देश मानो एक परिवार ही है, इस प्रकार की भावना जन्म से ही भर दी जाती थी।

सिंगापुर आने पर प्रारम्भ के 4-6 दिन तक नेताजी सामान्य खादी के वस्त्रों में ही रहे थे, किन्तु ज्यों ही उनकी सैनिक वेशभूषा तैयार हुई उन्होंने उसे धारण करना आरम्भ कर दिया। उनके कोट के ऊपर दाईं ओर की जेब के पास दो बिल्लों के मध्य में नीले रंग का भारतवर्ष का मानचित्रवाला बिल्ला भी लगा रहता था।

9 जुलाई की सायंकाल नेताजी ने सिंगापुर में रहनेवाले भारतीयों के सम्मुख भाषण दिया। इस भाषण की व्यवस्था भी पहलेवाले स्थान पर ही की गई थी। अन्य माननीय व्यक्ति भी उनके साथ मंच पर विराजमान थे। इससे पूर्व इतनी संख्या में किसी के भाषण के लिए जनसमुदाय एकत्रित नहीं हुआ था। उन दिनों न केवल भवनों की छतों पर, अपितु वृक्षों पर भी लोग चढ़कर नेताजी की एक झलक पाने के लिए लालायित दिखाई दिए थे। इस भीड़ को देखकर विदेशी लोगों ने भी कदाचित् यह अनुमान लगाया होगा कि भाषण देनेवाला कोई असाधारण ही व्यक्ति होगा, अत: वे लोग पर्याप्त संख्या में वहाँ पर एकत्रित हो गए थे। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी तथा कुछ जापानी व्यक्ति भी इस अवसर के फोटो लेते दिखाई दिए।

राष्ट्रगान और माल्यार्पण आदि की प्राथमिकता पूर्ण होने पर नेताजी ने भाषण देते हुए कहा—

''मित्रो! अभी कुछ ही दिन पूर्व मैंने प्रतिनिधियों की सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था तथा आपको भी बताना चाहता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति में भारतवर्ष में रहकर सशस्त्र क्रान्ति कर पाना सम्भव नहीं था। अत: हमने इस युद्ध का लाभ उठाते हुए आकलन किया कि हमें जर्मनी, जापान आदि अंग्रेजों के शत्रु देशों में से कौन-कौन-से देश सहायता दे सकते हैं। इस कार्य के लिए मैं भारतवर्ष से किसी प्रकार बाहर निकला और जर्मनी आदि देशों का दौरा करता हुआ जापान पहुँचा। इस अवलोकन के उपरान्त मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि

भारत को स्वतन्त्र करवाने के लिए इन देशों में न केवल सहानुभूति का वातावरण है अपितु वे शस्त्रास्त्रों की सहायता करने के लिए भी समुद्यत हैं। आवश्यकता पड़ गई तो अपने सैनिक भी इस सुकार्य के लिए भेजने के लिए ये देश तत्पर हैं।....

"इस स्थिति में मेरा यह आकलन है कि ऐसे अनुकूल वातावरण का लाभ हमें अवश्य उठाना चाहिए। यह सब हम पर निर्भर करता है कि हम किस प्रकार इसके लिए प्रयत्न कर अपने उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर होते हैं।....

"अंग्रेज बड़े दम्भ से कहते रहते हैं—हमारी सारी व्यवस्था सुदृढ़ होती है। परन्तु इतना सब-कुछ होते हुए भी मैं उनके देखते-देखते वहाँ से सकुशल निकलकर आ गया और वे मुझे कहीं पर भी रोकने के लिए सन्नद्ध दिखाई नहीं दिये। आज हम जिस मुकाम पर पहुँच गए हैं अब उसको रोक पाना उनके लिए नितान्त असम्भव है। न उनमें अब इतना साहस ही है कि वे हमें रोकने का यत्न करें। वे मुझे फिर से भारत में प्रविष्ट होने से भी रोक नहीं पाएँगे।....

"भारत स्वतन्त्र हो, यही मेरा लक्ष्य है। यही लालसा, अभिलाषा मेरे रोम-रोम में व्याप्त हो रही है। दूसरे किसी अन्य विषय की ओर मेरा ध्यान ही नहीं जाता है। मैं समझता हूँ कि आप सबके हृदयों में भी यही कामना विद्यमान होगी। अपने कार्य की सिद्धि के लिए मुझे तीन लाख सैनिक और तीन करोड़ रुपयों की आवश्यकता है। हम परतन्त्र क्यों हैं और आज तक हम स्वतन्त्र क्यों नहीं हो पाए, जब मैंने इस पर विचार किया तो मैंने पाया कि हमने स्वतन्त्रता का मूल्य ही नहीं चुकाया तो हम स्वतन्त्र किस प्रकार होते ?....

"प्रत्येक वस्तु का उसका अपना मूल्य होता है अर्थात् स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए रक्तदान आवश्यक है। उसके बिना स्वतन्त्रता की प्राप्ति नितान्त असम्भव है। आज मैं दृढ़ता और विश्वास से कहता हूँ—'आप मुझे रक्त दीजिये और मैं आपको स्वतन्त्रता दिलाता हूँ।' आज के बाद हर भारतीय का यही ध्येय होना चाहिए कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर देश की स्वतन्त्रता के लिए कटिबद्ध होगा। इसके लिए यथाशक्ति अधिक से अधिक सैनिकों को जुटाना होगा और उसी परिमाण में अधिक से अधिक धन एकत्रित करना होगा। यह सब करने की प्रार्थना ही मैं आप सबके सम्मुख कर रहा हूँ।"

उस भाषण में नेताजी ने अनेक विचारोत्तेजक उद्घोष किये और उनका यह भाषण ढाई घण्टे तक चलता रहा था तथा श्रोतागण मन्त्रमुग्ध-से सुनते रहे थे। यहाँ तक कि भाषण के मध्य जोरदार वर्षा भी हुई, किन्तु न तो नेताजी ने अपने भाषण को विराम दिया और न ही श्रोतागण वहाँ से उठकर गए। सब अपने-अपने

स्थान पर इस प्रकार बैठे रहे मानो किसी प्रकार की न उखड़नेवाली गोंद से चिपके हों।

इस भाषण के उपरान्त नेताजी का एक अन्य महत्त्वपूर्ण भाषण 12 जुलाई 1943 को हुआ। वह भाषण भारतीय स्वतन्त्रता संघ की महिला शाखा की ओर से भारतीय नारियों के लिए आयोजित किया गया था। उस भाषण के लिए नेताजी के सभागृह में पहुँचने पर शस्त्रधारी महिला सैनिकों ने उनका सैनिक अभिवादन किया। यह भाषण भारतीय स्वतन्त्रता संघ की सिंगापुर शाखा के कार्यालय में रखा गया था। अपने उस अविस्मरणीय भाषण में नेताजी ने उद्घोष किया—

"भारतीय नारियों की वीरता की परम्परा बहुत प्राचीन तथा उज्ज्वल है। भारतीय नारियों में रानी दुर्गावती, चाँदबीबी, पन्ना धाय, महारानी अहिल्याबाई, जौहर के लिए सदा से तत्पर राजपूत नारियाँ तथा झाँसी की रानी महारानी लक्ष्मीबाई की स्मृति सदा ही आपके मन में जागृत रहती है। 1857 के भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य समर में केवल एक ही, महारानी लक्ष्मीबाई, समरांगण में कूदी थीं। परन्तु वर्तमान स्वतन्त्रता संग्राम में उस प्रकार की सहस्रों महारानी लक्ष्मीबाई उत्पन्न होनी चाहिएँ, तभी समझा जाएगा कि आपने उनकी स्मृति की सार्थकता को सिद्ध कर दिया है।...."

"अनेक लोगों को हम यह कहते सुनते हैं कि महिलाओं का कार्य रणक्षेत्र में जाने का नहीं है। आप लोगों को चाहिए कि इस प्रकार की दुर्बल तथा देशघातिनी मनोवृत्ति को अपने मन से सदा-सदा के लिए निकाल बाहर करें। आप सब जानती ही हैं कि भारत के इतिहास के पृष्ठों पर नारी के पराक्रम के हजारों उदाहरण विद्यमान हैं। जो कोई यह कहता है कि नारी के लिए युद्ध वर्जित है, उसे अनजान नहीं अपितु मूर्ख ही कहा जाएगा।...."

"भारतीय स्वतन्त्रता सेना की आप सैनिक नारियाँ जिस ओर भी पग बढ़ाएँगी उसके अनेक अच्छे परिणाम प्रकट होंगे। नारियों की बात तो छोड़िए, कुछ लोग तो भारत के वैश्य-वृत्ति के लोगों के लिए युद्ध को वर्जित मानते और बताते हैं। परिणामस्वरूप अनेक वैश्य युवकों को यह कहते सुना जाता है कि युद्ध करना हमारा काम नहीं है। किन्तु जब उनको आपके पराक्रम और वीरता के समाचार सुनने को मिलेंगे तो वे स्वयमेव लज्जा का अनुभव करेंगे।...."

"आप लोगों के युद्ध के लिए सन्नद्ध होने का समाचार जब प्रसारित होगा तो उसका एक लाभ यह भी होगा कि इससे चारों ओर स्वयमेव युद्ध के वातावरण का निर्माण हो जाएगा। भारतीय जनमानस में उत्साह का संचार होगा। तब सब यह अनुभव करने लगेंगे कि देश-जाति के लिए ही अपना जीवन और धन है।...."

''आप सब जानते ही हैं कि इस समय हमारे पास जन-बल का बहुत अभाव है। यदि युद्ध के अनेक कार्यों में महिलाओं ने हाथ बँटाया तो इससे उस कार्य में लगे पुरुषों को सेना में शस्त्र चलाने का अवसर प्राप्त हो जाएगा।''''

''इसका एक अन्य लाभ भी होगा। वह यह कि ब्रिटिश सेना के भारतीय सैनिकों के सम्मुख यदि हमारे केवल पुरुष सैनिक ही खड़े रहे तो शत्रु द्वारा किया जानेवाला अनर्गल प्रचार कि हम लोग जापानियों के बन्धक बनकर युद्ध में अग्रसर हो गए हैं, उन्हें लगेगा कि इस समाचार में सचाई है।''''

''किन्तु यदि वे हमारी सेना में आप जैसी बलिदानी बहिनों को सामने देखेंगे तो हमारे विरुद्ध उठाया हुआ शस्त्र ही उनके हाथ से गिर सकता है, इसमें सन्देह नहीं। इसके साथ ही भारत की महिलाओं को भी जब आपके युद्धभूमि पर प्रदर्शित किये गए पराक्रम का ज्ञान होगा तब देशभर में क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठने में समय नहीं लगेगा।''''

''अपने जीवन की एक घटना के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि स्त्रियाँ साहसिक कार्य करने में किसी प्रकार भी कम नहीं होतीं। ऐसे साहसिक कार्यों के लिए स्त्रियों में अनेक गुण पाए जाते हैं। पुरुष-प्रकृति बड़ी चंचल होती है। यहाँ तक कि वह किसी कार्य को आरम्भ कर उसे मध्य में ही छोड़ भी देते हैं। किन्तु महिलाओं के विषय में ऐसी बात नहीं है। वे जिस कार्य को आरम्भ कर देती हैं, उसे पूर्ण करके ही विश्राम लेती हैं, मध्य में नहीं छोड़तीं।''''

''इस प्रकार पुरुष स्वार्थी है और स्वार्थ त्याग करने में उसको समय लगता है, जबकि स्त्रियाँ तो स्वार्थत्याग की साक्षात् मूर्ति ही होती हैं। मैं आपको एक घटना सुनाता हूँ। वह मेरे जेल-जीवन की घटना है। मैं उस समय एक जेल में था। एक स्त्री ने मुझे एक गुप्त पत्र लाकर दिया। जिज्ञासावश मेरे मुख से निकल गया—'ऐसा करते हुए आपको किसी प्रकार का भय अथवा संकट की आशंका नहीं हुई?'

''आप सुनकर आश्चर्य करेंगी। उसने अपने आँचल के भीतर से एक छुरी निकालकर दिखाई और बोली—यह कृपाण मेरी सुरक्षा के लिए सब प्रकार से समर्थ है।''

अपना भाषण समाप्त करके नेताजी ने उच्च स्वर से पूछा, ''आपमें से कितनी स्त्रियाँ सेना में प्रविष्ट होने के लिए तत्पर हैं?''

नेताजी की गर्जना-भरी आवाज सुनते ही सबने एक-साथ अपने हाथ ऊपर उठा दिये। इसके साथ ही उन्होंने उच्च स्वर में घोषणा की हम सेना में प्रविष्ट होने के लिए तत्पर हैं!

अपने भाषण का यह सुफल देखकर प्रसन्न चित्त से नेताजी अपने निवास-स्थान पर आ गए। वहाँ उपस्थित सभी महिलाएँ उसी दिन से किसी न किसी कार्य पर नियुक्त हो गईं।

इस भाषण के तीन मास बाद अर्थात् 22 अक्टूबर 1943 के दिन 'रानी झाँसी रेजिमैंट' का औपचारिक रूप से उद्घाटन हुआ। इस उद्घाटन के अवसर पर स्त्रियों को सेना में प्रवेश दिया गया और उनके युद्ध-प्रशिक्षण के लिए शिविर का आयोजन किया गया। इस कार्य में तीन मास का समय इसलिए लग गया कि नेताजी स्त्रियों को सेना में प्रवेश देने से पूर्व उसके हानि-लाभ पर सम्यक् विचार-विमर्श करते रहे और इसके साथ ही प्रशिक्षण-शिविर की भी तैयारी करते रहे। किन्तु अनेक उत्साही स्त्रियाँ इस अवधि में अधीर हो गई थीं। अनेक वीरांगनाओं ने तो नेताजी को पत्र भी लिखे कि सेना में हमारे प्रवेश के कार्य में विलम्ब क्यों हो रहा है?

स्त्रियों द्वारा किये जानेवाले सभी कार्यक्रमों में डॉक्टर लक्ष्मी जी का प्रमुख योगदान होता था। इस तथ्य का उल्लेख करना परमावश्यक है। स्त्रियों को प्रेरणा देने में उनका मुख्य सहयोग रहा था।

नेताजी जब सिंगापुर आए और उन्होंने आजाद हिन्द सेना की बागडोर सँभाल ली तो नित्यप्रति उनके पास अनेक प्रकार के पत्र भी आने लगे थे। कुछ तो नाम-पतेवाले होते थे, कुछ बेनामी भी होते थे। किन्हीं पत्रों में जापानियों की नीयत पर सन्देह व्यक्त किया हुआ होता था तो किन्हीं में कै० मोहनसिंह को वापस लेने के विषय में लिखा होता था। इस विषय के पत्र लिखनेवाले सामान्यतया सिख समुदाय के लोग ही होते थे। कुछ पत्र सिंगापुर की जानकारी से भरे होते थे। कुछ पत्रों में नेताजी के आस-पास रहनेवाले लोगों के विषय में उनके आचरण, योग्यता आदि का वर्णन होता था। इसके साथ ही नेताजी के प्रति आत्मसमर्पण करनेवाले लोगों के भी पत्र आते थे। यह एक प्रकार का व्यर्थ का काम भी उनको करना पड़ जाता था।

महिला सैनिक प्रशिक्षण शिविर के उद्घाटन के दो-चार दिन बाद नेताजी ने दक्षिण दिशा में स्थित जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि देशों के प्रतिनिधियों की इच्छा का मान रखने के लिए और उन देशों में रहनेवाले भारतीयों को भी कार्य में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से वायुयान से प्रस्थान किया। इस प्रकार के दौरों के अवसर पर तत्तत्स्थानीय जापानी अधिकारी उनके निवास आदि की सारी व्यवस्था करते थे। इसके लिए तार द्वारा उन्हें पहले ही सूचित कर दिया जाता था। इन यात्राओं में नेताजी के साथ दो बड़े जापानी सैनिक अधिकारी, दुभाषिया और

नेताजी के चार-पाँच सहयोगी भी होते ते। विभिन्न हवाई पत्तनों पर नेताजी के स्वागत के लिए भारतीय स्वतन्त्रता संघ के उच्च अधिकारीगण तथा नगर के प्रमुख व्यक्ति और जापानी अधिकारी उपस्थित रहते थे।

नेताजी और उनके सहयोगियों के आवागमन के लिए मोटरकारों की भी व्यवस्था रहती थी। इस प्रकार प्रत्येक स्थान पर उनकी सुविधा और सुरक्षा की उचित व्यवस्था की जाती थी। उन द्वीपों में जाकर सब स्थानों पर नेताजी के भाषणों की भी व्यवस्था की जाती थी। नेताजी वहाँ के प्रतिनिधियों से व्यक्तिगत रूप से मिलकर उनकी तथा वहाँ की समस्याओं पर भी विचार-विमर्श करते थे। सभी स्थानों पर अपने भाषणों तथा चर्चाओं में नेताजी सैनिक और धन एकत्रित करने की बात करना नहीं भूलते थे। भारतीय स्वतन्त्रता संघ की शाखाओं के विस्तार की प्रेरणा भी नेताजी देते थे।

नेताजी के ऐसे अभियान बड़े लाभकारी सिद्ध होते थे। उनके भाषणों से प्रेरित होकर वहाँ के निवासी और स्थानीय भारतीय जहाँ सेना में भरती होने के लिए आगे आते थे, वहाँ धन ही नहीं अपितु आभूषण तक भी अर्पित करने के लिए आगे बढ़ते थे। इस प्रकार उनका प्रवास सफल सिद्ध हो रहा था।

बोर्नियो द्वीप युद्ध आरम्भ होने से पूर्व आधा तो डच लोगों के साथ और आधा ब्रिटिशर्स के पास था। सर चार्ल्स वायनर ब्रिटिश बोर्नियो का सम्राट था। सारे विश्व में वही उस समय गोरा राजा था। जब इस द्वीप पर जापानियों ने आक्रमण किया और उसको पराजित कर दिया तो सारा द्वीप जापानियों के अधिकार में आ जाने से एक ही शासन-प्रणाली के अन्तर्गत हो गया। बोर्नियो में मिट्टी के तेल की अनेक खदानें हैं और उनमें काम करने के लिए भारत से तमिल और तेलुगु-भाषी आदि अनेक लोग गए हुए हैं।

डच शासन के अन्तर्गत आनेवाला सुमात्रा बड़ा द्वीप है। किन्तु सुमात्रा का अधिकांश भाग वन-प्रान्त से घिरा हुआ है। वह जितना बड़ा है उसके अनुपात में वहाँ आबादी बहुत कम है। वहाँ रबड़ की खेती होती है और उनमें काम करनेवाले श्रमिकों में बहुत सारे भारतीय लोग वहाँ पर व्यापार करने के उपरान्त धनपति भी हो गए हैं।

जावा द्वीप भी डच लोगों के अधिकार में था और वहाँ की राजधानी 'बटेविया' में स्थित थी। सुमात्रा की अपेक्षा इस द्वीप का अच्छा विकास किया गया था। चीनी और रबड़ वहाँ के दो प्रमुख उद्योग हैं। यहाँ भी श्रमिक के रूप में भारत से अनेक लोग गए हुए हैं और भारतीय व्यापारियों की संख्या भी सुमात्रा की तुलना में काफी अधिक है।

जावा, सुमात्रा तथा मलय—इन तीनों देशों में मलयाली भाषा ही वहाँ के व्यवहार की प्रचलित भाषा है। वहाँ इस्लाम का प्रचलन होने से उनकी लिपि उर्दू है। कुछ शतक पूर्व अरबों ने वहाँ पर आक्रमण कर उन्हें विजित किया और उसके साथ ही धर्मान्तरण का कार्य भी बड़ी प्रगति से किया। वे मुसलमान तो बन गए, किन्तु उनको उस प्रकार का मुसलमान समझना गलत होगा जिस प्रकार के मुसलमान भारत में पाए जाते हैं, क्योंकि वे केवल नाम के ही मुसलमान हैं। हिन्दू संस्कृति का मूल उनमें अभी भी अर्थात् द्वितीय विश्वयुद्ध के काल तक विद्यमान था।

जावा, सुमात्रा, मलय आदि द्वीपों के बड़े-बड़े नगरों के नाम जो पहले संस्कृत में थे, वे अभी भी उसी रूप में प्रचलित हैं। वहाँ के लोग, विशेष रूप से ऊँचे घराने के लोग, अपने नामों के साथ अब्दल, मुहम्मद, हुसैन इत्यादि मुस्लिम नामों के साथ राम और लक्ष्मण आदि जोड़कर प्रयुक्त करते हैं। कई नए मुस्लिम रिवाजों को अपनाकर भी वे लोग अपने पुराने हिन्दू रिवाजों को चालू रखे हुए हैं। सिंगापुर का वास्तविक नाम 'सिंहपुर' था। मलय में एक जोहोर नामक संस्थान है। वहाँ के संस्थानवालों को आज तक 'महाराजा ऑफ जोहोर' ही कहा जाता है। न केवल इतना, उनकी मेजों पर रखे आच्छादन-वस्त्रों पर भी यही नाम मोटे-मोटे अक्षरों में कढ़ा हुआ होता है। उनके प्रासादों को आजकल 'राजस्थाना' के स्थान पर केवल 'आस्थाना' कहा जाता है। वहाँ के युवराजों को 'तुकु मुकुट' कहते हैं। यहाँ की प्राचीन संस्कृति का अस्तित्व प्रकट करनेवाले इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इन सारे प्रदेशों को नेताजी ने अपनी यात्रा से पवित्र कर दिया।

अध्याय चौदह

भारतीय स्वतंत्रता सेना की स्थापना

9 जुलाई 1943 के विराट समारोह में नेताजी ने अपने भाषण में उपस्थित जन-समुदाय से तीन लाख सैनिकों की आवश्यकता की जो बात की थी, उससे उत्साहित होकर 10 वर्ष की आयु के किशोरों से लेकर 50 वर्ष तक के प्रौढ़ आयु के लोगों में सेना में भरती होने के लिए अपने-अपने नाम लिखाने की होड़-सी लग गई थी। ये नाम स्थान-स्थान पर गठित 'भारतीय स्वतन्त्रता संघ' के कार्यालयों में आकर लिखवाने की व्यवस्था थी। इन कार्यालयों पर प्रतिदिन असंख्य जनों की भीड़ एकत्रित दिखाई देने लगी। इतने लोगों के नाम-पते लिखने के लिए पर्याप्त संख्या में कर्मचारी न होने के कारण लोगों को अपनी बारी के लिए अत्यधिक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। एक बात यह भी थी कि इतने लोग अपने नाम लिखाने के लिए एकत्रित होंगे और उनको भर्ती करने के उपरान्त प्रशिक्षण भी दिया जाएगा, इसका अनुमान किसी को नहीं था।

'भारतीय स्वातन्त्र्य संघ' के कार्यालय में नाम लिखने के काम पर नियुक्त कर्मचारी जापान की विजय से पूर्व ब्रिटिश शासन का कार्य करने के कारण, नाम लिखवाने के लिए कितने बड़े कुल के लोग आए हैं, इस पर ध्यान न देकर उन्हें झिड़कते हुए कहते, 'दूर हटिये, यहाँ भीड़ मत करिये।' कोई तो यहाँ तक कह देता था कि जरा पास की दुकान से एक बीड़ी का बण्डल तो ले आओ! उनका ऐसा दुर्व्यवहार देखकर अनेक लोगों के हृदय को ठेस लगती थी। यद्यपि उनके मन में देशप्रेम उमड़ता था, किन्तु कर्मचारियों के इस अशिष्ट व्यवहार के कारण अनेक लोग वापस चले जाते थे। कर्मचारियों में यह भावना उत्पन्न ही नहीं की गई थी कि वे जनता के सेवक हैं, अधिकारी नहीं।

उनके इस व्यवहार के कारण लोगों के मन में ज़ो उत्साह और उमंग थी उसकी विपरीत प्रतिक्रिया होने लग गई। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोगों की तनिक-सी असावधानी से अनुकूल वातावरण विपरीत वातावरण में परिवर्तित

होते विलम्ब नहीं लगता। उस समय वहाँ के निचले स्तर के कर्मचारियों से लेकर उच्च अधिकारियों तक ने अपने अहंकार में डूबकर नेताजी के कार्य को पर्याप्त क्षति पहुँचाई थी। इसके ठीक विपरीत नेताजी स्वयं किसी व्यक्ति के साथ उसकी श्रेणी, जाति, पंथ, सम्प्रदाय अथवा प्रान्त का कोई भी भेदभाव नहीं रखते थे। वे सबसे समान रूप से स्नेह से बातचीत करते थे।

'भारतीय स्वतन्त्रता संघ' में एक भर्ती-विभाग चालू करके उसको सेना में भर्ती होनेवालों की भर्ती का कार्य सौंपा गया था। उन प्रदेशों में जापानी सरकार के आश्रय सब कार्य रहने के कारण सुसज्ज सैन्य प्रशिक्षण-केन्द्रों की स्थापना में बहुत समय लगा था। कुछ लोगों को यह कहा गया कि बुलावा आने तक अपने अपने घरों पर ही रहिये। वे लोग पुनः लौटकर आए ही नहीं और बुलावा उनको भेजा नहीं गया, क्योंकि उनके नाम-पते तो लिखे ही नहीं गए थे। उनमें से कई लोग अपनी पुरानी नौकरियों में अथवा अपने व्यवसाय में लग गए।

इसका एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि कुछ लोग विपरीत प्रचार भी करने लग गए थे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि नेताजी के विषय में उन लोगों में पर्याप्त आदर और स्नेह की भावना थी। किन्तु उनके लिए जो कार्यरत कर्मचारी थे उनके दुर्व्यवहार से उनके मन पर विपरीत भाव उभरे और वे हताश होकर रह गए।

9 जुलाई 1943 को जिस दिन विराट सभा में नेताजी ने अपनी तीन लाख की सेना खड़ी करने की घोषणा की थी और लोगों को सेना में भर्ती होने के लिए आह्वान किया था, उस दिन से ही जापानी सेना के विभाग 'हिकारी किकान' के अधिकारियों का माथा ठनक गया था। यद्यपि स्पष्ट रूप से तो उन्होंने नेताजी के सम्मुख इसका विरोध व्यक्त नहीं किया, किन्तु परोक्ष रूप से इस प्रकार की कानाफूसी आरम्भ कर दी जिससे कि उनका असन्तोष नेताजी के कानों तक पहुँच जाए। वे जापानी अधिकारी इस सम्बन्ध में नेताजी के सहयोगियों से कहते, '' 'भारतीय स्वतन्त्रता सेना' की संख्या को तीन लाख तक पहुँचाने की नेताजी की इच्छा होना अच्छा ही है, किन्तु इस बात को उन्हें विशाल सभा में नहीं कहना चाहिए था। इसमें अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाएँगी।'' आदि-आदि।

नेताजी के सहयोगियों के लिए यह आवश्यक हो जाता था कि वे इस कानाफूसी को नेताजी तक पहुँचाएँ। वे अधिकारी सामान्यतया इस प्रकार की बातें खाना खाते समय ही करते थे। जापानियों के इस 'अव्यापारेषु व्यापारः' मनोवृत्ति पर नेताजी कभी तो हँसकर बात टाल देते और कभी समाधान के लिए एक-दो वाक्य बोल भी देते थे।

'हिकारी किकान' के अधिकारियों के ऐसे व्यवहार के कारण कई बार उनके उद्देश्य के विषय में सन्देह भी होने लगता था, जबकि समझा यह जाता था कि 'हिकारी किकान' को तो इन बातों में हस्तक्षेप करने का कोई कारण ही नहीं था। उनकी भूमिका तो केवल सन्देह पहुँचाने मात्र तक सीमित थी।

टोकियो-स्थित जापान का वरिष्ठ सैन्य-मण्डल नेताजी की सारी बातें स्वीकार कर लेता था। किन्तु जब कार्यान्वयन की बात आती तो उस समय 'हिकारी किकान' अनेक प्रकार की अड़चनें उत्पन्न करके कार्य में विलम्ब कर देता था। किस कोण पर यह कार्य हो रहा है, इसका पता नहीं चल पा रहा था।

'हिकारी किकान' किस प्रकार हमारे कार्य में रोड़े अटकाता था और उसका वास्तविक उद्देश्य क्या था, इस विषय पर आगे अध्याय में विस्तार से चर्चा की जाएगी। उसके स्थान पर दूसरी कौन-सी व्यवस्था होनी चाहिए थी, इसका अपना विश्लेषण भी मैंने उसी स्थान पर कर दिया है। यहाँ पर यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि जहाँ एक ओर नेताजी की इच्छा अपने सैनिकों की संख्या तीन लाख पहुँचाने की थी, वहीं दूसरी ओर जापानी अधिकारी इसको पसन्द नहीं कर रहे थे।

नेताजी का ऐसा कोई विचार नहीं था कि जो लोग सेना में भर्ती हों केवल उनको ही सैन्य प्रशिक्षण दिया जाए, अन्यों को इसकी आवश्यकता नहीं है। वे तो चाहते थे कि आबाल-वृद्ध, नर-नारी सभी भारतीय लोगों को शारीरिक प्रशिक्षण, शस्त्र-संचालन, लक्ष्य-वेधन, आदि-आदि सभी प्रकार का युद्धोचित प्रशिक्षण दिया जाए। इस प्रकार सबको सैन्य प्रशिक्षण देकर यदि उनको कोई व्यक्तिगत लाभ न भी हुआ हो, तो भी उससे सारे समाज का दृष्टिकोण बदलने में सहायता मिलेगी। जो माता-पिता स्वयं तैरना जानते हैं वे अपने बच्चों से 'पानी के समीप मत जाना, डूब जाओगे' इस प्रकार की डरावनी बातें नहीं किया करते। यही सिद्धान्त युद्ध के विषय में भी लागू होता है।

सब बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुषों को प्राथमिक सैन्य प्रशिक्षण लेना चाहिए, इसलिए सिंगापुर जैसे बड़े नगरों के विभिन्न बाजारों में जहाँ कहीं कोई खुला स्थान अथवा मैदान दिखाई दिया, वहीं पर इसकी व्यवस्था की गई थी और इसकी सूचना सिंगापुर तथा उन-उन नगरों में विभिन्न भाषाओं—अंग्रेजी, तमिल तथा हिन्दी समाचारपत्रों में 'अमुक-अमुक स्थान तथा विभाग के प्रशिक्षु अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार प्रातः अथवा सायंकाल के समय दो घण्टे के सैन्य प्रशिक्षण के लिए अमुक-अमुक स्थान पर एकत्रित हो जावें'। इस प्रकार का प्रशिक्षण देने के लिए आजाद हिन्द सेना के अधिकारी निश्चित समय पर उन-उन

केन्द्रों पर आवश्यक साहित्य लेकर उपस्थित हो जाते थे। किन्तु जनता को इसका जितना लाभ उठाना चाहिए था वह उसने नहीं उठाया। कुछ युवा जनों को छोड़कर अन्य कोई भी ऐसा प्रशिक्षण लेने के लिए तैयार नहीं हुआ। भारतीय लोगों की यह विशेषता है कि सहज ही कोई बात उनकी समझ में नहीं आती; जोर- जबरदस्ती से वे वश में किये जा सकते हैं।

उन नागरिकों पर प्राथमिक सैनिक प्रशिक्षण लेने की अनिवार्यता न होने के कारण उन्होंने वह प्रशिक्षण लेना स्वीकार नहीं किया। मैं स्वयं जब कभी सेरेबन, ईपो आदि स्थानों पर प्रवास पर जाता था तो वहाँ के लोग इस प्रशिक्षण में भाग लेने के लिए अवश्य पहुँचें—इसके लिए सामाजिक तथा नैतिक दायित्व की बात कहकर उन पर दबाव डालने का यत्न करता था। किन्तु जब तक मैं उस स्थान पर होता तब तक ही वह उत्साह बना रहता था, मेरे जाने के बाद वे लोग आना-जाना बन्द कर देते थे।

जापान जैसा निर्धन देश विगत दस वर्षों से निरन्तर चीन के साथ युद्धरत था और अब ब्रिटेन और अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों से युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गया था। इस स्थिति में जापान का वार्षिक उत्पादन जैसे-तैसे उन्हीं के लिए किसी प्रकार पूरा हो पाता था। इस स्थिति में वह अन्य किसी को अन्न, वस्त्र, युद्ध-सामग्री आदि कहाँ से और किस प्रकार दे सकता था!

यदि किसी प्रकार देना भी चाहे तो उसको वहाँ तक पहुँचाने के लिए जहाज उपलब्ध नहीं थे। तोपें, बन्दूकें, बारूद, कपड़ा, अन्न, मोटर कारें, यह सब सामग्री सिंगापुर-पत्तन के उपरान्त इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध थीं कि उस सामग्री पर भारतीय स्वातन्त्र्य सेना का सब काम चल सकता था। परन्तु उसमें से भी बहुत सारी सामग्री जापान अपने देश के लिए ले गए। यह स्वाभाविक ही था। उस सामग्री पर उनका ही नैतिक अधिकार था। किन्तु प्रश्न केवल इतना ही था कि भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन को यदि सहायता करने की उनकी कामना थी तो उनको चाहिए था कि वह सब सामग्री वे भारतीय अधिकारियों को सौंप देते, अथवा सौंप न भी देते तो वहीं रखते, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर वह सामग्री भारतीय सैनिकों के लिए उपलब्ध रहती। इस प्रकार जापानियों ने आरम्भ से ही अनेक बातों पर अनमनापन दिखाया था।

ऐसी स्थिति में जापानियों द्वारा किये जानेवाले प्रत्येक कार्य में विलम्ब होना स्वाभाविक था। तदपि इस प्रकार दुर्गम स्थल पर से मार्ग निकालते हुए भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन का कार्य निरन्तर प्रगति कर रहा था। पहली सितम्बर को सेलेतार छावनी में सिंगापुर का पहला सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया था।

यहाँ के युद्ध-बन्दियों को अन्यत्र भेज दिया गया था। इसके अनन्तर क्रमशः अनेक स्थानों पर नये-नये केन्द्र खुलते गए। सेरेबन, क्वालालम्पुर, ईपो इत्यादि मलय के प्रमुख नगरों में एक के बाद एक केन्द्र खुलते गए। ब्रह्मदेश के भी रंगून के साथ-साथ अन्य चार नगरों में भी प्रशिक्षण-केन्द्र खोले गए। विभिन्न स्थानों में भारतीय स्वतन्त्रता संघ की शाखाओं ने सेना में प्रविष्ट होनेवाले नामों की सूचियाँ बनाई थीं। उनमें से ही लोगों को उनके नगर के निकटवाले केन्द्रों में भेजा गया था। इन सब केन्द्रों से एक समय में लगभग दस हजार सैनिकों को प्रशिक्षण दिया जाता था। हर गुट को अपना प्रशिक्षण पूर्ण करने में तीन से लेकर छः मास का समय लगता था। इस प्रकार हर गुट ज्यों ही प्रशिक्षण प्राप्त कर लेता, तब एक बड़ा समारोह आयोजित किया जाता और उस समारोह में उस गुट को आजाद हिन्द सेना की किसी विशेष टुकड़ी में सम्मिलित कर लिया जाता। इस प्रकार वह केन्द्र खाली होने पर उसमें स्वतन्त्रता संघ द्वारा दी गई सूची के अनुसार नये सैनिक भर्ती कर लिये जाते। जब उस गुट का प्रशिक्षण पूर्ण हो जाता तो उन लोगों को भी उसी प्रकार समारोहपूर्वक किसी सैन्य टुकड़ी के साथ नत्थी कर दिया जाता। अतः सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र का कार्य सुचारु रूप से चल रहा था।

क्रान्तिकारी संगठन में सामान्य नागरिक को सैनिक के रूप में तैयार करने के लिए तीन मास से अधिक समय नहीं लगना चाहिए। उसे युद्ध की जो आवश्यक बातें सीखनी पड़ती हैं वे सामान्यतया इस प्रकार की होती हैं—

व्यायाम, बन्दूक से निशाना साधना, यदि मल्लयुद्ध करना पड़ जाए तो बन्दूक के आगे की ओर लगी संगीन से शत्रु पर प्रहार करने का प्रशिक्षण, गनिमी युद्ध से अचानक आक्रमण करके बिजली की फुर्ती से अदृश्य हो जाना, वन-प्रान्त के मानचित्रों को देखकर उचित स्थान का पता लगाना, संकेतों की सहायता से शोर न करते हुए दूर खड़े मित्र को सन्देश पहुँचाना या बताना इत्यादि।

इतने प्रशिक्षण के लिए तीन मास का समय पर्याप्त है। परन्तु हर केन्द्र पर निरन्तर दस-पन्द्रह दिनों तक हर रिक्रूट को गोली ठीक से चलाने का अभ्यास कराने के लिए काफी बारूद की आवश्यकता होती थी। उसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसे शीघ्र ही सेना में भर्ती कराकर सीमा पर युद्धभूमि में ले-जाना पड़ता है। सैन्य प्रशिक्षण को दोहराने के लिए युद्धभूमि पर ही जाना पड़ता है, उसके बाद ही वह प्रशिक्षण पूर्ण हो पाता है। कुछ दिन बाद सीमा पर से वापस बुलाकर पीछे रख लें, उसे विश्राम दें, उनमें जो कमियाँ दिखाई दी हों उनको ठीक करने का प्रशिक्षण दिया जाय, उसके बाद फिर उनको युद्धभूमि पर भेज दिया जाय।

सिंगापुर के सारे युद्धबन्दियों में से केवल अठारह हजार युद्धबन्दी ही

भारतीय स्वतन्त्रता सेना (आज़ाद हिन्द फौज) में प्रविष्ट हुए थे। जिस समय नेताजी प्रथम वार सिंगापुर आए थे, उस समय वहाँ पर विद्यमान स्वतन्त्रता-सैनिकों की संख्या भी उतनी ही थी। जैसा कि हम पूर्व में कह आए हैं, नेताजी की इच्छा उसे अठारह हजार से तीन लाख तक करने की थी। इसी उद्देश्य से विभिन्न सैनिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई थी।

सुदूरपूर्व में रह रहे पच्चीस लाख भारतीय लोगों में से कम से कम दो लाख बयासी हजार लोग तो सैनिक के रूप में इस सेना में प्रविष्ट हों। युद्धबन्दियों में से जो अठारह हजार सैनिक भारतीय स्वतन्त्रता सेना में आए थे उन्हें, उनमें से डॉक्टर, क्लर्क आदि को छोड़कर, साधारण प्रारम्भिक सैन्य प्रशिक्षण जिन्हें प्राप्त था, वे ही लोग नवीन भर्ती होनेवालों को प्रशिक्षण दिया करते थे। भारतीय स्वतन्त्रता सेना के प्रधान कार्यालय में योग्य सैनिकों को चुनकर विभिन्न सैन्य प्रशिक्षण केन्द्रों पर नियुक्त किया जाता था। प्रत्येक केन्द्र का प्रमुख अधिकारी कैप्टन अथवा मेजर के ओहदे का होता था। उसका सहायक एक लेफ्टिनेंट होता था। उनके अधीन रिक्रूटों की विभिन्न टुकड़ियों को व्यायाम या बन्दूक चलाने इत्यादि का प्रशिक्षण देने के लिए कई छोटे अधिकारी तथा अन्य कार्यों के लिए कुछ क्लर्क इत्यादि होते थे। उन सबके भोजन आदि की व्यवस्था देखनेवाला एक कोठारी अधिकारी होता था। इस प्रकार प्रत्येक सैन्य प्रशिक्षण केन्द्र पर 15-20 जनों का एक अधिकारी-वर्ग भारतीय स्वतन्त्रता सेना के प्रधान कार्यालय से नियुक्त किया जाता था। रिक्रूटों की संख्या को देखकर उनका खाद्यान्न तथा वस्त्र एवं बूट आदि सभी सामग्री स्वतन्त्रता संघ की ओर से दी जाती थी।

सुदूरपूर्व में इन दो वर्षों के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के निमित्त खोले गए ऐसे दस सैनिक प्रशिक्षण केन्द्रों में कुल मिलाकर बीस हजार के लगभग स्वयंसेवक के रूप में प्रशिक्षित हो पाए थे। युद्ध समाप्त होने के दिनों में भारतीय स्वतन्त्रता सेना के सैनिकों की संख्या चालीस हजार के लगभग थी। उनमें से बीस हजार युद्धबन्दियों में से भारतीय स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित हुए स्वयंसेवक भी थे।

प्रारम्भिक दिनों में तो कुछ समय तक यह पाया गया था कि समस्त सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र स्वयंसेवकों से परिपूर्ण हैं, किन्तु आगे चलकर अधिकारियों के गलत व्यवहार के कारण उसमें कमी आती गई। ज्यों-ज्यों यह समाचार अन्य केन्द्रों में फैला, वहाँ भी इसी प्रकार की आपा-धापी मचने लगी और अब वांछित संख्या में भर्ती होने के लिए स्वयंसेवक भी न आए।

सन् 1944 के उत्तरार्द्ध से सब सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र जिस किसी भी प्रकार

आधे-आधे ही भर पाते थे। आगे चलकर जापानियों ने भी जो भी निर्धन-सा भारतीय दिखाई दिया, उसे पकड़कर करीब एक लाख ऐसे लोगों को एकत्रित कर स्याम और ब्रह्मदेश के मध्य रेलगाड़ी का नया मार्ग बनाने के लिए भेज दिया। वहाँ उनको घने जंगलों में कार्य करना पड़ा। इस विपरीत वातावरण में वे लोग बीमार पड़े, तो उनके लिए औषधि की व्यवस्था न होने और जंगल की आर्द्रता तथा निकृष्ट भोजन के कारण, उनमें से बहुत-से लोग तो अपने प्राण ही गँवा बैठे। जो बचे थे, वे अधमरे-से होकर जिस किसी भी प्रकार लौटकर वापस आ गए।

इस प्रकार के अनेकानेक कारणों से सेना के लिए स्वयंसेवकों की भरती में कमी हो गई थी। इसके अतिरिक्त भी 'हिकारी किकान' भारतीय सेना के मार्ग में अनेकानेक प्रकार की रुकावटें उत्पन्न कर भारतीय स्वतन्त्रता सेना की वृद्धि के मार्ग में बाधा खड़ी करने लगा था। अतः तीन मास का प्रशिक्षण पूर्ण करके भी सेना में भर्ती करवाना सम्भव न होने के कारण पहले के अभ्यास-क्रम को ही दोहराते हुए कभी छः मास, कभी नौ मास तो कभी-कभी तो एक वर्ष तक भी अपने केन्द्र में रिक्रूट के रूप में ही रहना पड़ जाता था।

हम तो युद्ध करने आए थे किन्तु एक वर्ष बीतने पर भी हमें सैनिक के रूप में सेना में भर्ती नहीं करवाया—यह देखकर तथा वही ध्येयशून्य प्रशिक्षण दोहराते रहने के कारण स्वयंसेवकों का उत्साह बिल्कुल कम हो जाता था। उनको लगता था कि वे व्यर्थ ही इस झंझट में फँस गए हैं।

ये दस सैन्य प्रशिक्षण केन्द्र तीन-तीन मास के अभ्यास-क्रम को दो वर्ष की अवधि में कम से कम 80 हजार सैनिक तैयार कर सकते थे। परन्तु हर तीन मास बाद दस हजार सैनिकों की बढ़ोत्तरी न होने पाए इसके लिए जापानियों ने अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित की हुई थीं। अतः बड़ी कठिनाई से केवल बीस हजार सैनिक ही भारतीय स्वतन्त्रता सेना में प्रविष्ट हो सके।

भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन की सहायता करना तो उनके अपने लाभ के लिए भी आवश्यक था। भारत के स्वतन्त्र होते ही अंग्रेजों की गर्दन ही टूट जाती और फलस्वरूप जापान का एक प्रबल शत्रु युद्ध से उपराम होकर चुपचाप बैठ जाता। स्वेज-नहर से हांगकांग तक अंग्रेजों का साम्राज्य फैला हुआ है, इसके लिए अंग्रेजों की भारतीय सेना ही उत्तरदायी थी। कई वर्षों के ऐशो-आराम के बाद अब भारतीय सेना की सहायता के बिना अंग्रेज केवल अपनी शक्ति से एक छोटी सी भी छोटी लड़ाई जीत नहीं पा सकते थे।

एक बार नेताजी टोकियो गए थे। उस समय उन्होंने जापानी सरकार के

साथ एक लिखित करार किया था। उसमें भारतीय स्वतन्त्रता सेना के पचास हजार तक सैनिक बढ़ाने का निश्चय किया गया था। उसमें उनका लक्ष्य यह था कि यदि सहसा तीन लाख की सेना खड़ी की जाए—यदि ऐसा कहा गया तो कदाचित् जापान की सरकार को उचित न लगे। अत: एक-एक क्रम से करार किये जाएँ। 'पहले कम से कम पचास हजार की सेना तो खड़ी कर ली जाय, फिर आगे देखा जाएगा' ऐसा उनका विचार था। इस करार में एक ओर नेताजी तथा दूसरी ओर जापानी सरकार थी। किन्तु इन दो के मध्य में 'हिकारी किकान' के अधिकारी अपनी टाँग अड़ाने में आगे रहते थे।

नेताजी और जापान सरकार के मध्य यह करार यद्यपि लिखित रूप में हुआ था, उस पर सरकारी मुद्रा भी अंकित हो गई थी, पर उस करार के आधार पर व्यवस्था हो—ऐसा सिंगापुर के 'हिकारी किकान' के अधिकारियों से जब कहा गया तो कई दिनों तक "हमारे पास उस करार की अधिकृत प्रति नहीं आई है। हम उसके अभाव में असमर्थ हैं।" इस प्रकार से विषय को वे टालते जा रहे थे। जब कुछ दिनों बाद हमारे पास उस करार की अंग्रेजी की प्रति पहुँची और हमने उसे उनको दिखाया तो उनका कहना था—"हमारे लिए तो जापानी प्रति ही अधिकृत है, अंग्रेजी अथवा अन्य किसी भी भाषा की प्रति को हम कोई महत्त्व नहीं देते।"

1944 के नवम्बर मास में नेताजी ने एक व्यक्तिगत पत्र कर्नल भोंसले को भेजा, जिसमें उन्होंने लिखा, " 'हिकारी किकान' के अधिकारी अब हमारी सेना की संख्या 50,000 तक बढ़ाने को भी स्वीकार नहीं कर रहे हैं।" 'हिकारी किकान' की शाखाएँ सुदूरपूर्व के हर प्रान्त में न्यूनाधिक संख्या में अवश्य स्थापित थीं। उसका सबसे बड़ा अधिकारी और केन्द्रीय कार्यालय दोनों ही नेताजी के साथ-साथ स्थान-परिवर्तन करते रहते थे।

भारतीय स्वातन्त्र्य सेना में पचास हजार तक सैनिक भर्ती किये जाएँ, इसके लिए नेताजी तथा कर्नल भोंसले दोनों ही प्रयत्न करते रहे थे। वे दोनों ब्रह्मदेश और मलय, जहाँ कहीं भी जाते अथवा इनके अतिरिक्त देशों में भी जाते तो उसके लिए प्रयत्न करते थे। कालान्तर में 'हिकारी किकान' के अधिकारियों ने भी मान लिया कि भारतीय स्वातन्त्र्य सेना की संख्या पचास हजार तक बढ़ा दी जाए। यह तो करार में अंकित ही है, हम भी इसे स्वीकार करते हैं और तत्त्वत: यह बात ठीक भी है। परन्तु इसको कार्यान्वित करने में अनेक बाधाएँ हैं, इसलिए हम भी इस विषय में स्वयं को असमर्थ पा रहे हैं।

सन् 1944 के उत्तरार्द्ध में जब प्रशान्त महासागर का युद्ध प्रबल वेग पर

चल रहा था, तब जापानियों के पास युद्ध-सामग्री की इतनी कमी हो गई कि उन्होंने हवाई प्रशिक्षण केन्द्र बन्द करके उनके यानों तथा उसमें सामान ढोकर रखने के लिए तैनात सैनिकों को वहाँ से हटाकर युद्धक्षेत्र में भेज दिया। इतना ही नहीं, अपितु आजाद हिन्द सेना के सैनिक प्रशिक्षण केन्द्रों से भी पहले एक स्वयंसेवक को सीखने के लिए एक बन्दूक उपलब्ध थी, परन्तु उन्होंने बन्दूकों की संख्या भी कम कर दी और केवल सप्ताह में एक बन्दूक से प्रशिक्षण दिया जाने लगा। शेष बन्दूकों को युद्ध के उपयोग के लिए भेज दिया गया। आजाद हिन्द सेना की कुछ टुकड़ियाँ 'छत्री सैनिक टुकड़ियाँ' के तौर पर तैयार की जा रही थीं। उन्हें हवाई प्रशिक्षण देनेवाली जापानी टुकड़ियाँ भी उस प्रबल युद्ध के वेग में युद्धभूमि की ओर प्रवाहित कर दी गईं। देखा गया कि एक दिन सहसा ही उन टुकड़ियों ने अपना बोरिया-बिस्तरा बाँधा और वहाँ से प्रस्थान कर दिया। परिणामस्वरूप हमारी टुकड़ियों का प्रशिक्षण अधूरा ही रह गया।

इस प्रकार हमारा मांस नोच-नोच कर जापानी अपना पेट कब तक भर पाएँगे, यही प्रश्न मेरे मन में अनेक बार उठता था। प्रशिक्षण-केन्द्र में आठ स्वयंसेवकों पर एक बन्दूक रह जाने के बाद तो इस प्रशिक्षण में बहुत ही गिरावट आ गई थी। सैनिक प्रशिक्षण-शिविर का एक प्रकार से मखौल ही उड़ाया जा रहा था। यह सोच-सोचकर मेरा मन कुंठित हो जाता था। इस प्रकार प्रशिक्षण केन्द्र से शस्त्रास्त्र को ले-जाने का मैंने डटकर विरोध किया, परन्तु उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

पहले ही उन प्रशिक्षण-केन्द्रों में प्रशिक्षण के लिए बहुत ही कम गोला-बारूद दिया गया था। हम सबको इस महत्त्वपूर्ण कमी का अनुभव हो रहा था। हम इस कमी को दूर करने का यत्न कर रहे थे कि तभी पता चला—अब तो इतना भी इनके पास रहनेवाला नहीं है; जो कुछ शस्त्रास्त्र इनके पास हैं और जो कुछ गोला-बारूद इनके पास है, वह सब युद्धभूमि की ओर भेजा जा रहा है।

एक सप्ताह में केवल एक बन्दूक और वह भी प्रत्येक प्रशिक्षक के हाथ में कितनी देर तक रह सकती थी! इससे तो यही अच्छा होता कि बन्दूकों के चित्र सैनिकों को दिखाकर बन्दूक चलाने का प्रशिक्षण दिया जाता अथवा अंग्रेजों के राज्य में हम जिस प्रकार करते थे वैसे लकड़ी की खिलौना बन्दूकें इनके हाथों में दे दी जातीं। इस प्रकार तो अर्द्ध-शिक्षित ये सैनिक युद्धभूमि में जाकर शत्रु पर प्रहार करने की अपेक्षा व्यर्थ में अपनी ही जान गँवा बैठेंगे—यह विचार ही मुझे बहुत बेचैन कर देता था। नेताजी को जब यह सब विदित होता होगा तो उनको कैसा लगता होगा—इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

इन सैनिक प्रशिक्षण केन्द्रों के शस्त्रास्त्र कम कर देने से एक विचित्र प्रकार का संकट और भय का वातावरण बन गया। ये प्रशिक्षण-केन्द्र लोगों के रहने के स्थान से दो-चार मील की दूरी पर पहाड़ियों पर तथा घने जंगलों के आसपास होते थे। इन जंगलों में चीनी किसान थोड़ी-बहुत खेती करते थे। वे तो पहले से ही निर्धन जीवन व्यतीत कर रहे थे और अब युद्ध के कारण और भी अधिक निर्धन हो गए थे। जापानियों पर भी उनको क्रोध आ रहा था, क्योंकि चीनियों और जापानियों में कई पीढ़ियों से शत्रुता चली आ रही थी। खाली समय में वे जापानी सैनिकों की वस्तुओं, उनकी मोटर कारों तथा स्वयंसेवकों पर भी डाका अथवा छापा डाल दिया करते थे और उनको लूटकर ले जाते थे।

इस सब कृत्यों के लिए उनको शस्त्रास्त्र की आवश्यकता होती थी। भारतीय लोग जापानियों के सहयोगी हैं, यह उनको जब आभास हुआ तो उन्होंने उनको भी लूटना आरम्भ कर दिया। जब उनको विदित हुआ होगा कि अब इन शिविरों में शस्त्रास्त्र नहीं रह गए हैं तो निश्चय ही उन्होंने आक्रमण करने का विचार किया होगा। इस प्रकार के आक्रमण से शस्त्रास्त्रों के बिना यदि हमारे भारतीय सैनिक पराजित हो जाते तो यह तो नितान्त लज्जास्पद बात होती।

न केवल सैनिकों को प्रशिक्षण देने की दृष्टि से, अपितु शिविर-निवासियों के लिए आवश्यक शस्त्रास्त्र तो शिविर में विद्यमान होने ही चाहिए थे, किन्तु वैसा कुछ भी नहीं हुआ। कदाचित् उन्हें इस बात का आभास नहीं हुआ होगा कि हमारे पास अब शस्त्रास्त्रों की कमी हो गई है। परिणामस्वरूप यह हमारा सौभाग्य ही था कि हमें उनसे पराजित होने के हास्यास्पद अवसर से मुक्ति मिल गई।

सन् 1945 के अगस्त मास में युद्ध समाप्त होते ही 'सुगाई सिंपुत' नामक मलय के इस छोटे-से गाँव में स्थित हमारी एक टुकड़ी पर चीनी डाकुओं की एक टोली ने आक्रमण कर ही दिया। हमें जापानियों की शरणागति में होने के कारण अथवा यह सोचकर कि अब जापानी निराश हो चुके हैं और अब वे चीनी लोगों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, चीनियों ने खुले तौर पर जापानियों के विरुद्ध आक्रमण करने आरम्भ कर दिए।

इसी झोंक में एक दिन उन्होंने अपना मोर्चा हमारी ओर भी मोड़ दिया। किन्तु सौभाग्य से उस छोटे-से युद्ध में उन्होंने ऐसी मार खाई कि उनके चार-पाँच लोग तो प्राणों से भी हाथ धो बैठे। इसके साथ अपना सारा सामान, गाड़ियाँ, साइकलें, मोटर-कारें और बन्दूकें आदि सब-कुछ युद्धभूमि में छोड़कर वे वहाँ से भाग निकले। दूसरे दिन उनके नेताओं ने हमारे पास आकर क्षमा माँगते हुए कहा कि भविष्य में हमारे लोग आपको किसी प्रकार भी संकट में नहीं डालेंगे। वे यह

आश्वासन देकर और स्वयं भी आश्वस्त होकर वहाँ से चले गए।

स्वयंसेवकों को सिपाही के रूप में तैयार करनेवाले इन दस प्रशिक्षण-केन्द्रों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रशिक्षण-केन्द्र भी भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन ने स्थापित किए थे। सिंगापुर तथा रंगून जैसे प्रत्येक प्रमुख नगर में एक ऐसी उच्च सैनिक प्रशिक्षण देनेवाली दो पाठशालाएँ कार्यरत थीं। उन केन्द्रों में भारतीय स्वातन्त्र्य सेना के लिए छः मास तक का प्रशिक्षण देकर अधिकारी तैयार किये जाते थे।

ब्रह्मदेश के बच्चों को सैनिक प्रशिक्षण रंगून की सैन्य पाठशाला में होता था। अधिकतर इतिहास, भूगोल, अंग्रेजी भाषा इत्यादि विषय जिन्होंने दसवीं तक पढ़े थे, उन्हीं को अधिकारी-पद के योग्य समझकर उन्हें इस प्रशिक्षण के लिए चुना जाता था। जो पठित नहीं थे, उन नागरिकों को सैनिक बनाने का प्रशिक्षण देने के लिए इस अध्याय के आरम्भ में जिनका वर्णन किया गया है, ऐसे सैनिक केन्द्रों में उन्हें रिक्रूटों के रूप में प्रविष्ट किया जाता था।

अधिकारी बनाने की सैनिक पाठशाला में युद्धतन्त्र, नेतृत्व-सम्पन्न सिपाही बनाने के अधिक विषय होते थे। इन पाठशालाओं का अभ्यास क्रमशः छः से नौ मास तक चलता था। एक समय में पाँच सौ के लगभग विद्यार्थियों को हर पाठशाला में पढ़ाया जा सकता था। दो वर्षों में कुल मिलाकर ढाई हजार छात्र इन पाठशालाओं में से पढ़कर बाहर आए और इन्हें सैकण्ड लेफ्टिनेंट के पद पर नियुक्त किया गया। भारतीय स्वतन्त्रता सेना के इम्फाल के युद्ध में इन युवा अधिकारियों ने जो कार्य किया वह बेजोड़ था। हरेक के आधीन बीस या पच्चीस सैनिकों का एक दल होता था। अपने-अपने दलों को लेकर उन्होंने अंग्रेजों पर इतने निश्चयपूर्वक आक्रमण किये कि वे बुरी तरह पराजित हो गए। भारतीय अधिकारियों ने हँसते हुए मृत्यु का वरण भी किया, क्योंकि पराजय स्वीकार करना कदाचित् उनको अभीष्ट नहीं था।

ये सभी युवा अधिकारी लगभग दक्षिण भारत के तमिलभाषी क्षेत्र के थे। क्षेत्रीय वृत्ति जिनके शरीर में किंचित् भी नहीं है, इस प्रकार का झूठा प्रचार करके अंग्रेजों ने उनको भारतीय सेना में प्रविष्ट ही नहीं होने दिया था। हममें से भी अनेक लोग ऐसे थे जो अंग्रेजों की मान्यताओं और कथनों को वेद-वाक्य मानकर ऐसा ही समझते रहे थे। दक्षिण भारतीय युवकों में लड़ने की वृत्ति नहीं है। परन्तु भारतीय स्वातन्त्र्य सेना की विजय का अधिकांश श्रेय इन्हीं युवकों को प्राप्त है। अंग्रेजों ने जिन्हें सैकण्ड लेफ्टिनेंट के पद पर नियुक्त किया था, उन अधिकारियों में से सभी अधिकारी—जो आगे चलकर सिंगापुर में युद्धबन्दी बने थे—उन्हीं

अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त पद के आधार पर भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मेजर, कर्नल आदि पदों पर, स्वयं ही योग्य तथा अयोग्य का विचार न करके पहुँचे थे। सन् 1943 से 1945 तक के इस स्वतन्त्रता के युद्ध में प्रत्यक्ष भाग लेकर भी मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए—यह बात यहाँ पर ध्यान देने योग्य है। भले ही कोई एक या दो वायुयान के माध्यम से हुए आक्रमण में मृत्यु को भी प्राप्त हो गए होंगे, परन्तु वे युद्धभूमि से दूर ही हुए हैं, युद्धभूमि पर नहीं। वैसे तो वर्तमान युद्ध-प्रणाली के अन्तर्गत निष्पाप नागरिकों के बच्चे भी सैकड़ों की संख्या में मर जाया करते हैं। अंग्रेजों के नियम के अनुसार 'जितना बड़ा अधिकारी उतना ही वह युद्धभूमि से दूर रखा जाता था'—इस तत्त्व को उसी रूप में भारतीय स्वातन्त्र्य सेना के युद्ध के समय भी उन अधिकारियों ने स्वीकार कर भारतीय स्वतन्त्रता सेना में भी लागू कर दिया था। हर बड़ा अधिकारी अपनी टुकड़ी के लिए एक छोटा-सा कार्यालय युद्धभूमि से कहीं दूरी पर स्थापित कर लेता था और फिर वहीं पर से युद्ध का वर्णन लिखकर कागजी कार्यवाही पूर्ण कर लेता था। मोटर-कारों पर यहाँ से वहाँ जाना, इधर-उधर घूमना, विभिन्न आदेश पारित कर देना, इत्यादि काम करके यह दिखाना कि मानो वह चौबीस घंटे ही काम पर डटा रहा हो, ऐसा दृश्य सामान्यतया देखने में आता था।

नये रूप में शिक्षित इन युवा अधिकारियों तथा उनके सैनिकों की, जिन्होंने नेताजी के एक शब्द पर भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में अपने प्राण न्यौछावर कर दिए, उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाए कम ही होगी। भारतीय स्वतन्त्रता सेना में वापस आए जिन लोगों का मान-सम्मान किया गया है, वह वास्तव में उनका मान-सम्मान न होकर, जिन्होंने अपना सब-कुछ न्यौछावर कर दिया, यह उन बलिदानियों का सम्मान है। आज आजाद हिन्द सेना का जो कुछ नाम हो रहा है, वह वास्तव में प्राणों की बलि चढ़ानेवाले इन लोगों के वारिसों के रूप में ही है।

सैन्य प्रशिक्षण केन्द्रों का प्रशिक्षण पूर्ण करके ये नये तैयार हुए अधिकारी 'सेकण्ड लेफ्टिनेन्ट' पद के पात्र समझे जाते थे। साधारणतया छः-छः मास का पाठ्यक्रम होने के कारण वर्ष में दो बार ऐसा अवसर आता था। प्रत्येक पाठशाला में इस निमित्त समारोह का आयोजन किया जाता था। नेताजी यदि उस समय उस नगर में होते तो उत्साहपूर्वक उस समारोह में सम्मिलित होते थे। सर्वोत्तम दो छात्रों को पुरस्कृत किया जाता था और पुरस्कार में सम्मानस्वरूप उनको तलवार भेंट करने के साथ एक घड़ी तथा कुछ अन्य वस्तुएँ भी दी जाती थीं। समारोह में अनेक प्रकार के खेलों का आयोजन होता। यदि नेताजी वहाँ पर विद्यमान हों तो उनके कर-कमलों से ही पुरस्कार दिलवाया जाता था और उनका ही विदाई

भाषण होता था। नेताजी का ओजस्वी भाषण तो मृतकों में भी प्राणों का संचार कर देता था। सम्मिलित भोजन और मनोरंजन, इस समारोह के अन्य आकर्षण होते थे।

स्वतन्त्रता-आन्दोलन में जापानी-अंग्रेजी तथा जापानी-भारतीय दुभाषिए तैयार करने की दो पाठशालाएँ भारतीय स्वतन्त्रता सेना की तरफ से सिंगापुर तथा कुआलालम्पुर में चलाई गई थीं। इनका भी पाठ्यक्रम छः मास से एक वर्ष तक का होता था। यहाँ से प्रशिक्षित लोगों को भारतीय स्वतन्त्रता सेना की विभिन्न टुकड़ियों में भेज दिया जाता अथवा सेना के कार्यालयों में भेजा जाता था। क्योंकि दुभाषिए के रूप में केवल जापानी भाषा ही सिखाई जाती थी, इसलिए उनके शिक्षक भी जापानी ही होते थे। भाषा-ज्ञान के साथ-साथ इनको सैनिक प्रशिक्षण भी दिया जाता था।

जापानी फौजी प्रशिक्षण की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सीखने के लिए टोकियो में जापान के उच्चस्तरीय सैनिक अधिकारी तैयार करनेवाले केन्द्र में कुछ श्रेष्ठ भारतीय विद्यार्थियों को भी प्रवेश दिया जाय, इस प्रकार की बातचीत टोकियो में रहते समय नेताजी ने आरम्भ की थी। परिणामस्वरूप जापानी अधिकारियों ने लगभग पचास भारतीय छात्रों को प्रवेश देने की स्वीकृति दे दी थी।

जापान सरकार की ओर से सिंगापुर नगर में 'स्योनान टाइम्स' समाचारपत्र निकलता था। जापानियों ने सिंगापुर का नाम बदलकर 'स्योनान' रख दिया था, उसी नाम पर यह समाचारपत्र था। भारतीय स्वातन्त्र्य सेना की ओर से उस समय 'आजाद हिन्द' नामक पत्र निकलता था। इसके अतिरिक्त भी कुछ तमिल, मलयाली तथा एक भारतीय समाचारपत्र भी निकलता था। इन सब समाचारपत्रों में स्वतन्त्रता-आन्दोलन का ही प्रचार होता था। 'टोकियो सैनिक पाठशाला में पढ़ने के लिए कुछ भारतीय युवक चुने जाते हैं, अतः 'सोलह से बीस वर्ष के युवक अपने आवेदनपत्र भेजें'—इस प्रकार का विज्ञापन इन समाचारपत्रों में प्रकाशित होते ही अनेक उत्साहित युवकों ने अपने आवेदनपत्र भेजे।

उन सब आवेदकों को एक दिन निर्धारित करके भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मध्यवर्ती कार्यालय में साक्षात्कार के लिए बुलाया गया। नेताजी ने स्वयं उनका परीक्षण किया और उनमें से पैंतालीस युवकों का चयन कर लिया। टोकियो भेजने से पूर्व उन सबको सिंगापुर में ही एक अन्य भवन में रखा गया और वहीं पर उनको जापानी भाषा एवं सैन्य प्रशिक्षण दिया जाने लगा।

ऐसे युवक प्रशिक्षुओं का सारा पत्र-व्यवहार सुचारु रूप से चले, इसके लिए सिंगापुर के भारतीय स्वतन्त्रता संघ के मध्यवर्ती कार्यालय में एक नया

स्वतन्त्र विभाग स्थापित किया गया। इस विभाग के माध्यम से ही उन युवकों के पत्र उनके माता-पिता तथा उनके माता-पिताओं के पत्र उनको मिलते थे। स्वयं नेताजी भी उन युवकों से पत्र-व्यवहार किया करते थे।

जब तक जापान पराजित नहीं हो गया, तब तक इन युवकों का प्रशिक्षण टोकियो में वरिष्ठ प्रशिक्षण केन्द्र में चलता रहा था। उनकी प्रगति व प्रशिक्षण के विषय में जापानी अधिकारी सदा उनकी प्रशंसा ही किया करते थे। जापानी सैनिक प्रशिक्षण बड़ा कठोर माना जाता था, किन्तु हमारे भारतीय युवकों ने उसमें भी श्रेष्ठता अर्जित की।

सिंगापुर के 'बुकित तीमा' नामक मार्ग के पास ही एक या दो पास-पास के बँगलों को मिलाकर 'आजाद शाला' नाम से एक सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया। हमारे नित्य के व्यवहार में जिस प्रकार 'प्रशिक्षण स्कूल' अथवा बी०टी० कॉलेज के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए विशेष शिक्षण-संस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार सैनिक शिक्षक तैयार करने की यह पाठशाला थी। यहाँ से प्रशिक्षित होकर निकलनेवाले सैनिक शिक्षक आगे चलकर अन्य सैनिक केन्द्रों में शिक्षक के रूप में काम करते थे।

भारतीय स्वतन्त्रता संघ ने साधारण नागरिकों को सप्ताह में तीन दिन और प्रतिदिन दो-दो घंटे के हिसाब से सैनिक प्रशिक्षण देने का जो उपक्रम आरम्भ किया था, उसके लिए विभिन्न स्वतन्त्रता संघों की ओर से इन शिक्षकों को बुलाया जाता था। यह 'आजाद शाला' संस्था भारतीय स्वतन्त्रता संघ के अधीन कार्यरत थी, अतः इसमें बहुत गड़बड़ी हो जाया करती थी। यह विभाग सैनिक था या कि नागरिक, अर्थात् साधारण नागरिक के अधिकार में क्यों था? ऐसी अनेक प्रकार की बातें थीं जिनसे कभी-कभी काम में कठिनाई उत्पन्न हो जाती थी। भारतीय स्वतन्त्रता संघ के अधिकारियों में परस्पर मेल-मिलाप नहीं था; झगड़े होते थे, परस्पर गलत धारणाएँ बनती थीं तथा काम में बाधा उपस्थित होती थी।

इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए नेताजी ने सिंगापुर में स्थित अपने निचले स्तर के अधिकारी को रंगून से एक पत्र लिखा कि "अभी जो भर्ती तथा प्रशिक्षण का विभाग भारतीय स्वतन्त्रता संघ के पास है, वह विभाग भारतीय स्वतन्त्रता सेना को सौंपने की दृष्टि से दोनों ओर के अधिकारियों को चाहिए कि परस्पर वार्तालाप करके उचित मार्ग का अवलम्बन करें।"

नेताजी का आशय था कि कार्य की सरलता की दृष्टि से वह विभाग भारतीय स्वतन्त्रता सेना के पास आना ही उचित था। नेताजी के पत्र से उनकी इस प्रकार की इच्छा स्पष्ट प्रकट हो रही थी। परन्तु उस समय के भारतीय स्वतन्त्रता

संघ के सिंगापुर-स्थित वरिष्ठ अधिकारी ने कहा था—"यदि विभाग हमारे पास न रहा तो फिर हमारे संघ का महत्त्व ही क्या रह जाएगा?" परिणामस्वरूप उस अधिकारी ने अपने भीतर पनपनेवाले दुराग्रह के वशीभूत भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक प्रकार से क्षति ही पहुँचाई।

यदि इस विभाग को सेना को सौंप दिया जाता तो फिर संघ पर कार्य का जो बोझ था वह बहुत कम हो जाता और वार्षिक व्यय में भी पर्याप्त कमी हो जाती। किसी विभाग के महत्त्व को बढ़ाने अथवा कम करने का तो उसमें कोई प्रश्न ही नहीं था। यदि साधारण शान्ति का समय होता तो इस प्रकार का अनुचित व्यवहार करनेवाले अथवा निर्णय लेनेवाले व्यक्ति को तुरन्त निलम्बित कर दिया जाता, किन्तु उस समय ऐसा करना उचित नहीं था। अतः ऐसा नहीं किया गया।

'रानी झाँसी ब्रिगेड' की छावनी का उद्‌घाटन 22 अक्टूबर 1943 को हुआ था। उस दिन से उस टुकड़ी की महिलाओं को सैन्य प्रशिक्षण देने के लिए भारतीय स्वतन्त्रता सेना की छः-सात लोगों की एक टुकड़ी चुनी गई। वे प्रशिक्षक नित्य प्रातःकाल से सायंकाल तक उस छावनी में रहकर अन्य सैनिकों की ही भाँति उन महिला सैनिकों को भी सभी प्रकार के सैन्य प्रशिक्षण देते थे।

रानी झाँसी ब्रिगेड में प्रविष्ट होनेवाली महिलाओं को अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार युद्ध का प्रशिक्षण तथा औषधोपचार अथवा सेवा-सुश्रूषा का प्रशिक्षण लेने की छूट थी। परन्तु सेवा-सुश्रूषा के पथक में केवल पन्द्रह-बीस महिलाएँ ही सम्मिलित हुईं। उन्हें आरम्भ में अन्य साधारण सैन्य श्रेणी का प्रशिक्षण देकर बाद में, सेवा तथा रोगियों की देखभाल की जो विशेष शाखा थी, मुख्यतया उसका प्रशिक्षण दिया जाता था। युद्ध के पथक की महिलाएँ जिस प्रकार नित्य प्रातःकाल और मध्याह्न में युद्ध का प्रशिक्षण लेती थीं, वैसे ही इस सेवा-पथक की महिलाएँ भारतीय स्वतन्त्रता सेना के अस्पताल में प्रशिक्षण लेती थीं। वहाँ पर कार्यरत डॉक्टर उन्हें इन विषयों का प्रशिक्षण देते थे। अस्पताल में उन्हें अपने काम का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने की सुविधा भी हो गई थी।

सिंगापुर के पराभव के बाद जो युद्धबन्दी भारतीय स्वतन्त्रता सेना में आने के लिए उद्यत थे, उनमें डॉक्टरों की संख्या बहुत कम थी। स्वयंसेवकों को भर्ती करने के बाद भारतीय स्वतन्त्रता सेना की जो बढ़ोत्तरी हुई, उससे तो डॉक्टरों की कमी और भी अधिक अनुभव की जाने लगी। सुदूरपूर्व में अनेक भारतीय डॉक्टर अपना व्यवसाय अनेक वर्षों से कर रहे थे; उनमें से डॉक्टर लक्ष्मी भी एक थीं। ऐसे स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय करनेवाले अथवा सरकारी नौकरी करनेवाले अनेक डॉक्टर अपना व्यवसाय अथवा नौकरी छोड़कर भारतीय स्वतन्त्रता सेना में डॉक्टर

के रूप में प्रविष्ट हो गए। अंग्रेजी पद्धति का अनुसरण करके उन्हें एकदम मेजर का पद दिया गया।

इनमें से कुछ डॉक्टर ऐसे भी थे जिनकी इच्छा थी कि सरकारी नौकरी छोड़कर भारतीय स्वतन्त्रता सेना में प्रविष्ट हो जायँ, किन्तु ऐसे अनेक डॉक्टरों के त्यागपत्रों को अस्वीकार कर जापान सरकार ने उन्हें नौकरी पर बने रहने के लिए बाध्य कर दिया था। इस प्रकार प्रविष्ट होनेवाले इन नए डॉक्टरों को मिलाकर भी भारतीय स्वतन्त्रता सेना में डॉक्टरों की संख्या बहुत ही कम थी। अत: उच्च तथा मध्यम श्रेणी के 'ड्रेसर्स' तैयार करने का उपक्रम चलाया गया। मैट्रिक तक अथवा उससे भी ऊँचे दर्जे तक शिक्षित सुदृढ़ भारतीय लोगों से आवेदनपत्र मँगाए गए। उसमें आयु की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई। इन लोगों को द्वितीय श्रेणी का डॉक्टर बनाकर डॉक्टरों की कमी को पूरा करने का निश्चय किया गया।

इन लोगों को प्रशिक्षण देकर तैयार करने का कार्य भारतीय स्वतन्त्रता सेना के चिकित्सकीय विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों के पास था। उन्होंने इन लोगों को द्वितीय श्रेणी का डॉक्टर बनाने के लिए उचित पाठ्यक्रम निर्धारित किया तथा भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मुख्य अस्पताल के साथ सम्बद्ध कर योग्य डॉक्टरों के निरीक्षण में इन सबके शिक्षित होने की सुविधा की गई। इस अभ्यासक्रम में भली प्रकार से उत्तीर्ण होनेवाले विद्यार्थियों को श्रेष्ठ श्रेणी के 'ड्रेसर्स' के रूप में भारतीय स्वतन्त्रता सेना में लिया जाता था। अन्य लोगों को मध्यम श्रेणी के 'ड्रेसर्स' के रूप में लिया जाता था। यह पाठ्यक्रम भी छ: मास का था। इससे 200-300 ड्रेसर्स भारतीय स्वतन्त्रता सेना में प्रविष्ट हुए और उन्होंने पर्याप्त संख्या में डॉक्टरों की कमी की पूर्ति कर दी। अत: जो बहुत अधिक रुग्ण होते अथवा जिन्हें शल्यक्रिया की आवश्यकता होती थी, ऐसे रोगियों के अतिरिक्त अन्य साधारण रोगियों को ड्रेसर्स को सौंपना सरल हो गया।

कई महत्त्वपूर्ण स्थानों पर बाल-सेना का गठन भी किया गया था। उस सेना में सामान्यतया बारह से अठारह वर्ष की आयु के किशोरों को प्रवेश दिया जाता था। किन्तु अनेक बच्चों के अत्यधिक उत्साह व्यक्त करने पर उनकी आयु एक-दो वर्ष कम होने पर भी उनको प्रविष्ट कर लिया जाता था।

इस सेना के इन बाल-सैनिकों का अनुशासन बड़ा ही प्रशंसनीय था। इस बात की पुष्टि करनेवाले एक-दो प्रसंगों का उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा।

एक बार नेताजी-सप्ताह मनाया जा रहा था। उसमें भारतीय स्वतन्त्रता से सम्बन्धित खेलों का प्रदर्शन किया जा रहा था। बाल-सेना ने भी उसमें भाग लिया था। अपना समय आने पर बाल-सेना मैदान में अनुशासन में खड़ी हो गई। उनका

बाल–नेता तुरन्त नेताजी के समीप जाकर, दक्ष की स्थिति में खड़ा होकर, नेताजी का अभिवादन करता हुआ बड़े अनुशासित और गर्वीले स्वर से 'जय हिन्द' बोला। नेताजी द्वारा अभिवादन स्वीकार करते ही उसने आदेश पाने के लिए पूछा, "क्या मैं खेल आरम्भ करूँ ?"

नेताजी की स्वीकृति पाकर बाल–नायक अपनी टुकड़ी के समीप गया और उसने अनेक प्रकार के आदेश देकर अपनी सेना से अनेक प्रकार के करतब दिखलाए। तनिक–सी भी गलती होने पर वह बड़े जोर से गलती करनेवाले को डाँटता था। उसके आदेश–निर्देश देने में बड़ी चपलता दिखाई देती थी और उसी प्रकार उसकी टुकड़ी भी दक्षता से प्रदर्शन कर रही थी।

एक अन्य अवसर पर कर्नल भोंसले बाल–सेना के प्रशिक्षण–केन्द्र को देखने के लिए गए। वहाँ वे एक कक्षा में जा पहुँचे। उस कक्षा में मानचित्र की सहायता से भारतवर्ष की पूर्वी सीमा पर आजाद हिन्द फौज द्वारा किये गए आक्रमण के विषय में समझाया जा रहा था। भोंसले ने कुछ देर देखने के उपरान्त एक सैनिक से पूछा, "आप कौन हैं ?"

उसने बड़ी दक्षता किन्तु आदरभाव से उत्तर दिया, "मैं भारतीय हूँ।"

"यहाँ का प्रशिक्षण पूर्ण करने के उपरान्त कहाँ जाना चाहोगे ?"

"मैं भारत की सीमा पर युद्ध करने के लिए जाना चाहूँगा।"

लगभग सभी बाल–सैनिकों ने इसी प्रकार के उत्तर दिए। वे सब लगभग यही विचार रखते थे कि 'हम सब एक हैं, हमारा देश एक, राष्ट्रभाषा एक, हमारा शत्रु भी एक ही है और वह है अंग्रेज सरकार।' यह तत्त्व उनके मन में भली प्रकार समाहित हो गया था।

सैनिक प्रशिक्षण की अन्य महत्त्वपूर्ण बातों को भी आजाद हिन्द फौज के विभिन्न कार्यक्रमों में सम्मिलित किया गया था। ब्रिटिश मलय के उत्तर–पूर्वी तट पर पेनांग नामक एक छोटा–सा द्वीप है। यहाँ पर जापानियों ने भारत पर आक्रमण करने की दृष्टि से एक गुप्त सैनिक पाठशाला प्रस्थापित की हुई थी। इस प्रशिक्षण–केन्द्र में तैयार हुए युवा एवं साहसी सैनिकों को पनडुब्बी के माध्यम से भारत की सीमा पर छोड़ा जाए और फिर वे लोग भारतवर्ष में प्रविष्ट होकर विभिन्न स्थानों पर गुप्त रूप से रहते हुए अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे युद्ध–प्रयत्नों को तहस–नहस करें, उनमें रुकावटें उत्पन्न करें, सैनिकों से भरी हुई गाड़ियों को उलट दें, पुल नष्ट करें, सैनिक भण्डारगृहों को नष्ट करें, वहाँ से बेतार के तार द्वारा जापानी अधिकारियों को महत्त्वपूर्ण समाचार पहुँचाए जाएँ आदि–आदि।

यह प्रशिक्षण–केन्द्र यद्यपि नाममात्र रूप से जनरल मोहनसिंह तथा उनके

उस समय के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के अन्य नेताओं के हाथ में था, किन्तु इसके संचालन का मुख्य उद्देश्य जो जापानियों का था, उसको उन्होंने मोहनसिंह को भी बताया हुआ नहीं था।

अक्टूबर 1942 में जापानियों ने इस केन्द्र में प्रशिक्षित सैनिकों को भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेताओं की आज्ञा के बिना ही भारत भेज दिया। यह देखकर सभी भारतीयों ने इस कार्य में जापानियों को सहयोग देना बन्द कर दिया। उसके बाद उसी वर्ष नवम्बर मास में उन्होंने इस संस्था को ही बन्द कर दिया। इससे जापानी अधिकारी एकदम आग-बबूला हो गए। जनरल मोहनसिंह और जापानी अधिकारियों के मध्य मन-मुटाव और झगड़ा होने के कारणों में एक मुख्य कारण यह भी था।

नेताजी के सिंगापुर आ जाने के उपरान्त इस प्रशिक्षण-केन्द्र को पुनः चालू किया गया और भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख भाग के रूप में इस केन्द्र को भारतीय सैनिक अधिकारियों के अधिकार में कर दिया गया। अब उस पर नेताजी का आदेश चलता था। नेताजी स्वयं और उनके द्वारा इस कार्य पर नियुक्त चार-पाँच अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को इस प्रशिक्षण-केन्द्र के विषय में कोई भी जानकारी नहीं थी। इस संस्था के क्रिया-कलापों के विषय में पूर्ण गोपनीयता रखी जाती थी।

जो सैनिक इस केन्द्र में प्रशिक्षण प्राप्त करते थे, एक प्रकार से उनका अपने माता-पिता से भी सम्बन्ध-विच्छेद-सा हो जाता था। अपने माता-पिता को अपनी कुशलता का समाचार देने की सुविधा भी उनको किसी विशेष अवसर पर ही दी जाती थी। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण था कि इसके विषय में जितनी सावधानी बरती जाए वही उचित था।

समय-समय पर अंग्रेज सरकार तथा उसके अधिकारियों ने इस केन्द्र तथा इसी प्रकार के अन्य केन्द्रों के विषय में जो जानकारी दी, इससे ही इन केन्द्रों के कार्य के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त होती थी।

सन् 1942 से इस प्रकार के लोग भारत के पश्चिमी तट पर अर्थात् त्रावणकोर, ब्रिटिश मालाबार, गोआ, कोंकण, कच्छ का रन, बलूचिस्तान आदि-आदि स्थानों पर मछुआरों तथा उसी प्रकार की छद्म वेश-भूषा में उतरते हैं और वहाँ से कहीं पर छिप जाते हैं—इस प्रकार का सन्देह अंग्रेजों को हो गया था।

परिणामस्वरूप अंग्रेज सरकार चौकन्नी हो गई और इस विषय में तथ्य उजागर करने का प्रयत्न करने लगी। मुम्बई के अभूतपूर्व विस्फोट जैसे अनेक उपद्रवों की भारतभर में जो हवा चल रही थी, उससे ही इन लोगों का सम्बन्ध

होगा, ऐसा ब्रिटिश सरकार का मानना था।

दुर्भाग्य से आगे चलकर जासूसों की पूरी की पूरी टोली बलूचिस्तान के किनारे पर अंग्रेजों से जा मिली और उसने यह सारा भेद उजागर कर दिया। इसी प्रकार एक अन्य टोली के पाँच लोग किसी प्रकार अंग्रेजों की पकड़ में आ गए। उन पर देशद्रोह का आरोप लगाया गया, परन्तु इन वीरों ने भेद नहीं खोला। इन पर न्याय का ढोंग किया गया और शीघ्र ही उनको लाहौर-कारागार में फाँसी पर लटका दिया गया।

यह समाचार जब सिंगापुर पहुँचा तो नेताजी सहित सभी स्वतन्त्रता-सेनानियों को बहुत बड़ा आघात-सा लगा। इन पाँचों बलिदानियों के चित्र सिंगापुर के भारतीय स्वतन्त्रता संघ के सभागृह में बड़े सम्मान के साथ टाँगे गए। एक बहुत बड़े समारोह का आयोजन किया गया, जिसमें बलिदानियों के निकट सम्बन्धियों को बुलाकर सम्मानित किया गया और उन्हें थैलियाँ भेंट की गईं।

पेनांग के इस प्रशिक्षण-केन्द्र में आतंक और उग्रता आदि विषयों का प्रशिक्षण देने के लिए जापानी विशेषज्ञों की नियुक्ति की गई थी। उन विशेषज्ञों में कैप्टन यामानूची नामक एक अधिकारी था। प्रशिक्षण पूर्ण हो जाने पर कौन-कौन-से प्रशिक्षु भारतवर्ष में जाकर अनेक संकटों का सामना करने में सक्षम हो सकते हैं, इसका निर्णय करनेवाले चार-पाँच जापानी अधिकारियों में वह भी एक था।

बलूचिस्तान पर जो दस-बारह लोगों की टोली उतारी गई थी, उसके सब सदस्य अंग्रेजों से जाकर मिल गए, यह समाचार मिलते ही उस संस्था के अधिकारियों के विरुद्ध जन-आक्रोश भड़क उठा। यद्यपि इसके दोषी कुछ भारतीय अधिकारी ही थे, क्योंकि ऊपर से देशभक्ति की शपथ लेनेवाले वे लोग वास्तव में देशद्रोही थे। अधिकार का लोभ तथा जापानियों की कैद से मुक्ति पाने के उद्देश्य से ही ये लोग स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे—यह बाद में विदित हो पाया था।

भारतवर्ष के साथ विश्वासघात करनेवाले एक-दो अधिकारियों के विरुद्ध कुछ अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का विचार नेताजी के मन में आया। एक उच्च पद पर आसीन भारतीय अधिकारी का इसमें हाथ है—ऐसा स्पष्ट ज्ञात होने पर भी उसके विरुद्ध ठोस प्रमाण एकत्रित करने में अनेक प्रकार की बाधाएँ होने के कारण, तथा कर्नल भोंसले द्वारा मध्यस्थता करने के कारण, वह अधिकारी साफ बच गया।

उस पाठशाला से जिसका निकट का सम्बन्ध था, ऐसे एक अन्य अधिकारी

पर आरोप लगाकर उसको नेताजी के सम्मुख उपस्थित किया गया। इस प्रकार के जघन्य अपराध के लिए मृत्युदण्ड के अतिरिक्त अन्य कोई दण्ड न होते हुए भी नेताजी के दयालु स्वभाव के कारण उसे केवल साधारण कारावास का दण्ड दिया गया।

इस सारे प्रकरण में कैप्टन यामानूची का कोई भी दोष न होते हुए और केवल अपने भारतीय अधिकारियों की ही देख-रेख में प्रशिक्षण रहने पर भी ऐसी भयंकर भूल किस प्रकार हो गई तथा देशद्रोहियों को विश्वासपात्र मानकर हमने उनका चयन किस प्रकार कर दिया—इस प्रकार का कलंक स्वयं पर लगेगा, ऐसा विचार करने पर उसने सिंगापुर में स्थित अपने बँगले पर 'हाराकिरी' अर्थात् आत्महत्या कर ली।

जिन भारतीय लोगों को इस प्रकार मृत्युदण्ड मिलना चाहिए था वे तो खुले आकाश के नीचे विचरण कर रहे थे, किन्तु यह जापानी वीर, कलंक की सम्भावना-मात्र से ही आत्महत्या कर बैठा, यह है जापानी चरित्र!

कैप्टन यामानूची के शव की यथोचित जापानी रीति से अन्येष्टि की गई। उसके निकट सम्बन्धियों को भारतीय स्वतन्त्रता सेना की ओर से एक सान्त्वना से भरा मार्मिक पत्र भेजा गया।

पेनांग के इस केन्द्र ने पर्याप्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यहाँ पर उचित अधिकारियों का चयन किया जाता तो यह केन्द्र और भी अधिक अच्छे परिणाम देनेवाले कार्य कर सकता था। मुझे स्मरण है कि नेताजी ने एक बार कहा था कि भारतवर्ष के एक विशिष्ट भाषी प्रान्त के किसी योग्य व्यक्ति के नाम का सुझाव दिया जाय, तो उस समय मैंने एक व्यक्ति का नाम सुझाया था।

नेताजी स्वयं उस व्यक्ति से मिले, उसका साक्षात्कार हुआ और उन्होंने उसे उस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त समझकर उसे विशिष्ट कार्य के लिए भारत भेजा। उनका वह चयन उचित ही सिद्ध हुआ।

उपरिवर्णित अनेक प्रकार के सैनिक प्रशिक्षणों के साथ-साथ अर्थात् पैराट्रुप्स सैनिकों का प्रशिक्षण भी भारतीय स्वतन्त्रता सेना की दो टुकड़ियों को दिया गया था। इन टुकड़ियों का प्रशिक्षण सुमात्रा द्वीप में हुआ था। 1939 से 1945 के महायुद्ध में जर्मनी ने बैल्जियम, हॉलैण्ड, कीट इत्यादि देशों में अपने छत्री सैनिकों की वर्षा करके उस देश पर अधिकार कर सारे विश्व को चकित कर दिया था।

इसी प्रकार रोम में भी जर्मन छत्री सैनिक, एक चील की भाँति झपट्टा मारते हुए शत्रुओं के घेरे में पहुँचकर उनकी आँखों के सामने मुसोलिनी को बड़ी सुरक्षा

से उठाकर अपने साथ ले गए थे। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि छत्री सैनिक कितना महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादन कर सकते हैं। किन्तु भारतीय स्वतन्त्रता सेना के छत्री सैनिक भी ऐसा कर पाएँ—यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था, क्योंकि न तो उतनी संख्या में छत्री सैनिक प्रशिक्षित हो पाए थे और न ही उनके पास उचित मात्रा में वे सब उपकरण थे जो ऐसे युद्धों में उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की युद्ध-सामग्री के अभाव में भारतीय छापामार सैनिक असमर्थ थे।

इस प्रकार के छत्री सैनिकों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी होता है कि शत्रु को जानकारी न होते हुए उसके प्रदेश में रहकर वहाँ उत्पात मचाना, विनाशकारी कार्य करना, गुप्तचरी करना, शत्रुओं की खाद्य-सामग्री नष्ट करना, शत्रु-सेना के आवागमन को अवरुद्ध करना। इस प्रकार के कार्यों के लिए अधिक छत्री सैनिकों की आवश्यकता नहीं होती। भारतीय स्वतन्त्रता सेना में इस प्रकार की टुकड़ी तैयार करने का यही उद्देश्य था।

सुमात्रा द्वीप पर स्थित पहली टुकड़ी का प्रशिक्षण पूर्ण होने के उपरान्त दूसरी टुकड़ी के लिए योग्यतम सवा सौ सैनिकों का चयन करने का काम कर्नल भोंसले ने मुझे सौंपा। सिंगापुर तथा जोहोर बार्डर पर स्थित भारतीय स्वतन्त्रता सेना की विभिन्न टुकड़ियों को देखने के लिए मैं वहाँ गया। वहाँ पर मैंने विभिन्न स्थानों से इस कार्य के लिए आए हुए प्रत्याशियों में से सवा सौ सैनिकों का चयन किया। उसमें लेफ्टिनेंट के पद से लेकर साधारण सैनिक तक के पदों के सैनिक थे। छत्री सैनिकों का कार्य विशेष संकटपूर्ण होने के कारण, उन सारे संकटों से उनको पूर्णतया सावधान करने पर जिनके उत्साह में तनिक भी कमी नहीं आएगी, उन्हीं लोगों का चयन किया जाएगा—इस प्रकार का निश्चय मैंने किया था। इसके अतिरिक्त अन्य वे सभी बातें भी ध्यान में रखनी आवश्यक थीं जोकि आजाद हिन्द फौज के सैनिक में आवश्यक रूप से होनी ही चाहिएँ।

जितने सैनिकों की आवश्यकता थी उतने सैनिकों का चयन करने के उपरान्त इस टुकड़ी को एकत्रित कर उसे एक छोटी मोटरबोट से सुमात्रा द्वीप पर प्रशिक्षण लेने के लिए रवाना कर दिया गया। ले० वामनराव देशमुख इस टुकड़ी के प्रमुख थे। उन्होंने अपना दायित्व भली प्रकार सम्पन्न किया। सिंगापुर के बन्दरगाह से जब यह नाव निकलनेवाली थी तो आजाद हिन्द फौज के कार्याध्यक्ष के रूप में कर्नल भोंसले उस टुकड़ी को विदाई और आशीर्वाद देने के लिए स्वयं वहाँ पर विद्यमान थे।

सुमात्रा द्वीप के एक छोटे-से नगर में यह टुकड़ी तीन-चार मास तक रही।

वहाँ पर एक जापानी हवाई प्रशिक्षण केन्द्र पर उनका प्रशिक्षण चल रहा था। परन्तु प्रशिक्षण अभी आरम्भिक स्थिति में ही था कि प्रशान्त महासागर में भयंकर युद्ध छिड़ गया। जापान के हवाई जहाजों का उत्पादन, अमेरिका के हवाई जहाजों के उत्पादन की तुलना में टिक नहीं पाया था। इस स्थिति में जापान सरकार ने यह निर्णय लिया कि जहाँ-जहाँ पर जापानी हवाई टुकड़ियाँ हों, उन सबको वापस बुला लिया जाय। उसी प्रसंग में इस टुकड़ी को भी वह सब यों ही छोड़-छाड़कर वापस होना पड़ा। इस प्रकार इस टुकड़ी का प्रशिक्षण अपूर्ण ही रह गया।

अध्याय पंद्रह

नेताजी द्वारा उत्तरदायित्व निर्वहन

सुदूरपूर्व में स्थित सुमात्रा, जावा, बोर्नियो इत्यादि प्रदेशों का दौरा करके 11 अगस्त 1943 को नेताजी सिंगापुर आ गए। सब स्थानों पर भारतीय लोगों में असीम उत्साह देखकर उनका आत्मविश्वास द्विगुणित हो गया। भारतीय परतन्त्रता के इतिहास में इन प्रान्तों के नागरिकों तथा उनके धन के बल पर एवं अन्य देशों की सहायता से हम कोई बहुत बड़ा कार्य सम्पादन कर सकेंगे—ऐसा उनको विश्वास होने लगा था। शिष्य की यदि इच्छा तीव्र हो तो उसे उचित गुरु मिल ही जाया करते हैं। इस प्रकार सुदूरपूर्व के भारतीयों को भी सुभाषचन्द्र बोस जैसा नेता मिल गया था और इसी प्रकार श्री सुभाषचन्द्र बोस को भी जिस प्रकार के लड़ाकू वृत्ति के व्यक्ति चाहिए थे वे मिल गए।

नेताजी को जब ऐसा आभास हुआ कि जैसी परिस्थिति उनको चाहिए थी वह विद्यमान है, तो उन्होंने इसका दायित्व भी स्वीकार कर लिया। इससे पूर्व जिन-जिन लोगों ने इस आन्दोलन का नेतृत्व स्वीकार किया था, वे उतने उत्साह और लगन से कार्य नहीं कर पाए थे, जितना कि नेताजी ने प्रकट किया था। अन्य लोगों ने एक प्रकार से डरते-डरते ही यह नेतृत्व स्वीकारा था।

उन पूर्व-नेताओं का दृष्टिकोण यह था कि वे पहले अंग्रेजों की सेना में थे और उनके प्रति विश्वस्त रहने की शपथ भी उन्होंने ली थी। वे यह भी सोचते थे कि भारत के नागरिक हमें जापानियों के हाथ की कठपुतली मानकर कदाचित् हमें सहायता प्रदान न करें, सहयोग न दें। अंग्रेजों की शक्ति अत्यधिक होने के कारण यदि उनको युद्ध में विजय प्राप्त हो गई तो फिर हमारा क्या होगा—इसकी कल्पना कर सभी संशित मन रहते थे।

श्री सुभाषचन्द्र बोस के मन में इस प्रकार की कोई शंका नहीं थी। वे तो केवल यही देख रहे थे कि इस समय परिस्थिति हमारे लिए कितनी अनुकूल है। देश-सेवा का व्रत तो उन्होंने होश सँभालते ही ले लिया था। इस कार्य के लिए वे

चाहे किसी की भी सहायता क्यों न लेते, किसी के भी मन में उनके प्रति अर्थात् उनकी निष्ठा और लगन के प्रति, उनकी देशभक्ति के प्रति किसी प्रकार का सन्देह संभव नहीं था। सब जानते थे कि देश को स्वतन्त्रता दिलाने की उनकी इतनी उत्कट अभिलाषा है कि उसको प्राप्त करने के लिए उनके मार्ग में चाहे कितनी भी बाधाएँ आएँ, कितनी भी रुकावटें आएँ, कितने भी संकट क्यों न खड़े हों, उन सबको झेलने की सिद्धता उनमें है।

नेताजी एक वर्ष तक जर्मनी में रहे थे। वहाँ रहते हुए सैनिक संगठन के विषय में उन्हें पूर्ण जानकारी प्राप्त करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया था जिसका उन्होंने भरपूर लाभ उठाया। उत्तरी अफ्रीका के युद्ध में जो भारतीय युद्धबन्दी मिले उनमें से अनेक लोगों को रोम तथा बर्लिन में स्थानबद्ध किया हुआ था। उनमें से पाँच हजार सैनिकों की आजाद हिन्द फौज का गठन उन्होंने बर्लिन में अपने एक वर्ष के निवास-काल में कर लिया था।

इसी प्रसंग में उन्होंने तिरंगे झण्डे के मध्य में स्थित चरखे के स्थान पर झपटते हुए सिंह का चिह्न स्थापित कर दिया। 'जर्मनी में उपलब्ध उत्तमोत्तम युद्ध-सामग्री पहले इस सेना को दी जाय'—ऐसा जर्मनी के वरिष्ठ मण्डल का आदेश था। बर्लिन में आयोजित एक सार्वजनिक समारोह में जर्मन तथा भारतीय सैनिकों को सम्बोधित करते हुए हिटलर ने श्री सुभाषचन्द्र बोस के विषय में कहा था, "आप लोगों को विदित होना चाहिए कि श्री सुभाषचन्द्र बोस का पद मुझसे भी उच्च है। क्योंकि मैं तो केवल आठ करोड़ जर्मनवासियों का नेता हूँ, यह मेरे बराबर में बैठे हुए व्यक्ति चालीस करोड़ (तब भारत की जनसंख्या उतनी ही थी) लोगों के नेता हैं।"

तदपि सुदूरपूर्व में जितने भी भारतीय लोग रह गए थे उतने योरोप में नहीं थे। वहाँ भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रगति नहीं हो सकती थी। जर्मनी जब तक रूस के साथ था, तब तक यह छोटी-सी स्वतन्त्रता-सेना ही क्यों न हो, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान के मार्ग से भारत में पहुँच सकती है—इस प्रकार की आशा करना उचित ही था। किन्तु जब यह पता चल गया कि रूस का झमेला शीघ्र ही निपटनेवाला नहीं है तो यह आशा भी धूमिल पड़ गई।

ऊपर योरोप की स्थिति का जिस प्रकार वर्णन किया गया है और उस समय सुदूरपूर्व की जो स्थिति थी, उसका भी आकलन जब नेताजी ने किया तो उनको यही उचित प्रतीत होने लगा कि योरोप की अपेक्षा सुदूरपूर्व की मित्रता अपने कार्य की दृष्टि से उत्तम सिद्ध होगी। मन में इस बात का निश्चय करने के उपरान्त नेताजी ने बर्लिन से जापान की ओर प्रस्थान किया था।

सुदूरपूर्व में आकर उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से सारी स्थिति का आकलन किया। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि यहाँ से कार्य करने में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होगी, तब उन्होंने भारतीय स्वातन्त्र्य सेना का नेतृत्व स्वीकार करने का निश्चय किया।

अपने इस निश्चय को नेताजी ने नीसून छावनी में स्थित भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मध्य सार्वजनिक सभा में प्रकट करते हुए कहा था, ''इस सेना का नेतृत्व मैंने स्वयं सँभालने का निर्णय कर लिया है। आप सब इससे पूर्व युद्धबन्दी थे। इसलिए मैं चाहता हूँ कि आपमें से किसी को भी यह कहने का अवसर नहीं मिलना चाहिए कि हमें बलपूर्वक भारतीय स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार का कोई बहाना आपको न मिले, इसलिए मैं आप सब लोगों को आठ दिन तक इस विषय पर गम्भीरता से विचार करने लिए समय दे रहा हूँ। इस अवधि में यदि किसी को लगे कि उसे इस सेना में नहीं रहना चाहिए तो उसे यहाँ से निकलकर जाने की स्वतन्त्रता होगी। किन्तु उसके उपरान्त किसी को भी इस विषय में शिकायत करने का अथवा निकल भागने का अवसर नहीं मिलेगा।'' इस भाषण के उपरान्त आठ दिन तक प्रतीक्षा की गई, किन्तु किसी ने सेना छोड़ने का विचार व्यक्त नहीं किया।

15 अगस्त 1943 को 'फेरर पार्क' के मैदान में सिंगापुर के भारतीय नागरिकों को सार्वजनिक रूप से सम्बोधित करने का आयोजन किया गया था। यह भाषण अनेक कारणों से स्मरणीय था। प्रथम तो यह कि वहाँ पर जो विशाल जनसमुदाय एकत्रित हुआ था, इससे पूर्व कभी और कहीं नहीं देखा गया था। जो भारतीय जापानियों के अधिकार में थे और स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित हुए, उनके अतिरिक्त भी अनेक भारतीय सैनिक इस समारोह में सम्मिलित थे। सभा-मण्डप के समीप व्यर्थ की भीड़ रोकने की भी अच्छी व्यवस्था की गई थी।

निर्धारित समय पर नेताजी अपनी मोटरकार से सभा-स्थल पर पधारे। कार के आगे और पीछे उनके भारतीय अंगरक्षक अपनी मोटर-साइकिलों पर आरूढ़ थे। मोटरकार में भी दो-दो अंगरक्षक बैठे हुए थे। मंच पर पहुँचने से पूर्व की सभी औपचारिकताएँ पूर्ण करनी होती थीं। नेताजी ने वे सब प्रसन्न चित्त से पूर्ण कीं।

विशिष्ट अतिथि के रूप में ब्रह्मदेश के डॉक्टर बा मा इस समारोह में विद्यमान थे। नेताजी ने सर्वप्रथम उनका परिचय कराया और फिर सभा को सम्बोधित करते हुए बोले—

''भारतीयों के रोम-रोम में व्याप्त परतन्त्रता का ज्यों-ज्यों मैं विचार करता

हूँ, त्यों-त्यों मेरे मन में बहुत आश्चर्य होने लगता है। युद्ध से पूर्व ब्रह्मदेश में पाँच-छः लाख भारतीय नागरिक अपना काम-धन्धा करते हुए वहाँ रह रहे थे। आज हमारे यहाँ पर उपस्थित हमारे मित्र डॉक्टर बा मा ने मुझे बताया है कि जापानी सेना ज्यों-ज्यों विजयी होती हुई ब्रह्मदेश में अपने पग आगे बढ़ाती गई, त्यों-त्यों अंग्रेजों ने भारत की ओर अपने पग बढ़ाने आरम्भ किए। पीछे हटनेवाली उनकी सेना के साथ दो-तीन लाख भारतीय नागरिक भी अपना बोरिया-बिस्तरा बाँधकर भारत की ओर सरकते चले गए।....

''इस प्रकार ब्रह्मदेश को छोड़कर जानेवाले भारतीयों की भारतीय सीमा पर बड़ी दयनीय दशा हुई। वहाँ किसी ने उनको पूछा तक नहीं। ब्रह्मदेश छोड़ते समय उन लोगों ने किसी प्रकार का विचार किया ही नहीं। केवल अंग्रेज भाग रहे हैं अतः हमें भी यहाँ से भाग जाना चाहिए--ऐसा सोचनेवाले इन भारतीयों में से लाख-डेढ़ लाख व्यक्ति कुछ अनाज-पानी के अभाव में, कुछ रोगों के कारण तो कुछ हिंसक पशुओं के शिकार हो जाने के कारण अपने प्राण गँवा बैठे। उनकी सम्पत्ति, सोना-चाँदी, आभूषण और वस्त्रादि सब जंगलों में बिखरे पड़े मिले।....

''यदि यही लाख-डेढ़ लाख व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो जाते तो आज तक भारत स्वतन्त्र हो गया होता।

''भारतीय लोग इतने मूर्ख तथा डरपोक सिद्ध हुए हैं कि जापानी आ रहे हैं और अंग्रेज जा रहे हैं—यह समाचार फैलते ही वे सभी अपना बोरिया-बिस्तर सिर पर रखकर ब्रह्मदेश से क्यों भाग निकले? अंग्रेजों को जापानी लोगों से भय लगता होगा, किन्तु हम भारतीय लोग जापानियों के डर से अपने जमे-जमाए धन्धे को चौपट कर अपना आधा-अधूरा सामान सिर पर लादकर क्यों भाग निकले?....

''अंग्रेजों के साथ भागकर भारत में जाने पर क्या अंग्रेजों ने उनके स्वागत के लिए लाल कालीन बिछा रखा था? केवल अंग्रेजों की पूँछ पकड़कर भागने तथा लाखों की संख्या में जंगलों में जाकर प्राण गँवाने जैसी लज्जास्पद बात कोई नहीं हो सकती।....

''आगामी दो-तीन मास में भारतीय स्वतन्त्रता सेना ब्रह्मदेश की दिशा में कूच कर देगी और यह वर्ष समाप्त होने से पहले ही हम भारतवर्ष में अपने पग रख लेंगे....''

नेताजी के यह उद्‌गार सुनते ही उस सारे जनसमाज में आनन्द-मिश्रित एक उमंग की लहर-सी कौंध गई थी—यह कहना अतिशयोक्ति न होगा। समारोह-स्थल पर चारों ओर से नेताजी का जय-जयकार गूँजने लगा। प्रत्येक के चेहरे

प्रसन्नता से खिल रहे थे। जापानियों द्वारा सिंगापुर पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त भारतीय स्वतन्त्रता सेना का आरम्भ हुआ था, किन्तु इस प्रकार कि हम अमुक तिथि तक निश्चित ही भारत की धरती पर अपना पग रख लेंगे, ऐसा आज तक कोई नहीं कह पाया था। इस प्रकार इतनी जल्दी सार्वजनिक घोषणा करने जैसी तैयारी हो सकी, यह वास्तव में नेताजी के कुशल नेतृत्व का ही कमाल था। नेताजी जैसा नेता पाकर हम सब लोग धन्य हो गए हैं—एक प्रकार से इस प्रकार की भावना वहाँ पर उपस्थित सब लोगों के मन में कौंध रही थी।

नेताजी के इस प्रकार के उद्गार सुनते ही भारतीय स्वतन्त्रता सेना के बहादुर ग्रुप के श्री दत्तात्रेय श्रीधर चाँदेकर मंच पर आए और अपनी अँगुली काटकर उससे प्रवाहित होनेवाले रक्त से उन्होंने नेताजी का तिलक किया। यह देखकर अन्यान्य लोगों के साथ-साथ नेताजी भी अभिभूत हो गए। उन्होंने श्रीधर को गले लगा लिया।

इसी अवसर पर नेताजी ने आर्थिक सहायता की भी अपील करते हुए कहा, "यदि जापानियों ने आपको अंग्रेजों की प्रजा मानकर स्थानबद्ध करने के साथ-साथ आपकी सारी सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर लिया होता तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि-विधान की दृष्टि में कुछ भी अनुचित न होता। परन्तु हम भारतीय लोग स्वतन्त्रता-प्रेमी हैं और मन से अंग्रेजों से घृणा करनेवाले हैं, जापानी लोगों को जब यह विदित हुआ तो उन्होंने भारतीय नागरिकों को स्वतन्त्र रहने दिया और व्यापार आदि करने की छूट भी दे दी।....

"आज जो आप व्यापार आदि कर पा रहे हैं, वह स्वतन्त्रता-प्रेमी और अंग्रेज-विरोधी भारतीय नागरिक होने के नाते ही कर पा रहे हैं। अतः इस व्यापार से होनेवाले लाभ को देश के काम के लिए देने में आपको किंचित् भी संकोच नहीं करना चाहिए। हम अपनी सम्पत्ति का दस अथवा बीस प्रतिशत ही देशहित में न्यौछावर करेंगे, कुछ लोगों को ऐसा कहते सुना है। किन्तु यह समय इस प्रकार आँकड़े गिनने का नहीं, अपितु शत-प्रतिशत स्वार्थत्याग करने का है।....

"युद्ध पर जब किसी सैनिक का बलिदान होता है तो वह ऐसा नहीं कहता कि 'मैं दस या बीस प्रतिशत ही रक्त प्रवाहित करूँगा'। फिर सुखपूर्वक पीछे रहनेवाले लोग ऐसा किस मुँह से कह सकते हैं?....यह सब व्यर्थ है। सिंगापुर के कोने-कोने में क्या चल रहा है, कौन क्या कहता है, इस विषय में मुझे पूरी जानकारी रहती है। जो लोग देश के साथ द्रोह करेंगे उनके विरुद्ध कठोर पग उठाने से मैं कभी पीछे नहीं हटूँगा।...."

नेताजी का स्वागत करते हुए लोगों ने उनके गले में जो पुष्पहार डाले थे,

उन्हें उतारकर उन्होंने सामने मेज पर रख दिया था। नेताजी का भाषण समाप्त होते ही आयोजकों ने उनमें से एक-एक हार उठाकर उसकी बोली लगाने के लिए कहा। पहले एक-दो हार दो-दो चार-चार लाख में बिके, उसके बाद के हार पाँच हज़ार से 75 हजार तक में बिके। एक-एक हार की बोली बन्द होने पर सर्वाधिक मूल्य देनेवाला मंच पर आता था और नेताजी स्वयं उसके गले में वह हार डालते जाते थे। इस सारी प्रक्रिया में एक घंटा और लग गया था।

हारों की नीलामी के उपरान्त व्यक्तिगत निधि देनेवालों की पंक्ति बन गई। इसमें दस डालर से आरम्भ कर हजारों डालर तक देनेवाले लोग थे। उन दिनों सिंगापुर के एक डालर का मूल्य एक रुपया बारह आना होता था। इन दानदाताओं में आबाल-वृद्ध नर-नारी सभी थे। नेताजी स्वयं यह राशि लेते थे। इस प्रकार दो घंटे इस कार्य में लगे।

उन दिनों नेताजी जिस किसी भी सभा में जाते, वहाँ पर इसी प्रकार पुष्पहारों की नीलामी तथा 'व्यक्तिगत निधि अर्पण' का कार्य होता था। नेताजी सबको आशीर्वाद देते थे। वे वृद्धों तथा नारियों को प्रणाम करते और बालकों को प्यार देते थे। इस प्रकार इन सभाओं में लाखों रुपए एकत्रित हो जाया करते थे। तदपि युद्ध में झोंकने के लिए तो अधिकतम राशि भी न्यूनतम ही होती है।

नेताजी 4 जुलाई 1943 को सुदूरपूर्व में स्थित भारतीय स्वतन्त्रता संघ के अध्यक्ष घोषित कर दिए गए थे। डेढ़ मास बाद 25 अगस्त को उन्होंने 'आजाद हिन्द फौज' का सेनापतित्व भी सँभाल लिया।

नेताजी का विचार था कि युद्ध आरम्भ हुए अनेक वर्ष बीत गए हैं, यह सारी अवधि व्यर्थ ही नष्ट हो गई, अतः अब हमें वेग से कार्य में जुट जाना चाहिए जिससे कि सन् 1943 का वर्ष पूर्ण होने से पूर्व ही हम भारत में प्रविष्ट हो सकें। इस प्रकार उन्होंने कार्यावधि भी निश्चित कर ली। कर्नल भोंसले नेताजी के सहायक के रूप में कार्य कर रहे थे।

भारतीय स्वतन्त्रता संघ के अध्यक्ष होने के नाते नेताजी नित्यप्रति प्रातःकाल दो-तीन घंटे संघ के सिंगापुर-स्थित केन्द्रीय कार्यालय में बैठा करते थे। तदनन्तर आजाद हिन्द फौज के केन्द्रीय कार्यालय में एक-दो घंटे के लिए जाते थे। इस प्रकार दोनों कार्यालयों के महत्त्वपूर्ण कार्यों को इस अवधि में पूर्ण करते थे।

सितम्बर मास के आरम्भ में वे मोटरकार से मलय के प्रवास पर निकाले। सेरेबन, कुआलालम्पुर, इपो, पेनांग आदि-आदि स्थानों का उन्होंने दौरा किया। वहाँ उन्होंने समस्त नागरिकों में अपार उत्साह के लक्षण देखे। सभी स्थानों पर सार्वजनिक सभाएँ आयोजित की गईं। नेताजी के भाषण के उपरान्त हारों की

नीलामी तथा व्यक्तिगत रूप से धन देने के कार्यक्रम होते। उन स्थानों पर स्थित संघ के कार्यालयों के कार्य का निरीक्षण तथा प्रतिष्ठित कार्यकर्त्ताओं एवं व्यक्तियों से सम्पर्क-स्थापन आदि सभी कार्य नेताजी ने उन स्थानों पर किये। एक तमिल सेठ ने नेताजी को सोने की तोप भेंट की थी। एक अन्य सेठ ने दो लाख दानस्वरूप दिए।

मलय का दौरा पूर्ण कर नेताजी वायुयान द्वारा ब्रह्मदेश गए। वहाँ के नागरिकों ने भी नेताजी के प्रथम बार ही दर्शन किये थे। उन्होंने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया। 26 सितम्बर को नेताजी रंगून के झापरशाह मार्ग पर स्थित पदच्युत मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र की कब्र पर भी गए। जो किसी समय भारत का शहंशाह था, उसकी इस प्रकार अपने देश से दूर अनजान-अपवित्र स्थान पर मृत्यु हो और वहीं उसकी कब्र बने, इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती थी ? यह सब स्मरण कर नेताजी के नेत्र गीले हो गए और उन्होंने इस अपमान का बदला लेने की एक बार फिर शपथ ली।

नेताजी समझते थे कि एक राज्य-व्यवस्था को उखाड़ते समय उसके स्थान पर दूसरी राज्य-व्यवस्था तुरन्त स्थापित होनी चाहिए अन्यथा क्रान्ति का अभिप्राय उपद्रव और मारकाट ही हो जाएगा। पहली प्रथा को ध्वस्त करते समय उसके स्थान पर अपने अनुकूल नई व्यवस्था लागू करना ही सफल क्रान्ति है।

हमारे आन्दोलन में यह कमी न रह जाए, इस विचार को ध्यान में रखकर नेताजी ने सुदूरपूर्व में पहुँचते ही भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना का प्रयत्न जारी रखा। वे यह भी जानते थे कि यदि सरकार प्रस्थापित की जाती है तो उसे कम से कम अपने मित्र देशों की ओर से तो मान्यता मिलनी ही चाहिए। इसके लिए भी वे प्रयत्नशील रहे।

भारत से निष्क्रमण करते ही अंग्रेजों के शत्रु-देशों की सहायता से नेताजी ने भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थान प्राप्त करवा दिया था। जिस समय विश्व में शान्तिकाल था, उस समय यदि भारतीय नागरिकों ने अंग्रेजों के विरुद्ध भारत में रहकर ही स्वतन्त्रता-आन्दोलन आरम्भ कर दिया होता और युद्ध द्वारा स्वतन्त्र भारत सरकार की स्थापना कर ली होती, तब उसे अन्य देशों की मान्यता की उतनी आवश्यकता न होती। ऐसे समय में कोई मान्यता भी सहज ही नहीं दे देता।

किन्तु यदि अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर आरूढ़ होकर अपने शत्रु के शत्रुओं की सहायता प्राप्त करते हुए हम भी अन्यान्य देशों की भाँति उतने ही शक्तिशाली हैं, ऐसा दिखलाकर यदि हमें अपनी व्यवस्था करवानी हो तो कम से कम अपने

सहायकों की ओर से तो मान्यता प्राप्त होनी ही चाहिए।

भारत की स्वतन्त्र सरकार के विषय में उसका सारा पत्र-व्यवहार सुचारु रूप से चलाने के लिए सिंगापुर के भारतीय स्वतन्त्रता संघ के केन्द्रीय कार्यालय में एक नया स्वतन्त्र विभाग प्रस्थापित किया गया था। इस विभाग के माध्यम से ही सेना में कार्यरत युवकों के पत्रों का आवागमन होता था। नेताजी स्वयं भी उन युवकों में से अनेक युवकों के साथ पत्र-व्यवहार करते थे।

आजाद हिन्द सेना के प्रसंग में इस दृष्टि से व्यवस्था पूर्ण करने के लिए ही नेताजी रंगून से टोकियो गए। वहाँ पर जर्मनी के प्रतिनिधियों तथा जनरल टोजो से और जापान के परराष्ट्रमन्त्री आदि से चर्चा करने के उपरान्त उन्हें यह आभास हो गया कि उनकी स्वतन्त्र सरकार की स्थापना में वे लोग सहायक होंगे।

यह आभास पाते ही, इस कार्य को तुरन्त सम्पन्न कर लेना चाहिए, यह निश्चय कर नेताजी अक्टूबर 1943 के पूर्वार्ध में टोकियो से सिंगापुर वापस आ गए। सिंगापुर आते ही भारतीय स्वतन्त्रता संघ के केन्द्रीय कार्यालय के माध्यम से नेताजी ने सुदूरपूर्व में स्थित सभी देशों के भारतीय प्रतिनिधियों को यह सूचना भिजवा दी कि "21 अक्टूबर 1943 को सिंगापुर में सभी भारतीयों का एक प्रतिनिधि सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है। इस सम्मेलन में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा एवं निर्णय होंगे। अतः सभी प्रतिनिधियों का इसमें सम्मिलित होना अनिवार्य है।"

श्री रासबिहारी बोस का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। वे उन दिनों जापान में ही थे। उन्हें जब नेताजी के इस प्रकार के कार्यों की जानकारी मिली तो उन्हें असीम प्रसन्नता हुई। नेताजी के इस उपक्रम को उन्होंने स्वयं अपनी अनुमति तो दी ही, साथ ही उन्होंने जापान सरकार को भी इसके लिए स्वीकृति देने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयास किया।

श्री रासबिहारी बोस से परामर्श करने के उपरान्त ही नेताजी ने अपने नये मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की नामावलि निर्धारित की। नई सरकार की स्थापना तक उन नामों को गुप्त रखा गया।

अध्याय सोलह

भारतीय युद्ध-बन्दियों की मनोवृत्ति

भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना का पूर्ण विवरण जानने से पूर्व उससे पूर्व-घटित कुछ घटनाओं के विषय में जान लेना आवश्यक होगा।

नेताजी टोकियो-प्रवास से 1943 के अक्टूबर मास के मध्य में सिंगापुर वापस लौट आए। आजाद हिन्द फौज का नेताजी द्वारा नेतृत्व स्वीकार करने से पूर्व सिंगापुर आदि सुदूरपूर्व के स्थानों के भारतीय युद्धबन्दियों में से बहुत कम लोग इस सेना में प्रविष्ट हुए थे। अतः नेताजी के परामर्शदाताओं की यह सम्मति थी कि स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना से पूर्व यदि नेताजी स्वयं एक बार उन सब छावनियों में जाकर वहाँ के युद्धबन्दियों को सेना और सरकार में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित करें तो सफलता प्राप्त हो सकती है।

नेताजी ने इस सुझाव के अनुसार सभी युद्धबन्दियों की छावनियों में जाने का कार्यक्रम बनाया। यह भी विचार किया कि बन्दियों की प्रत्येक छावनी में नेताजी का एक-एक भाषण अर्थात् सार्वजनिक सभा रखी जाए। तब फिर यह विचार हुआ कि यदि नेताजी के भाषण के प्रभाव से युद्धबन्दी आजाद हिन्द फौज में प्रविष्ट होने के लिए उत्सुक होंगे तो उन्हें अपना बोरिया-बिस्तरा लेकर आजाद हिन्द फौज की गाड़ियों के माध्यम से सेना की छावनी में ले-जाने के लिए जापान सरकार की अनुमति आवश्यक होगी।

विभिन्न बन्दी छावनियों में अपना भाषण आरम्भ करने से पूर्व जापानी अधिकारियों से इस प्रकार का आश्वासन लेने का कारण यह था कि इससे पूर्व भी अनेक बार अनेक युद्धबन्दियों ने सेना में सम्मिलित होने की इच्छा से अपने-अपने नाम लिखाए थे, किन्तु जापानी अधिकारियों की उदासीनता के कारण वे किसी भी सेना में प्रविष्ट नहीं हो पाए थे, उन्हें इस प्रकार के अवसर से अब तक वंचित ही रखा गया था।

यद्यपि आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों के समाधान के लिए जापानी

अधिकारियों ने इस प्रकार की घोषणाएँ तो की थीं कि 'जिस किसी को आजाद हिन्द फौज में प्रविष्ट होना हो वे अपना-अपना नाम दे दें।' जब अनेक लोगों ने अपने नाम दिए तो जापानी अधिकारियों ने उन पर आगे किसी भी प्रकार की कार्यवाही करने की अपेक्षा मौन धारण करना ही उचित समझा था। पूछे जाने पर कह देते, "हम अपनी ओर से भरसक प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु यह कार्य उतना सरल नहीं है, जितना कि दिखाई देता है।" इस प्रकार उत्तर देकर वे सेनावृद्धि के कार्य में एक प्रकार से बाधक बनकर बैठ गए थे।

इसके विपरीत जापानियों ने इन युद्धबन्दियों से सामान्य श्रमिक का कार्य लेने में किसी प्रकार की लज्जा अनुभव नहीं की और न ही उन्हें किसी प्रकार का संकोच होता था। उन युद्धबन्दियों को स्वतन्त्रता सेना में न लेने का मुख्य कारण यही था कि जितने-जितने युद्धबन्दी आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो जाएँगे जापानियों के लिए उतने ही श्रमिक कम मिल सकेंगे। अत: यह विचार कर नाम दिए जाने पर भी उनको सेना में सम्मिलित होने के लिए बहाने से टालते रहे थे। जापानी चाहते थे कि युद्धबन्दियों की संख्या कम न होने पाए।

जापानियों के मन में यह भी आशंका घर कर गई थी कि यदि इस प्रकार आजाद फौज सेना की संख्या बढ़ गई तो उसे वे आज जिस प्रकार अपनी अंगुलियों पर नचा रहे हैं, संख्यावृद्धि हो जाने पर फिर वे उन्हें इस प्रकार नचा नहीं पाएँगे। इन कारणों से जापानियों ने आजाद हिन्द फौज की संख्यावृद्धि को रोकने के लिए हर सम्भव प्रयास किया।

युद्धबन्दियों की व्यवस्था तथा स्थान-स्थान पर उनको कार्य के लिए भेजना, इस सबके लिए एक पृथक् विभाग स्थापित किया गया था। 'हिकारी किकान' के अधिकारी चाहते थे कि आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों को किसी भी भाँति यह विदित नहीं होना चाहिए कि वह विभाग किनके पास है और उसके वरिष्ठ अधिकारी कौन-कौन हैं। 'हिकारी किकान' ने कुछ इस प्रकार का प्रपंच रचा हुआ था कि दोनों विभागों को एक-दूसरे का पता न चल सके, जैसे कि वे परस्पर कभी मिले ही नहीं।

इस प्रकार 'हिकारी किकान' का अन्य विभागों से क्या सम्बन्ध है और उसके कौन-कौन अधिकारी किस-किस पद पर हैं, इसको जानने का कोई मार्ग 'हिकारी किकान' ने खुला रखा ही नहीं था। परिणामस्वरूप 'हिकारी किकान' के अधिकारी जो कह दें, उसे ही ब्रह्मवाक्य मानकर उस पर चलना आवश्यक हो गया था। यदि कभी उनकी आज्ञा न मानकर सम्बन्धित विभाग से सीधे सम्पर्क की बात कही जाती तो उनको उत्तर में कहा जाता, "आप अपनी बात 'हिकारी

किकान' के माध्यम से ही उनके पास पहुँचाएँ तभी उस पर सकारात्मक विचार होगा, अन्यथा नहीं।''

इस प्रकार 'हिकारी किकान' ने भारतीय अधिकारियों के विरुद्ध हर किसी जापानी विभाग के अधिकारियों के कान फूँक रखे थे।

जब नेताजी ने उपरिलिखित वर्णन के अनुसार उन युद्धबन्दियों के सेना में सम्मिलित होने की अनुमति चांही तो उस अनुमति के मिलने में कुछ समय लग गया। किन्तु उस अनुमति के बिना भाषणों का कार्यक्रम निर्धारित करने से लाभ होनेवाला नहीं था, अत: उनका आयोजन नहीं किया जा सका।

एक ओर जापानी अधिकारियों और 'हिकारी किकान' का ऐसा व्यवहार था और दूसरी ओर युद्धबन्दियों में अनेक ऐसे लोग भी थे जो शरीर से तो भारतीय थे किन्तु जिनके मन-मस्तिष्क अंग्रेजों के दास हो गए थे। वे भी चाहते थे कि आजाद हिन्द फौज के भारत की स्वतन्त्रता के लिए किये जानेवाले प्रयत्न किसी भी प्रकार सफल न होने पाएँ। उनसे जितना सम्भव हो सका उन्होंने इसका विरोध किया।

उदाहरणार्थ, जब मैं सेलेतार बन्दी छावनी में था तब श्री जोशी, श्री गोरे, श्री सोहोनी, श्री पद्मनाभराव और मैं, ऐसे कुछ हम लोगों ने मिलकर स्वतन्त्रता-आन्दोलन और राष्ट्रीय संगठन का जो प्रचार आरम्भ किया, उसमें बाधा उत्पन्न करने की अधिकाधिक कोशिश दो महाराष्ट्रीय अधिकारी और उनके चार-पाँच सहायक कर रहे थे। ये उपद्रवी जानबूझकर हमारी सभाओं में उपस्थित होते और वाद-विवाद उत्पन्न करते हुए उसे झगड़े की सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न करते। विभिन्न तरीकों से वे स्वतन्त्रता-प्रेमियों के प्रति अन्य लोगों के मनों में विष भरते रहते थे। अधिकार का दुरुपयोग करके वे स्वतन्त्रता-सेना में सम्मिलित होने की इच्छा रखनेवाले अपनी टुकड़ी के लोगों को डाँट-डपटकर शान्त रहने को बाध्य करते।

ये उन लोगों में से थे जो सोचते थे कि भारत पर से कभी अंग्रेजों के राज के हट जाने का समय भी आएगा, इसकी कल्पना भी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार की कल्पना करना उनके गुलामी की जंजीरों में जकड़े हुए मन को कभी भाया ही नहीं। उनका सोचना था कि यदि अंग्रेज ही जीते तो उन्हीं के प्रति निष्ठावान बने रहना ही लाभप्रद रहेगा।

इस प्रकार की स्वार्थभावना से उनके मन कलुषित हो गए थे और इसी कारण से उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि वे आजाद हिन्द फौज में किसी भी प्रकार स्वयं तो सम्मिलित नहीं ही होंगे, और यथाशक्ति अन्य लोगों को भी

उसमें सम्मिलित होने से रोकने का यत्न करेंगे। इस कारण अपने अधीनस्थ लोगों को डाँट-डपटकर स्वातन्त्र्य संग्राम से परे रखना उनका एकमात्र लक्ष्य था।

इस विकृत मन:स्थिति के सिपाही ऊपर से आन्दोलन के समर्थकों से कहा करते थे कि हमारी तो कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि हमें क्या करना चाहिए; आप जिस ओर जाएँगे उसी ओर हमें भी साथ ले लीजिए। उन साहबों में ऐसे भी लोग थे जिन्हें अपनी सम्पत्ति की चिन्ता थी और दो बोल अंग्रेजी के सीख लेने के कारण कलम घिसने की जो गुलामी उन्हें मिली हुई थी उसको बचाए रखने की चिन्ता थी। ऐसे भोले-भाले सिपाहियों को उन्होंने भ्रमित कर अपनी ओर कर लिया था।

सिंगापुर के पतन के पश्चात् जापानियों ने भारतीय युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में एक उपकार्यालय बना लिया था और उसमें युद्धबन्दियों में से ही दो-चार पढ़े-लिखे लोगों को टाइपिस्ट अथवा लिपिक के पद पर नियुक्त कर युद्धबन्दियों के विवरण रखने का काम सौंप दिया था। उनका काम था सारे युद्धबन्दियों की सूची बनाना, कौन-कौन-सी छावनी में कितने युद्धबन्दी हैं, उनमें से कितने रुग्ण हैं और कितने स्वस्थ हैं आदि विवरण रखना, और यदि दुर्भाग्य से किसी की मृत्यु हो जाए तो उसका भी लेखा-जोखा रखना। युद्धबन्दियों के पत्रों को छाँटकर उन्हें उनमें वितरित करना आदि कार्य भी उनको सौंपा गया था।

इन कर्मचारियों में एक बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला लगभग 40 वर्ष की वय का मेजर पद का एक राजपूत अधिकारी था। वह कट्टर अंग्रेज-भक्त था। हर क्षण वह स्वतन्त्रता-आन्दोलन तथा उसके कार्यकर्त्ताओं की निन्दा करता रहता था। उनके विषय में अनर्गल प्रचार करना ही उसका नियमित कार्य हो गया था।

यह राजपूत एक बार श्री भोंसलेजी से कार्य के निमित्त उस बँगले पर आया जहाँ हम रह रहे थे। संयोगवश उस समय श्री भोंसलेजी किसी कार्य में व्यस्त थे। मुझे उससे वार्तालाप करने का अवसर मिला। वार्तालाप के मध्य उसने मुझसे प्रश्न किया, ''क्योंजी! अभी हाल में ही कुछ दिन पूर्व रेडियो पर पंडित जवाहरलाल नेहरू का भाषण प्रसारित हुआ था जिसमें उन्होंने कहा था कि भारत का कोई भी व्यक्ति सुदूरपूर्व के उस स्वतन्त्रता-आन्दोलन का समर्थक नहीं है। क्या आपने यह भाषण सुना था?''

उस व्यक्ति की इस प्रकार की सोच पर मुझे क्रोध के साथ-साथ उस पर दया भी आई। अपने उस क्रोध में ही मैंने उसको उत्तर देते हुए कहा, ''रेडियो पर प्रसारित होनेवाली महत्त्वपूर्ण खबरें हमको मिलती हैं, किन्तु जिस प्रकार के भाषण की आप बात कह रहे हैं, न तो वह मैंने सुना है और न इससे पूर्व किसी

अन्य ने इस विषय में मुझे बताया ही है। दूसरी बात यह है कि पण्डित नेहरू इन दिनों अंग्रेजों के बन्दी हैं। वे अंग्रेजों के हाथ के खिलौने भी नहीं हैं कि जब चाहे उनको बन्दीगृह से निकालकर रेडियो स्टेशन पर ले-जाकर उनके मुख से अंग्रेजों के साथ पक्षपात के विषय में कुछ भी भाषण प्रसारित करवा लें। क्या आपने उनका वह भाषण स्वयं सुना था?"

मैंने जानबूझकर उससे यह प्रश्न किया था। उसने कहा, "मैंने स्वयं तो उनका वह भाषण नहीं सुना था, किन्तु ऐसा सुनने में आ रहा है, इसलिए मैंने उल्लेख किया है। आपको कदाचित् इसका ज्ञान न हो।" यह कहकर उसने एक प्रकार से अपने कथन की पुष्टि कर दी।

अक्टूबर मास में भारतीय स्वतन्त्र सरकार तथा रानी झाँसी रेजीमेंट की नव-स्थापना हो गई। तब एक दिन इन दोनों घटनाओं पर ऊपर उल्लिखित उस राजपूत अधिकारी और उसी के साथ उसके कार्यालय में कार्यरत एक व्यक्ति में क्षीरसागर के मध्य मनोविनोदपूर्वक वार्तालाप चल रहा था। क्षीरसागर ने कहा, "देखिए क्या संयोग है कि 1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध जो रानी लड़ी थी, उसका नाम लक्ष्मीबाई था, वह झाँसी की महारानी थी। और आज जो आजाद हिन्द सेना की रानी झाँसी ब्रिगेड की कमाण्डर हैं, उनका नाम भी लक्ष्मी ही है।"

यह सुनकर उस राजपूत अधिकारी ने कहा, "परन्तु झाँसी की रानी को युद्ध में किसने मारा? आपको यह सब मालूम है?....हमारी हैदराबाद रेजीमेन्ट ने ही उसे मारा था।"

इतना कहने के उपरान्त वह अधिकारी बडे गर्व से अपनी मूँछें ऐंठने लगा। एक भारतीय वीरांगना को जिस भारतीय रेजीमेन्ट ने मारा, उसी रेजीमेन्ट में आज उसका नाम भी लिखा हुआ है—ऐसे दूर के सम्बन्ध से प्रसन्न होनेवाला वह अधिकारी था। अंग्रेजों की भारतीय सेना में ऊँचे पद पर आरूढ़ अधिकारियों की दासवृत्ति का यह उत्तम उदाहरण था। जो घटना भारतीय जन-मानस को लज्जित करती है, भारत के नाम को कलंकित करती है, उसी बात पर वह गर्व अनुभव कर रहा था। वास्तव में चाहिए तो यह था कि जिन मूँछों पर वह ताव दे रहा था, उन्हें वह मुँडवा देता।

कांजी बन्दी छावनी में मेरा एक मित्र रहता था। वह घायल अवस्था में बन्दी बनाया गया था। उसका कुशल-समाचार लेने के लिए एक दिन मैं मोटर-साइकिल से उसके पास गया। उसकी छावनी हमारी छावनी से 12-14 मील की दूरी पर थी। उस मित्र से मिलने के बाद मैं वहाँ के अन्य महाराष्ट्रीय और बंगाली डॉक्टर मित्रों से भी मिलने के लिए गया। सामान्यतया जिस दिन मैं वहाँ जाता था,

उनके आग्रह पर रात्रि का भोजन वहीं करता था।

उन सबको ज्ञात था कि मैं आजाद हिन्द फौज में हूँ और नेताजी तथा कर्नल भोंसले के काफी निकट हूँ। अतः वे लोग मुझसे बातें करने और बातें जानने में रुचि रखते थे। उस दिन एक बंगाली व्यक्ति ने कुछ सन्देहास्पद स्थिाति में कहा, ''जो व्यक्ति नेताजी सुभाषचन्द्र बोस बनकर यहाँ आया है, वह क्या वास्तव में ही सुभाषचन्द्र बोस है, अथवा वह कोई नकली व्यक्ति नहीं हो सकता? वह वास्तव में ही सुभाष है, इसका क्या प्रमाण है?''

उसी के समीप बैठे उसके मित्र ने कहा, ''बाहर से देखने में तो वह सुभाषचन्द्र बोस जैसे ही लगते हैं, किन्तु उनके स्वभाव में बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। अब वह भारत का पहले जैसा सुभाष नहीं रहा है।''

इस पर एक अन्य व्यक्ति कहने लगा, ''जापान जैसे फासिस्ट देश से उनको अपने सम्बन्ध स्थापित नहीं करने चाहिए थे।''

उसी छावनी के महाराष्ट्रीय डॉक्टर कहने लगे, ''सुभाषचन्द्र जी यदि जापानियों से किंचित् सहायता और सहयोग न लें, तब तो हम उनके आन्दोलन में सम्मिलित हो सकते हैं, अन्यथा नहीं होंगे।''

इस प्रकार के इन सबके विचार थे। यही महाराष्ट्रियन डॉक्टर युद्ध समाप्त होने के उपरान्त अंग्रेजों की जीत को अपनी ही जीत मानकर एक दिन मुझसे कहने लगे, ''देखा, मैंने आपको पहले ही कहा था कि आप लोग गलती कर रहे हैं!'' यह कहते हुए बड़े गर्व से वे मेरे सामने से आगे को निकल गए।

छावनी के मुख्य अधिकारी तथा उनके अधीनस्थ अधिकारियों को ऐसा लगता था कि नेताजी सुभाषचन्द्र का भाषण सुनकर और उससे प्रभावित होकर हमारी छावनी से बहुत अधिक लोग यदि उनके आन्दोलन में सम्मिलित हो गए तो ऐसा माना जाएगा कि हममें ही कुछ कमी थी, जो हम उनको स्थिर नहीं रख पाए। हम पर यह दोषारोपण होगा, यह विचार कर उन अधिकारियों ने अपने अधीनस्थ विश्वासपात्र अधिकारियों को नेताजी के भाषण से एक दिन पूर्व पूरी छावनी में विभिन्न गुटों में भेजकर स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित होनेवाले सैनिकों की नामावलि तैयार करवा ली। परिणामस्वरूप केवल उन लोगों को ही भाषणवाले दिन विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कार्यों में नियोजित करवा दिया।

इस प्रकार जिस किसी भी प्रकार से उनको स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित होने से विरत करने के उन्होंने यथाशक्ति प्रयत्न किये। जिनके विषय में उनको ज्ञात था कि चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए ये लोग स्वतन्त्रता सेना में किसी भी प्रकार सम्मिलित नहीं होंगे, केवल उन्हीं लोगों को भाषण सुनने के लिए

छावनियों में रहने दिया। अंग्रेज-भक्त सभी अधिकारियों ने इस प्रकार के उपाय काम में लिये।

अक्टूबर की 11 और 12 तारीख को सिंगापुर की विभिन्न बन्दी छावनियों में नेताजी के भाषण आयोजित किए गए थे। हर छावनी के दस-बारह हजार लोग उनके भाषणों में एकत्रित होते थे। नेताजी दो-दो ढाई-ढाई घंटे तक वहाँ पर भाषण देते। उस समय वहाँ का वातावरण ही भिन्न हो जाता था। लाउडस्पीकरों के अभाव में भी नेताजी की बुलन्द आवाद सभी श्रोताओं को भली प्रकार सुनाई देती थी। सारा कार्यक्रम शान्त और सौहार्द्र के वातावरण में सम्पन्न होता था। कहीं से किसी की विपरीत ध्वनि नहीं सुनार्द देती थी।

ऐसे समारोहों में न तो नेताजी को हार ही पहनाए जाते थे और न उनका जय-जयकार ही होता था, क्योंकि वहाँ पर तो जमघट ही अंग्रेजपरस्त देशद्रोहियों का लगा होता था। ये ऐसे चिकने घड़े थे जिनपर पानी टिक ही नहीं सकता था। उन पर देशभक्ति का कोई प्रभाव होना सम्भव नहीं था। इन लोगों के मन में अंग्रेजों और उनके पिट्ठुओं ने इतना विष भर दिया था कि उनको स्वाधीनता का अर्थ और अभिप्राय ही स्पष्ट नहीं होता था। वे अपने पूर्व-इतिहास और अपने पूर्वजों से पृथक् कर दिए गए थे।

नेताजी के भाषण के समय उनके साथ भारतीय स्वतन्त्रता सेना के सात-आठ वरिष्ठ अधिकारी भी होते थे। नेताजी के भाषण के बाद जो युद्धबन्दी आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित होना चाहते थे, उन्हें वहाँ से तुरन्त ले-जाने के लिए सेना के प्रचार-विभाग के सैनिक तथा उनकी मोटरगाड़ियाँ तैयार खड़ी रहती थीं।

युद्धबन्दियों को सम्बोधित करते हुए नेताजी कहते, "अब ऐसा समय आ गया है कि आप लोगों में से प्रत्येक को अपना कोई एक विचार दृढ़ कर लेना चाहिए। अपनी स्वतन्त्रता वापस पाने का यह जो एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है, वैसा अवसर बार-बार नहीं आता। इसलिए आप लोगों को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए। हमने अपना कार्यक्रम निर्धारित कर लिया है। वह यह कि यह वर्ष समाप्त होते-होते अर्थात् 31 दिसम्बर 1943 से पहले-पहले हम भारत-भूमि पर अपना पग रख लेंगे। 'दिल्ली चलो'—बस यही एक हमारा घोष है। दिल्ली पर अधिकार करने के लिए, भारत की स्वतन्त्रता भारत के विश्वस्त नेताओं को सौंपने के उपरान्त आजाद हिन्द फौज का कार्य पूर्ण हो जाएगा। उसके बाद यह सेना अपने अधीन कोई भी कार्य नहीं रखेगी।''

''इस देशभक्ति और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कार्य में यदि आप लोग सम्मिलित होना चाहें तो हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। जो कोई भी आजाद हिन्द फौज

में सम्मिलित होना चाहे, मेरे भाषण के बाद उसको ले-जाने के लिए हमारी मोटर-गाड़ियाँ यहाँ पर तैयार खड़ी हैं। इसके बाद भी आप लोगों ने, सभी ने यह निश्चय कर लिया हो कि हमें किसी भी प्रकार से सहयोग नहीं देंगे, तो भी हमारा कार्य इससे रुकनेवाला नहीं है।....

''हमारा कार्य तो निरन्तर चलता ही रहेगा। परन्तु आप लोगों में से कुछ लोगों ने दोनों नावों पर सवार रहने का निश्चय किया हो तो, उसके लिए हम आपको समय पर जाग्रत करना कर्त्तव्य समझकर आपको यह अवसर प्रदान कर रहे हैं। चाहे किसी की जीत हो अथवा किसी की हार हो, हमें उससे क्या! हम तो दोनों से विलग खड़े हैं और इससे हर स्थिति में हमें लाभ ही लाभ है—ऐसी कुछ लोगों की धारणा है।....

''यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि यदि अंग्रेज युद्ध जीत गए तो उन्हें राजनिष्ठ मानकर उनकी सम्पत्ति तथा नौकरी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होगी। इसके विपरीत यदि आजाद हिन्द फौज की जीत हुई तो भारतीय होने के कारण उन्हें भारत में आने दिया जाएगा, और स्वतन्त्र भारत की सम्पन्नता में वे भी लाभ के उतने ही भागी होंगे जितने कि आजाद हिन्द फौज में काम करनेवाले।....

''जो लोग इस प्रकार के विचार रखते हैं, वे बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं। हम उन्हें यह बात बताना चाहेंगे कि उनका यह दोगला व्यवहार जानकर उनका क्या किया जाएगा, इस विषय में हमने पहले से ही विचार कर लिया है। देशद्रोही लोगों को शीघ्रताशीघ्र सीमा-पार न खदेड़कर उन्हें अपने पास ही रहने देने की जो बहुत बड़ी भूल हमारे पूर्वजों ने समय-समय पर की थी, उसका यह दुष्परिणाम है कि आज हमारा देश दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ है।....

''इस भूल की अब पुनरावृत्ति कभी भी नहीं होने देंगे। ऐसे दोगले लोगों के विषय में यदि बड़ी सहानुभूति से हमें विचार करना पड़ ही जाएगा तो अधिक से अधिक हम यही करेंगे कि उनके लिए इंग्लैंड का तीसरी श्रेणी का टिकट कटाकर उनके हाथ में दे देंगे। भारत में ऐसे लोगों के लिए कोई स्थान नहीं होगा....''

सिंगापुर की विभिन्न छावनियों में नेताजी के इस प्रकार के भाषणों का प्रभाव यह हुआ कि लगभग डेढ़ हजार बन्दी सैनिक आजाद हिन्द सेना में सम्मिलित हो गए। अधिक सैनिकों के सम्मिलित न हो सकने का मुख्य कारण हम इससे पूर्व में स्पष्ट कर आए हैं कि विरोधी पक्ष ने जानबूझकर उन्हें नेताजी के भाषण से वंचित कर दिया था।

इनके साथ भी कुछ विचित्र-सी घटनाएँ होती रहीं। कुछ युद्धबन्दियों की टुकड़ियाँ छोटी छावनियों में अलग-अलग रखी जाती थीं। उनको जापानियों द्वारा कुछ विशेष कार्य नियमित रूप से सौंपा हुआ था। जैसे सिंगापुर द्वीप में ही सिंगापुर नगर से अंग्रेजों के समय की पाँच-सात कमरेवाली 'मैक आर्थर कप' नामक एक छावनी थी। यहाँ पर उन लोगों को एकत्रित करके रखा गया था जो मोटरकारों की देखभाल और मरम्मत में निपुण थे। इन टुकडियों को पच्चीस-तीस मोटरगाड़ियाँ सौंपकर पेट्रोल के पीपे लाने और उनको आवश्यक स्थानों पर पहुँचाने का काम सौंपा गया था। उनके स्वास्थ्य की देखभाल के लिए एक महाराष्ट्रियन डॉक्टर नियुक्त थे। इस टुकड़ी में से कोई भी व्यक्ति आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित न होने पाए, इस प्रकार का जापानियों का एक अलिखित-जैसा आदेश दिया गया था।

क्योंकि, वे जानते थे कि यदि इस टुकड़ी में से कुछ लोग टूटकर उधर चले गए तो उनके लिए पेट्रोल लाने और उसे पहुँचाने के काम में बहुत बड़ी रुकावट आ जाएगी। उन महाराष्ट्रियन डॉक्टर के साथ मेरे मैत्री सम्बन्ध होने के कारण हम सामान्यतया मिलते रहते थे। उनका उलाहना होता था कि हम उन्हें अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत सेना में सम्मिलित नहीं करते। उनके ऐसा उलाहना देने पर मैं उनके आवेदनपत्र लेकर कर्नल भोंसले तथा नेताजी के पास गया था। कर्नल भोंसले और नेताजी ने उन डॉक्टर को उनके काम से मुक्त कर आजाद हिन्द सेना में सम्मिलित होने देने के लिए 'हिकारी किकान' को आग्रह किया, क्योंकि बिना उनकी अनुमति के उनको वहाँ से हटाया नहीं जा सकता था। यदि ऐसा किया जाता तो 'हिकारी किकान' के अधिकारी रुष्ट हो जाते। किन्तु, 'हिकारी किकान' ने सदा ही टालमटोल की और समय को निकलने दिया। परिणामस्वरूप वे आजाद हिन्द सेना में सम्मिलित नहीं हो पाए।

जिन दिनों विभिन्न छावनियों में नेताजी के भाषण हो रहे थे, इन छोटी-छोटी टुकड़ियों के सैनिकों ने जापानी अधिकारियों से निवेदन किया कि उन्हें समीप में जहाँ कहीं भी नेताजी का भाषण होनेवाला हो वहाँ जाकर उसे सुनने की अनुमति दी जाय। कुछ लोगों को यह अनुमति मिल गई।

नेताजी के भाषण से प्रभावित होकर जब ये लोग अपनी छावनी में आकर अपना सामान लेकर सेना में सम्मिलित होने के लिए जाने लगे तो जापानी अधिकारियों ने उनको रोक दिया। इस प्रकार उन लोगों की स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सहयोग करने की इच्छा होते हुए भी जापानियों ने उनको अपने अधिकार में एक प्रकार से बन्दी-सा बनाए रखा और उन्हें सम्मिलित होने से रोके रखा।

आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों को समझाने के लिए ये जापानी अधिकारी कहा करते थे, "देखिये, आपका और हमारा उद्देश्य तो एक ही है। इन्होंने आपकी सेना में सम्मिलित होकर काम किया अथवा यहाँ रहकर हमारा काम किया, बात तो एक ही है। इससे क्या अन्तर पड़ता है! उद्देश्य एक होने से वह किसके द्वारा सिद्ध हो रहा है इसकी चिन्ता करने की हम आवश्यकता नहीं समझते।"

जापानियों की इस कुटिल चाल को हम समझते न हों ऐसी बात नहीं थी। परन्तु जब किसी को कोई बड़ा उद्देश्य साधना होता है तो इस प्रकार की छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा करनी ही पड़ जाती है। जब अन्य किसी से कार्य साधना होता है तो थोड़ी समझदारी दिखानी पड़ती है और उसकी इच्छा के अनुसार ही काम करना पड़ता है।

बन्दी होने के कारण इस टुकड़ी के सदस्यों को जो पैसा मिलता था उसमें से थोड़ा-थोड़ा पैसा जमा करके वे लोग प्रतिमास नियमपूर्वक स्वतन्त्रता संघ को भेज दिया करते थे। आगे कुछ समय के बाद जब यह स्पष्ट होने लगा कि जापान की पराजय निश्चित है, उस समय भी ये लोग आजाद हिन्द फौज में आने के लिए उत्सुक थे।

ऐसी ही एक अन्य टुकड़ी भी थी जिसको जापानियों ने उसी प्रकार अलग रखा हुआ था। उस टुकड़ी के सैनिक समीप की बड़ी छावनी में होनेवाले नेताजी के भाषण को सुनने के लिए वहाँ गए थे। नेताजी का भाषण सुनने के उपरान्त उनमें से तेईस लोग आजाद हिन्द सेना में सम्मिलित होना चाहते थे। अपना सामान ले-जाने के लिए जब ये लोग अपनी छोटी छावनी में वापस आए तो किसी प्रकार अंग्रेजों के पिट्ठू एक भारतीय हवलदार को इसकी भनक मिल गई। उसने अपने सहायकों की सहायता से इन सैनिकों की पहले तो मारपीट करके खूब धुनाई की और फिर उनको बन्दी बनाकर रख दिया।

जब आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने उन सबको उनकी कैद से मुक्त कराया और अपनी सेना में सम्मिलित कर लिया। जापानियों ने इन लोगों को जाने से रोका नहीं, क्योंकि ये लोग केवल मजदूरी ही करते थे। यह काम वे अन्य युद्धबन्दियों में से किसी से भी करा सकते थे।

नेताजी की यह ओजस्वी भाषणमाला प्रायः सिंगापुर-स्थित छावनियों में आयोजित हो पाई थी। अन्य अनेक टुकड़ियों को आवश्यकता पड़ने पर जापानी अधिकारी सिंगापुर से इण्डोचाइना, बोर्नियो, न्यूगिनी, पोर्चुगीज, टिमोर, स्याम इत्यादि दूर के प्रदेशों में ले गए थे तथा उन दिनों इधर-उधर दूर तक फैली इन

टुकड़ियों से पत्र-व्यवहार आदि करना भी सम्भव नहीं था। यदि सम्भव होता भी तो उससे कुछ अधिक प्राप्त होनेवाला भी नहीं था। क्योंकि उन लोगों को उनका वह बन्दी जीवन भाने लग गया था। किसी दूर के प्रदेश में ले-जाए गए एक भारतीय अधिकारी को किसी द्वारा सुझाव देने पर हमने जापानियों की सहायता से उसको सिंगापुर में बुलवाया। उससे बातचीत की गई तो उसने आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित होना स्वीकार ही नहीं किया। तब जापानियों ने उसको फिर स्थानबद्ध कर लिया।

जिन दिनों मैं सिंगापुर की एक बन्दी छावनी में था, उन दिनों मेरे अच्छे परिचित एक बड़े सिख अधिकारी को जापानियों ने बन्दी बनाकर कारागार में डाला हुआ था। उसको सामान्य बन्दी जैसी ही वेशभूषा दी हुई थी। हाथों-पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं। भोजन ठीक प्रकार से न मिलने के कारण उसका चेहरा ऐसा सिकुड़ गया था कि देखकर डर-सा लगता था। उसे एक छोटे-से कमरे में रखा गया था, जिसका द्वार मोटी सलाखों से बन्द होता था।

किसी ने जनरल भोंसले को कहा कि उससे यदि बात की जाय तो कदाचित् वह भी आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो जाय। जनरल भोंसले ने जापानी अधिकारियों से कहकर उसको मुक्त कराया। जब उसको मुक्त किया गया और वह कारागार के द्वार के बाहर आया तो उसको कुछ विचित्र-सी अनुभूति होने लगी, क्योंकि बन्दियों को कभी बाहर ले-जाया ही नहीं जाता था।

वह समझ ही नहीं सका कि आज अचानक यह द्वार कैसे खुला और उसे बाहर किस प्रकार लाया गया। न जाने भाग्य में और क्या लिखा होगा! इस प्रकार के प्रश्न उसके मन में कौंधने लगे। उस दिन वह मुक्त होनेवाला है, इसका उसको कुछ भान नहीं था। परेशानी में उसने मुझसे पूछा, "ये लोग मुझे कहाँ ले-जा रहे हैं ?"

उसके नेत्रों में आँसू छलक आए थे।

मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, "डरने की कोई बात नहीं है। आपको यहाँ से मुक्त कराने के लिए ही मैं आया हूँ।"

बाहर निकलकर कार्यालय में आने पर जब थोड़ी देर बाद उसका बक्सा लाकर उसको दिया गया, तब उसको मेरे कहने का अभिप्राय समझ में आया।

उसने बन्दियों के वस्त्र उतारकर अपने पुराने वस्त्र पहने और फिर मोटर में सवार होकर हम वहाँ से चल पड़े। आजाद हिन्द फौज के एक बड़े सिख अधिकारी के घर पर उसके ठहरने की व्यवस्था की गई थी। वहाँ पहुँचने के उपरान्त जब वातावरण कुछ शान्त हुआ और उससे आजाद हिन्द फौज में

सम्मिलित होने के लिए कहा गया तो उसने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया।

उस दिन जहाँ-जहाँ नेताजी का भाषण हुआ, वहाँ सब स्थानों पर युद्धबन्दियों को आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित होने का अन्तिम अवसर दिया गया था। किन्तु अवसर का लाभ उठानेवाले केवल वे डेढ़ हजार सैनिक ही थे जिनका उल्लेख हम आरम्भ में कर आए हैं।

इससे पूर्व युद्धबन्दियों में से लगभग 18,500 लोग आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो गए थे और अब इन डेढ़ हजार लोगों को मिलाकर कुल 20,000 युद्धबन्दी ही आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हुए थे।

सिंगापुर के पतन के उपरान्त लगभग साठ हजार भारतीय युद्धबन्दी जापानियों के अधिकार में थे। उनमें से चालीस हजार बन्दियों ने अन्त तक बन्दी बनकर रहना ही स्वीकार किया। इन चालीस हजार बन्दियों में अधिकारी-वर्ग को छोड़ दिया जाय तो अवशिष्ट निम्न स्तर के लोग निश्चित ही आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो गए होते, किन्तु अंग्रेजों के पिट्ठू अधिकारियों ने उन्हें किसी प्रकार सम्मिलित नहीं होने दिया।

अध्याय सत्रह

भारतीय स्वातन्त्र्य सरकार की स्थापना

हम पहले बता आए हैं कि 21 अक्टूबर 1943 को सिंगापुर के सुदूरपूर्व में स्थित सब भारतीय प्रतिनिधियों का एक महासम्मेलन आयोजित किया गया है; इसकी सूचना तथा निमन्त्रणपत्र सर्वत्र भेजे जा चुके थे। तदनुसार विभिन्न स्थानों से भारतीय प्रतिनिधि सिंगापुर में एकत्रित हुए। श्री रासबिहारी का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वे नहीं आ सके।

समारोह-स्थल पर ही नहीं, सारे सिंगापुर में उस दिन उत्साह की लहर दिखाई दे रही थी। स्वयंसेवकों की भर्ती तथा सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र आरम्भ होने के कारण दिन-प्रतिदिन आजाद हिन्द फौज के सैनिकों की संख्या बढ़ती जा रही थी।

समारोह के दिन प्रातःकाल से ही अधिकारियों-सहित सब स्थानों से समागत प्रतिनिधि निश्चित स्थान पर एकत्रित हो गए। परिषद् के प्रातःकालीन अधिवेशन में नेताजी ने उस समय तक के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के विषय में विस्तार से बताया तथा उसके साथ ही उन्होंने यह भी संकेत दिया कि इस आन्दोलन के लिए अब अगला खतरे का मोड़ आनेवाला है। उन्होंने सावधान किया—अब हमें खतरों से खेलना है!

उस दिन भारत की स्वतन्त्र सरकार की भी घोषणा होनेवाली है—यह सूचना सिंगापुर के सामान्य नागरिकों और विशेषतया समाचारपत्र-समूहों को हो गई थी। मध्याह्नोत्तर 4 बजे जो द्वितीय सत्र आरम्भ होनेवाला था, उसमें वह घोषणा होगी ऐसा निश्चय था। घोषणा का विवरण हमें पहले से प्राप्त हो जाए—इस उद्देश्य से समाचारपत्र-समूहों के प्रतिनिधि तथा उनके फोटोग्राफर आदि नेताजी, जनरल भोंसले इत्यादि बड़े अधिकारियों के बँगलों के बाहर एक प्रकार से धरना जैसा देकर बैठे हुए थे। परन्तु दुर्भाग्य से उनको घोषणा से पूर्व किसी प्रकार की सूचना मिल ही नहीं पाई। घोषणा होने तक यह विषय नितान्त गुप्त ही

रहा। किसी को भी कानोंकान खबर नहीं हुई।

निर्धारित कार्यक्रमानुसार ठीक चार बजे परिषद् का द्वितीय सत्र आरम्भ हुआ। मंच पर सामने की ओर एक मेज रखी थी। उसके पीछे दो कुर्सियाँ रखी थीं। उसके समीप ध्वनिविस्तारक यन्त्र रखा था। उसके पिछली ओर एक पंक्ति में लगभग पन्द्रह-सोलह कुर्सियाँ रखी हुई थीं।

सभागृह का वातावरण शान्त और निश्चल था। सर्वत्र गम्भीरता का साम्राज्य था। परिषद् की उपस्थिति और स्वरूप को देखकर सबके मन में एक ही बात आ रही थी कि यह समारोह अभूतपूर्व है।

यथासमय नेताजी पधारे। सभागृह के बाहर उनका स्वागत-सत्कार किया गया और जनरल यामामाटो के साथ वे भीतर पधारे। मेज के पीछे रखी दोनों कुर्सियों पर वे विराजमान हो गए। नेताजी के सामने दाहिनी ओर भारतीय स्वातन्त्र्य सेना के अधिकारी तथा बाईं ओर प्रतिष्ठित भारतीय नागरिक प्रतिनिधि बैठे हुए थे।

उस दिन कार्यवाही के सूचना-पत्रक स्वयंसेवकों ने सभागार में पहले ही वितरित कर दिए थे। ठीक चार बजे नेताजी ध्वनि-विस्तारक यन्त्र के सम्मुख खड़े हुए और उन्होंने भारत की स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी। सारा वातावरण तालियों से गूँज उठा।

कुछ मिनट बाद जब तालियाँ थम गईं तब मन्त्रिमण्डल तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियों की इस प्रकार की घोषणा की गई—

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस—भारतीय स्वतन्त्र सरकार के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, युद्धमंत्री, परराष्ट्रमन्त्री, तथा आजाद हिन्द फौज के प्रमुख सेनापति।

डॉ० लक्ष्मी—महिला मण्डल मन्त्री।

एस०ए०अय्यर—प्रचार तथा प्रसिद्धि मन्त्री।

ले०के० ए०सी० चटर्जी—अर्थ मन्त्री।

इस मन्त्रिमण्डल के अतिरिक्त आजाद हिन्द फौज के निम्नलिखित आठ प्रमुख प्रतिनिधि भी नियुक्त हुए थे—ले०क० भोंसले, ले०क० अजीज अहमद, ले०क० भगत, ले०क० गुलजारा सिंह, ले०क० एम०जेड० क्यानी, ले०क० ए०डी० लोकनाथन, ले०क० एहसान कादर, ले०क० शाहनवाज।

श्री आनन्दमोहन सहाय को इस मन्त्रिमण्डल का सचिव घोषित किया गया। उन्हें मन्त्री की श्रेणी में रखा गया था। के० रासबिहारी बोस वरिष्ठ परामर्शदाता तथा सर्वश्री एम० करीम गनी, देवनाथ दास, ईश्वरसिंह, डी०एम० खान, येलप्पा और थिवि को भी परामर्शदाताओं की श्रेणी में रखा गया तथा

इसके साथ ही ए० एन० खान सरकार के विधि-परामर्शदाता नियुक्त किये गए।

ऊपर जिन व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है, उनका संक्षिप्त परिचय देना उपयुक्त होगा।

1. डॉ० लक्ष्मी ने मद्रास विद्यापीठ से एम०बी०बी०एस० करने के उपरान्त सिंगापुर में चिकित्सक के रूप में कार्य करते हुए ख्याति अर्जित की। वे सुन्दर, हँसमुख, मिलनसार स्वभाव की ठिगने कद की युवती, उत्साह से परिपूर्ण, कोई भी साहसिक कार्य करने के लिए सदैव उद्यत आदि गुणों के कारण वहाँ पर बहुत ही लोकप्रिय हो गई थीं।

2. श्री एस०ए० अय्यर लगभग चालीस वर्ष की आयुवाले मलय, स्याम आदि भागों में **'रायटर'** समाचार-समूह के प्रतिनिधि के रूप में अनेक वर्षों तक कार्यरत रहे थे। मुम्बई, पूना आदि नगरों में रहने के कारण उन्हें मराठी भाषा का भी अच्छा अभ्यास था। मद्रासी ब्राह्मण होने के कारण वे शाकाहारी थे। परन्तु जिस दिन भारत की स्वतन्त्र सरकार की घोषणा हुई, उसके दूसरे दिन जो सहभोज हुआ उसमें वे नेताजी के सामने ही बैठे थे। जो भोजन परोसा गया उसमें से मांसाहारी पदार्थों को छोड़कर जो शाकाहार वे खा सकते थे खा रहे थे कि नेताजी की दृष्टि उन पर पड़ गई। तब उन्होंने कहा, ''अय्यर साहब! ये तो क्रान्ति के दिन हैं।'' नेताजी का आशय समझकर अय्यर ने तली मछली का एक टुकड़ा उठाया और किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से उसे उन्होंने गले के नीचे उतारा। उसके बाद धीरे-धीरे उन्होंने इसका अभ्यास कर लिया था। स्वतन्त्र सरकार में जो विभाग उनको सौंपा गया था वह उसके लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे—बड़े मिलनसार और शान्त स्वभाववाले।

मन्त्रिमण्डल में जो आठ सैनिक प्रतिनिधि थे उनमें से ले०क० जगन्नाथराव भोंसले ही अकेले व्यक्ति थे जो 'सैंडर्स्ट' नामक अत्युच्च सैनिक प्रशिक्षण कॉलेज से प्रशिक्षण-प्राप्त उच्च अधिकारी थे। सुदूरपूर्व में स्थित सब भारतीय अधिकारियों में उनकी श्रेणी के केवल तीन-चार ही अन्य व्यक्ति होंगे। वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो अंग्रेज़ों के समय तक ले०क० के पद तक पहुँच पाए थे। अन्य सात अधिकारियों ने आजाद हिन्द सेना में ही विभिन्न अवसरों पर उच्च सैनिक पद प्राप्त किये थे।

ले०क० भोंसले नेताजी के सिंगापुर आने से पहले से ही आजाद हिन्द फौज के प्रमुख थे, इसलिए उन्होंने स्वयं ही अपना पद बढ़ाने के विषय में कभी नहीं सोचा था। यद्यपि जापानी अधिकारी उनसे कहते रहते थे कि यदि आप अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करते हैं तो स्वयं भी ले०ज० का

पद यदि स्वीकार कर लें तो इसमें कुछ भी अनुचित नहीं होगा। किन्तु भोंसले जी की सद्बुद्धि को यह आत्मोन्नति स्वीकार नहीं थी।

श्री ए०सी० चटर्जी अनेक उपाधियों से विभूषित डॉक्टर थे। अंग्रेजों द्वारा निर्मित भारतीय सेना के डॉक्टरों के विभाग में सिंगापुर के पतन के समय तक ले०क० के पद तक पहुँचे थे। स्वतन्त्रता-आन्दोलन में कर्नल मोहनसिंह के समय से ही सम्मिलित थे। पहले से ही वे भारतीय स्वतन्त्रता संघ के उच्चाधिकारी के रूप में कार्य कर रहे थे। तब से उनका सेना से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। भारतीय स्वतन्त्रता संघ के मुखिया होने के कारण उन्हें पैसों के लेन-देन का विभाग भी देखना पड़ता था। स्वतन्त्र सरकार की स्थापना होने तक इस विषय में उनको पर्याप्त अनुभव हो गया था।

श्री आनन्दमोहन सहाय अनेक वर्षों से जापान में रह रहे थे। भारत में श्री राजेन्द्रप्रसाद के साथ कुछ दिन तथा बाद में जापान में श्री रासबिहारी बोस के साथ काम करने का उन्हें अवसर प्राप्त हुआ था। चीन, जापान आदि देशों में स्थित भारतीय जनों की राष्ट्रीय संस्था का भी उन्होंने गठन किया था। इन देशों के लोगों को भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का कुछ ज्ञान हो सके, इस निमित्त उन्होंने एक पुस्तिका भी अंग्रेजी में लिखी थी।

श्री करीम गनी ब्रह्मदेश में व्यापार करते थे। श्री देवनाथ दास अनेक वर्षों से जापान में रहकर व्यापार करते रहे थे। ये के० रासबिहारी बोस और श्री आनन्दमोहन सहाय के सहयोगी थे।

श्री ईश्वरसिंह सिख थे और स्याम की राजधानी में अनेक वर्षों से कपड़े का व्यापार करते हुए काफी धन कमाया था। श्री डी०एम० खान पठान थे और अनेक वर्षों से हांगकांग में रह रहे थे। श्री रासबिहारी बोस के वे विश्वस्त व्यक्ति थे। श्री येलप्पा तमिलभाषी बैरिस्टर थे और सिंगापुर में वकालत करते थे। बाद में वे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के कार्य से ब्रह्मदेश गए थे, किन्तु युद्ध की चपेट में आ गए और वहीं उनका देहान्त हुआ। श्री थिवी भी बैरिस्टर थे तथा मलय के ईपो नगर में वकालत करते थे। सुदूरपूर्व में युद्ध आरम्भ होने से पूर्व वे अवकाश लेकर अपने जामाता से मिलने के लिए गए थे कि तभी अचानक युद्ध छिड़ गया, इस कारण उनको वहीं पर रुक जाना पड़ा। अपनी कई वर्षों की पेंशन तक आई नौकरी की परवाह न करते हुए श्री सरकार भी स्वतन्त्रता-आन्दोलन के अंग बन गए। वे बहुत ही मृदु स्वभाव के थे तथा उन्हें अपने विषय में किंचित् भी गर्व नहीं था, यह उनके स्वभाव की विशेषता थी।

श्री रासबिहारी बोस को छोड़कर ऊपर जिन अन्य महानुभावों का उल्लेख

किया गया है, वे सभी व्यक्ति भारत की स्वतन्त्रता सरकार की घोषणा के साथ वहाँ पर उपस्थित थे। सबके नाम घोषित कर दिए जाने पर राष्ट्रपति के रूप में सबसे पहले नेताजी ने शपथ ग्रहण की। शपथ का प्रारूप हिन्दी में था जो कुछ इस प्रकार था—''मैं खुदा का नाम लेकर यह पवित्र कसम उठाता हूँ....''

मात्र नेताजी ने ही शपथ का कागज हाथ में लेकर यह शपथ ली थी—''ईश्वर को साक्षी मानकर मैं सुभाषचन्द्र बोस ऐसी पवित्र शपथ लेता हूँ (प्रतिज्ञा करता हूँ) कि हिन्दुस्तान तथा अड़तीस करोड़ भारतीय प्रजा को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए स्वतन्त्रता का यह आन्दोलन मैं अपने जीवन के अन्त तक चालू रखूँगा। सदा-सदा के लिए भारतभूमि का सेवक रहकर अड़तीस करोड़ भारतीय भाई-बहनों के हित ध्यान में रखना यही मेरा सबसे बड़ा कर्त्तव्य है, ऐसा मैं समझूँगा।''

शपथ ग्रहण करते समय नेताजी का गला भर आया था। 'हिन्दुस्थान तथा अड़तीस करोड़ भारतीय प्रजा' इन शब्दों का उच्चारण करते ही भारतीयों की दासता की दयनीय स्थिति का उनकी आँखों के सामने चित्र उभर आया तथा उस कल्पना से उनका हृदय भर आया था। उनकी आँखों से अश्रुधार बह रही थी। पूरी भरी सभा ने यह सब देखा। उसके कारण उनका गला भर आया और मुख से आवाज नहीं निकल पाई। शपथ ग्रहण करते समय ही उनका हृदय भर जाने के कारण तथा आँसुओं की बाढ़ के रुकने तक उनको ठहरना पड़ा। उन्होंने अपनी ब्रिचेज़ की दाएँ जेब से रूमाल निकाला और उससे आँसू पोंछे। शपथ का कागज उनके बाएँ हाथ में ही पकड़ा हुआ था। उनकी दृष्टि उसी पर केन्द्रित थी।

गति-अवरोध के वे दस-पन्द्रह क्षण रहे होंगे, परन्तु नेताजी के मन को उस समय जो भयंकर पीड़ा हो रही थी उसके कारण वे दस-पन्द्रह क्षण लोगों को युगों के समान लगे। नेताजी के दु:खों की बाढ़ ढलकर कब वो अपनी शपथ पूरी कर सकेंगे, लोग ऐसा अनुभव लगाने लगे थे। महान् दु:ख से पीड़ित उनके चेहरे पर कोई भी दृष्टि नहीं डाल पा रहा था। उन्होंने भी शपथ-पत्र पर से अपनी दृष्टि को हटने नहीं दिया। कुछ क्षणों के लिए अपनी सुध-बुध भूलकर स्वतन्त्र भारत का उज्ज्वल इतिहास तथा दास भारत का चारों ओर से पतन, कदाचित् ये दोनों ही दृश्य उनके हृदय-पटल पर उभर आए होंगे।

जनरल यामामाटो उनके समीप ही बैठे हुए थे। उन्होंने जब नेताजी को इतना भाव-विह्वल होते देखा और भारतदेश के प्रति उनके प्रेम एवं भक्ति को अनुभव किया तो उनका भी साहस नहीं हुआ कि वे उनकी ओर आँख भर कर देख सकें। सभा में चारों ओर शान्ति का सन्नाटा-सा छाया हुआ था।

पत्थर भी पिघल जाए ऐसा वह पल था। रूमाल से आँखें पोंछकर नेताजी ने रूमाल को जेब में रखा, स्वस्थ होकर उन्होंने अपनी शपथ पूर्ण की।

नेताजी द्वारा शपथ पूर्ण कर लेने के उपरान्त क्रमानुसार भारत की स्वतन्त्र सरकार के अन्यान्य मन्त्रियों ने एक-एक कर मंच पर आकर शपथ ग्रहण की। प्रत्येक व्यक्ति शपथ ग्रहण करने के उपरान्त नेताजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता और नेताजी उससे हाथ मिलाकर उसे विदा करते।

शपथ-ग्रहण-विधि सम्पन्न होने के उपरान्त नेताजी ने निम्नलिखित घोषणा पढ़कर सुनाई—

"सन् 1757 ईसवी में अंग्रेजों ने भारतवासियों को पहली बार बंगाल में पराजित करने के उपरान्त अगले सौ वर्षों तक उनके साथ भारतीयों का निरन्तर युद्ध चलता ही रहा था जिसमें अनेक बड़ी भिड़न्त भी होती रही थीं।"

"उस कालखण्ड के इतिहास में अद्वितीय पराक्रम तथा स्वार्थत्याग के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। इस प्रकार के युद्धों में बंगाल के सिराजुद्दौला, मोहनलाल तथा दक्षिण भारत के हैदरअली, टीपू सुल्तान और वेलु तम्बी, महाराष्ट्र के अप्पा साहब भोंसले तथा बाजीराव पेशवा, अवध की बेगमें, पंजाब के शामसिंह अटारीवाला, और आखिर के समय में किन्तु उतने ही वीर एवं उल्लेखनीय व्यक्तियों में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, महाराज कुँअरसिंह तथा नाना साहब आदि के नाम सदा-सदा के लिए स्वर्णाक्षरों में अंकित हो गए हैं।"

"दुर्भाग्य से हमारे पूर्वज इस बात को भली प्रकार से समझ नहीं पाए अथवा यह कहें कि अंग्रेजों को समझने में उनसे भूल हुई कि अंग्रेज वह जाति है जो धोखा देने में निपुण है, उनसे हमें कभी भी धोखा हो सकता है। दूसरी उनकी दुर्बलता यह थी कि उन्होंने कभी संगठित होकर अर्थात् सब लोगों ने मिलकर अंग्रेजों का सामना नहीं किया।"

"और जब अन्त में वास्तविक स्थिति का ज्ञान हुआ तो सन् 1857 में बहादुरशाह ज़फ़र के नेतृत्व में सब भारतीय लोगों ने मिलकर भारतीय स्वातन्त्र्य समर का घोष किया। इस युद्ध के आरम्भ में तो भारतीय लोगों ने अनेक प्रशंसनीय जौहर दिखाए और विजय प्राप्त की, तदपि हमारे दुर्भाग्य से तथा नेतृत्व की अकुशलता के कारण अन्तिम युद्ध में भारतीयों को पराजय का ही मुख देखना पड़ा और हमारी दासता दृढ़ हो गई। इस युद्ध में चाहे जैसा और जो कुछ भी हुआ परन्तु फिर भी झाँसी की रानी, तात्या टोपे, कुँअरसिंह तथा नाना साहब जैसे अनेक पराक्रमी व्यक्तियों के नाम हमारे देशवासियों की स्मृति में उज्ज्वल नक्षत्रों

के समान सदा ही चमकते हुए हमें स्वार्थ-त्याग और पराक्रम के लिए स्फूर्ति प्रदान करते रहेंगे।''

''सन् 1857 के बाद अंग्रेजों ने भारतीयों को बलात् शस्त्रविहीन करके उन पर अमानुषी अत्याचार किये। परिणामस्वरूप भारतीय कुछ समय के लिए स्तब्ध-से, अचंभित-से रह गए। परन्तु सन् 1885 में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के बाद ऐसा लगने लगा कि भारतीयों में फिर से नई चेतना का जागरण होने लगा है। इस पर भी यह तथ्य है कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना ही अंग्रेजों द्वारा एक ऐसे अंग्रेज के माध्यम से हुई थी जिसे 1857 के स्वातन्त्र्य समर में मुँह की खानी पड़ी थी। उस इटावा के निवर्तमान जिलाधिकारी की नियुक्ति सर ए०ओ०ह्यूम के माध्यम से भारतीयों में स्वतन्त्रता के लिए होनेवाली छटपटाहट को दबाने के लिए की गई थी।''

''भारतीयों ने 1885 से आरम्भ कर प्रथम महायुद्ध की समाप्ति तक अर्थात् 1918 तक अपनी स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, रक्तपात, उत्पात तथा अन्त में सशस्त्र क्रान्ति इत्यादि सभी सम्भव उपायों का आश्रय लेकर देख लिया, परन्तु ये सारे उपाय भी उस समय असफल ही सिद्ध हुए। भारतीय जनमानस इसी ऊहापोह में था कि तभी भारतीय राजनीति के मंच पर मोहनदास कर्मचन्द गांधी का उदय हुआ। गांधी ने सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिए। यह उनका अपना नया शस्त्र था।''

''तदनन्तर भारतवर्ष में स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर कुछ न कुछ, कहीं न कहीं, आन्दोलन होते रहे। अब घर-घर में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए किये जा रहे आन्दोलन की चर्चा होने लगी थी। देश के उस समय के कर्णधारों ने देश की स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहन करना, अपने निजी स्वार्थ की बलि देना, यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर मृत्यु का भी सहर्ष आलिंगन करना ऐसे उदाहरण जनता के सम्मुख प्रकट होने लगे। नगर-नगर, ग्राम-ग्राम सर्वत्र राष्ट्रीय आन्दोलन की धूम मचने लगी। इस प्रकार एक बार फिर से भारत में राष्ट्रीय भावना का जागरण हुआ। इसके साथ ही एक राष्ट्रीय संगठन भी तैयार कर लिया गया।''

''इस एकता का सुपरिणाम भी निकला। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अब स्वतन्त्रता आन्दोलन की अग्रणी संस्था के रूप में जानी जाने लगी थी। परिणाम-स्वरूप आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल सत्ता की कुर्सी पर आरूढ़ हो गए। उस अवधि में अर्थात् सन् 1937 से 1939 तक के तीन वर्षों की अवधि में इन मन्त्रिमण्डलों ने जो कार्य करके दिखाया उससे लगा कि भारतीय लोग अब स्वयं

ही अपनी शासन-व्यवस्था को सँभालने के लिए तैयार हैं, सर्वथा समर्थ हैं।''''

''इस प्रकार वर्तमान स्वातन्त्र्य समर प्रारम्भ होने तक, भारत की स्वतन्त्रता को पुनरेण स्थापित करने के लिए अन्तिम सफल युद्ध करने की पूर्ण तैयारी हो गई।''''

''भारतवर्ष के अब तक के इतिहास में पहली बार ही विदेशों में रहनेवाले भारतीय लोगों में भी राष्ट्रीय वृत्ति जागृत हुई है। वे एक राष्ट्रीय संगठन के साथ सम्बद्ध हो गए हैं। विशेषतया सुदूरपूर्व के बीस लाख लोग, इस प्रकार की घनिष्ठ संघटना में आबद्ध हैं तथा उन्होंने इस स्वातन्त्र्य युद्ध में तन-मन-धन से पूर्णतया सहयोग करने का संकल्प कर लिया है।''''

''इस घटना के आगे 'चलो दिल्ली' इस ध्येय से प्रेरित भारतीय स्वातन्त्र्य सेना सन्नद्ध होकर खड़ी है। अपने अत्यन्त दुष्ट एवं ढोंगी व्यवहार के कारण भारतीय लोगों का जीना मुश्किल करके, उन्हें सब प्रकार से पीड़ित करके, भिखारी बनाने की तथा भूखे पेट मारने की जो रीत अंग्रेजों ने डाली है, उससे उनमें तथा भारतीय लोगों में सदा के लिए एक दूरी पैदा हो गई है। परिणाम-स्वरूप अंग्रेजों का राज अब समाप्त होने की स्थिति में पहुँच गया है। इस दुष्ट राज्य-पद्धति को जलाकर भस्म कर देने के लिए अब तो केवल एक माचिस की तीली लगाने का कार्य भारतीय स्वातन्त्र्य सेना को रह गया है।''''

''स्वतन्त्रता का उषाकाल अब अत्यन्त सन्निकट होता जा रहा है। अपनी स्वयं की सरकार की स्थापना करके उस सरकार के नेतृत्व में अन्तिम सफल स्वातन्त्र्य युद्ध करना हम सब भारतीयों का कर्त्तव्य है। भारत के सब नेतागण जब इस समय कारागार में बन्द हैं तथा भारत की जनता निःशस्त्र है, ऐसे समय में ऐसी सरकार भारत में स्थापित करके उस सरकार के मार्गदर्शन में स्वतन्त्रता युद्ध लड़ना, आज की परिस्थिति में चाहे सम्भव नहीं है फिर भी, भारत में स्थित तथा भारत के बाहर स्थित सभी राष्ट्रीय विचारों के भारतीयों के समर्थन से, सुदूरपूर्व में स्थित भारतीय स्वतन्त्रता संघ के पास यह सुकार्य स्वयमेव आ गया है, और यह कार्य है—भारतीय स्वतन्त्र सरकार स्थापित कर, भारतीय स्वातन्त्र्य सेना की सहायता से, भारत की स्वतन्त्रता के लिए अन्तिम किन्तु सफल युद्ध करना।''''

''सुदूरपूर्व में स्थित भारतीय स्वतन्त्रता संघ ने भारतीय स्वातन्त्र्य सरकार स्थापित करके जिस उत्तरदायित्व का काम हम पर सौंपा है, उस उत्तरदायित्व को पूरी और भली प्रकार पहचानते हुए, हम अपना कर्त्तव्य निभाएँगे। अपने देश की मुक्ति के इस काम में हमें युद्ध में परमपिता परमेश्वर का आशीर्वाद और कृपा प्राप्त होगी, ऐसी हमारी उससे करबद्ध प्रार्थना है। भारत की स्वतन्त्रता वापस प्राप्त

करने के लिए, तथा भारत देश को विश्व के देशों के समकक्ष स्थापित करने के लिए, हम अपनी तथा अपने सैनिकों की जान की बाजी लगाने की प्रतिज्ञा करते हैं। भारतवर्ष के सामान्य नागरिक की अनुमति से, उनके विश्वास की पात्र, एक स्थायी सरकार भारत में प्रस्थापित होने तक स्वतन्त्रता-युद्ध लड़ने का तथा उस युद्ध को चलाने का काम, इस कामचलाऊ भारतीय स्वतन्त्रता सरकार के पास रहेगा।''''

''इस भारतीय स्वतन्त्रता सरकार के प्रति सब भारतीय लोग श्रद्धावान् रहेंगे, यह सरकार उनसे अपेक्षा करती है। उसका यह अधिकार भी है। प्रत्येक नागरिक को इस सरकार में धर्म की स्वतन्त्रता रहेगी तथा सबको समान अधिकार प्राप्त होंगे—हम सबको इस बात का विश्वास दिलाते हैं। हिन्दुस्थान में स्थित विदेशी सरकार द्वारा उत्पन्न सारे भेदभावों को मिटाकर, भारतमाता के सब बच्चों को समानता से देखना तथा सारे भारत की और उसके सब घटकों की समृद्धि करके भारतीय लोगों का जीवन सुखमय बनाना ही हमारा एकमात्र अटल ध्येय है। यह सरकार यहाँ पर इसकी घोषणा करती है।''''

''परमात्मा का नाम लेकर भारतीय राष्ट्र के लिए उत्तरदायी हमारे सारे पूर्वजों का स्मरण करके, तथा हमारे सम्मुख त्याग का और अपनी वीरता का उदाहरण प्रस्थापित करनेवाली उन पवित्र विभूतियों का स्मरण करके हम सब भारतीयों को अपने ध्वज की छत्रछाया में संगठित करके, स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करते हैं। पराक्रम से, प्रयत्न से तथा अन्तिम सफलता-प्राप्ति का मन में विश्वास रखकर, अंग्रेजों तथा भारत में उनके सहायकों को भारत देश से बाहर निकालकर, अपने देश को स्वतन्त्र करके, अन्त तक इस युद्ध को जारी रखने का हम उनको आश्वासन देते हैं।''

भारत की दासता के इतिहास में इस स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की घटना अद्‌भुत थी। श्री सुभाषचन्द्र बोस का विश्व के विभिन्न देशों के स्वतन्त्रता के युद्ध का अध्ययन बहुत गहरा था। इनसे उन्होंने स्फूर्ति प्राप्त कर, पराजित जातियों ने विजेता जाति के विरुद्ध युद्ध की घोषणा किये बिना उन्हें निकालकर अपना देश स्वतन्त्र करवाने का एक भी उदाहरण उन्हें कहीं दृष्टिगत नहीं हुआ। अतः उन्हें यह पूर्ण विश्वास हो गया था कि भारतवर्ष भी बिना युद्ध किये और बिना विजेता को युद्ध में पराजित किये हम स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकते।

नेताजी को जब किसी बात का पक्का विश्वास हो जाता था तो फिर चाहे कोई उसको स्वीकार करे अथवा न करे, उसकी प्रशंसा करे अथवा आलोचना करे, उन्हें इसके लिए चाहे कोई अनुयायी मिले अथवा न मिले, अपनी बुद्धि को

जो उचित प्रतीत हो तदनुसार देशभक्ति के कार्य को निरन्तर करते रहने के लिए उनके अद्वितीय गुण के कारण भारत के महापुरुषों में उनकी गणना की जाती है।

इस एक गुण के साथ-साथ उनमें अन्य भी अनेक अद्वितीय अनुपम गुण विद्यमान थे। एक व्यक्ति के रूप में एक अलग अध्याय में उनके अनमोल गुणों की हम चर्चा करेंगे।

'भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना' जैसी असम्भव बात को सम्भव सिद्ध करके श्री सुभाषचन्द्र बोस ने भारत के इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया है। इसमें किंचिन्मात्र सन्देह के लिए स्थान नहीं है। उन्होंने जो काम कर दिखाया है वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में किसी भी व्यक्ति ने करके नहीं दिखलाया, और न ही आज तक उस प्रकार का काम करके दिखाने का किसी में भी साहस हुआ है। इस कार्य के लिए कितने साहस की आवश्यकता है, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

भारत की स्वतन्त्र सरकार की घोषणा के अनन्तर वहाँ पर उपस्थित भारतीय एवं जापानी फोटोग्राफरों ने विभिन्न कोणों से अनेक छायाचित्र लिये। सब मित्र राष्ट्रों को तथा अन्यान्य तटस्थ राष्ट्रों को और समाचार-संवाद-अधिकरणों एवं समाचारपत्रों को तार से तथा वायरलैस सन्देशों से, इस स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की जानकारी दी गई। दूसरे ही दिन इस समारोह के समय लिये गए छाया-चित्र भी सब स्थानों पर प्रकाशनार्थ भेज दिए गए।

स्वतन्त्र सरकार की स्थापना के बाद इस परिषद् का कार्य समाप्त हो गया था। उसी रात ही अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने थे। जल्दी किये जानेवाले कार्यों के लिए नेताजी के बँगले पर बैठकें आयोजित की गईं। दूसरे दिन मध्याह्न के समय सिंगापुर क्रिकेट क्लब के भवन में स्वतन्त्र सरकार की स्थापना के लिए सरकार की ओर से भोज दिया गया। इस अवसर पर जापानी एवं जर्मन अधिकारी भी आमन्त्रित किये गए थे। वहाँ पर भी भोजनोपरान्त नये मंत्रिमण्डल के फोटो लिये गए। उसी दिन अर्थात् 22 अक्टूबर 1943 की शाम को 4 बजे वाटरलू स्ट्रीट पर स्थित भारतीय स्वतन्त्रता संघ की सिंगापुर शाखा के सभागार में झाँसी की रानी ब्रिगेड की स्थापना का समारोह आयोजित किया गया था। इस सभागार के सामने ही मार्ग के उस पार सिंगापुर नगर के मध्य में समुद्र से एक-दो फर्लांग की दूरी पर नये कमरे बने थे तथा उनके चारों ओर ऊँची लकड़ी से बनी बाड़ लगाई गई थी। इस प्रकार रानी झाँसी ब्रिगेड की छावनी तैयार की गई थी।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का जन्म 21 अक्टूबर 1835 के दिन हुआ था। उसी दिन भारतीय स्वातन्त्र्य सरकार की स्थापना की गई तथा उसी दिन उनका

जन्मदिन होने के कारण रानी झाँसी ब्रिगेड की छावनी का उद्‌घाटन-समारोह होना भी निश्चित किया गया था। परन्तु कार्याधिक्य के कारण उस दिन वह समारोह नहीं किया जा सका। तब अगले दिन के लिए वह कार्यक्रम स्थगित किया गया।

महिलाओं के लिए भी सैन्य पथक तैयार किया जाएगा—यह समाचार ही भारतीय लोगों को आश्चर्यचकित करनेवाला था। उसकी उपयोगिता के विषय में नेताजी को छोड़कर लगभग अन्य सभी को आशंकाएँ थीं। वे अन्त तक इस विषय में शंकालु ही बने रहे। उनका मानना था कि झाँसी की रानी ब्रिगेड तो व्यर्थ का एक झंझट ही सिद्ध होगा। इसके साथ ही उन पर किये जानेवाले व्यय को भी वे लोग अपव्यय ही मानते थे। यह सब कानाफूसी वे परस्पर भले ही कर लें, किन्तु नेताजी के सम्मुख किसी को इसका विरोध करने का साहस नहीं होता था।

'रानी झाँसी पथक' की जिस दिन स्थापना होनी थी, उस दिन सिंगापुर-स्थित भारतीय महिलाओं में बड़ी जागृति दिखाई दे रही थी। उनमें उत्साह भरा हुआ था। समारोह के लिए सभागृह को भलीभाँति सुसज्जित किया गया था। अधिकारी वर्ग, आमन्त्रित नर-नारी, समाचारों के संवाददाता तथा स्वामी, अन्यान्य भारतीय अथवा स्थानीय लोगों की बहुत अच्छी भीड़ वहाँ एकत्रित हो गई थी।

महिला-मण्डली को इस बात की गर्वानुभूति होती थी कि अब हम भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करेंगी, अन्य खाली बैठे लोगों जैसी हम नहीं रहेंगी। समारोह के दिन चार बजे नेताजी पधारे। उनके साथ कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्ति भी थे। नेताजी को सैनिक सम्मान दिया गया और फिर मार्ग के दोनों ओर कुर्सियों के सामने खड़े लोगों के मध्य में बने मार्ग से नेताजी मंच की ओर अग्रसर हुए। राष्ट्रगीत गाया गया। नेताजी का लिखित भाषण लोगों में वितारित कर दिया गया। तालियों की गड़गड़ाहट के मध्य नेताजी भाषण के लिए उठे। उन्होंने कहा—

"भारतीय वीरांगनाओं की मालिका अबाधित है और यह परम्परा उज्ज्वल है। कुछ लोगों में यह भ्रान्ति है कि युद्ध का कार्य महिलाओं का नहीं है, किन्तु मेरा विचार इससे सर्वथा भिन्न है। मुझे विदित हुआ है कि मेरे अनेक सहयोगी इस पथक के लिए व्यय किया जानेवाला धन और समय आदि सब व्यर्थ का अपव्यय मानते हैं, परन्तु मेरा विचार ऐसा नहीं है। भारत की वर्तमान स्थिति इतनी कठिन है कि महिलाओं को भी पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए। अतीत का इतिहास हमें बताता है कि अनेक अवसरों पर

महिलाओं ने पुरुषों से कहीं अधिक वीरता और साहस के कार्य सम्पन्न किये हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हमारे इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। जिस वीरांगना का नाम इस पथक को दिया गया है, उसी का चरित्र देखिए····

''सन् 1857 में जो प्रथम स्वातन्त्र्य समर किया गया था उसमें यदि एक झाँसी की रानी ने अपनी बलि दी थी तो हमारा विश्वास है कि स्वतन्त्रता की इस अन्तिम और सफल लड़ाई में उस प्रकार की हजारों झाँसी की रानियाँ युद्ध के प्रांगण में अपना जौहर दिखाएँगी। इस पथक की स्थापना का हमारा उद्देश्य यही है। यहाँ पर एकत्रित महिलाओं में तथा अन्यान्य स्थानों पर भी हमने महिलाओं में जो उत्साह और उमंग देखी है, उसको दृष्टि में रखते हुए हमें विश्वास है कि इस पथक की स्थापना का हमारा उद्देश्य निश्चित सफल होगा।''''

''आज की स्थिति को देखकर मेरा यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि इस पथक की स्थापना तो आज से बहुत पहले ही हो जानी चाहिए थी। तदपि, आज हम अपने इस कार्य में कृतकार्य हो पाए हैं, यह प्रसन्नता की बात है। इसमें विलम्ब इसलिए भी हुआ कि महिलाओं के पथक-स्थापन के अवसर पर अनेक बातों और समस्याओं पर विचार करना आवश्यक होता है। उस तैयारी में ही हमें इतना विलम्ब हुआ। अन्यथा इसकी स्थापना बहुत पहले कर ली गई होती।''''

''रानी झाँसी पथक की स्थापना में होनेवाले विलम्ब के अवसर पर हमने अनुभव किया कि हमारी महिला सैनिकाएँ बड़ी व्यग्रता व्यक्त कर रही हैं। उनको भी यह विलम्ब असह्य होता जा रहा था। उनकी बेचैनी स्वयं में एक अनुपम अनुभूति थी। उनको कहीं ऐसा लगता था कि सचमुच में ऐसा कोई पथक हम स्थापित करना भी चाहते हैं अथवा यों ही हमारी परीक्षा ली जा रही है। उनका मन शंकालु हो गया था। आज यह सब प्रत्यक्ष होता देखकर उनकी शंका का स्वयमेव समाधान हो गया होगा।''

इस प्रकार नेताजी का भाषण पूर्ण हुआ। नेताजी तथा उनके साथ बैठे अन्य विशिष्ट व्यक्ति सभागार के सम्मुख मार्ग के उस ओर बनी रानी झाँसी पथक के बड़े द्वार के समीप गए। डॉ० लक्ष्मी ने छावनी के प्रमुख द्वार की चाबी नेताजी को दी। नेताजी ने उस द्वार का ताला खोला। इस प्रकार उसका उद्घाटन सम्पन्न हुआ।

छावनी के भीतर परिसर में प्रविष्ट होते ही बाईं ओर प्रहरी का कक्ष तथा उसके समीप ही छोटा-सा शस्त्र-भण्डारकक्ष था। सामने की ओर स्थित एक लम्बे-से कक्ष में उस पथक के प्रमुख अधिकारी का कार्यालय, उसके साथ उसके अधीनस्थ एवं अन्यान्य वरिष्ठ अधिकारियों के कार्यालय थे। उसके साथ

ही एक टंकक, एक लिपिक तथा कोठारी आदि के कार्य करने के कक्ष थे। कार्यालयों के सामने की ओर छावनी का छोटा-सा अस्पताल था। वहीं कहीं समीप ही वस्त्रागार आदि भाण्डारणों के कक्ष बने हुए थे।

कार्यालय के दाईं ओर सैनिकों के निवास की व्यवस्था थी। उनके समीप ही वरिष्ठ अधिकारियों के निवास के लिए कक्ष बने हुए थे। उसके साथ ही उन लोगों का भोजन-कक्ष बना हुआ था। सैनिकों के भोजन करने के लिए एक बहुत बड़ा हॉल बनाया गया था जो उनके निवास के निकट ही था। इस भोजन-कक्ष का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर सभागार के रूप में भी किया जाता था।

पाकशाला तथा खाद्य-सामग्री के भण्डारण के लिए अलग कक्ष बने हुए थे। बाहर एक बहुत बड़ा मैदान था, जहाँ पर महिला सैनिक अपना व्यायाम आदि किया करती थीं।

झाँसी की रानी पथक में सर्वप्रथम डेढ़ सौ महिलाओं ने अपने नाम लिखाए थे। **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** के अधिकारी उनको सैनिक प्रशिक्षण दिया करते थे। तब तक महिला प्रशिक्षक तैयार नहीं हो पाई थी। कालान्तर में यह कार्य महिला प्रशिक्षक ही करने लगी थी।

इस प्रकार इस पथक को वास्तविक रूप में प्रारम्भ कर दिया गया और समय पड़ने पर इसने अपने जौहर भी दिखाए।

भारतीय स्वतन्त्र सरकार की स्थापना का समाचार सब स्थानों पर पहुँचते ही विभिन्न मित्र राष्ट्रों के परराष्ट्रमन्त्रियों की ओर से इस सरकार के अस्तित्व एवं उसको मान्यता प्रदान करने के सन्देश भी उसी प्रकार तार और वेतार के तार द्वारा नेताजी को प्राप्त होने लगे।

23 अक्टूबर 1943 के दिन जापान द्वारा **भारतीय स्वतन्त्र सरकार** को मान्यता देने का तार-सन्देश, सिंगापुर-स्थित जापानी राज-प्रतिनिधि ने लेकर नेताजी को दिया। इसके अनन्तर एक के बाद एक जर्मनी, इटली, फिलिपीन्स, मंचूरिया, चीन, क्रोशिया, स्याम, ब्रह्मदेश आदि-आदि देशों ने भी नेताजी को तार भेजकर भारतीय स्वतन्त्र सरकार को मान्यता देने के साथ-साथ शुभकामनाएँ भी दीं।

8 नवम्बर 1943 को सहसा आयरलैण्ड के राष्ट्रपति 'डी वैलेरा' का बधाई-सन्देश का तार प्राप्त हुआ। अपने देश से प्रेम करनेवाले तेजस्वी व्यक्ति के एक अन्य देश के देशभक्त नेताजी को प्राप्त हुए तार-सन्देश को देखकर सबको बहुत प्रसन्नता हुई। नेताजी तथा डी वैलेरा इससे पूर्व परस्पर मिल भी चुके थे और दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अत्यधिक मान-सम्मान की भावना थी।

श्री सुभाषचन्द्र बोस ने आयरलैण्ड के स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इतिहास का बड़ा गहन अध्ययन किया था और उससे उनको अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

अंग्रेजों के कट्टर शत्रु आयरलैण्ड के स्वातन्त्र्य संग्राम के सफल नेता तथा यथासमय उस देश द्वारा नियुक्त राष्ट्रपति की दृष्टि से डी वैलेरा के लिए सुभाषचन्द्र जी के मन में बहुत आदर-भाव था। डी वैलेरा के सन्देश में लिखा था, "आपने भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना कर ली है, यह जानकर मुझे अत्यधिक आनन्द हुआ है। मैं इस सुकार्य के लिए आपको बधाई देता हूँ। आपकी स्वतन्त्र सरकार की स्थापना का समाचार सुनकर मुझे सहसा अपनी स्वतन्त्र सरकार की स्थापना के दिनों का स्मरण हो आया है। आज आप जिस कठिन समय और स्थिति से गुजर रहे हैं, हम उस स्थिति का अनुभव कर चुके हैं। मैं आपके एवं आपके सहयोगियों के इस कार्य में सफलता की कामना करता हूँ।"

23 अक्टूबर 1943 के दिन जापान सरकार की मान्यता भी प्राप्त हो गई। अब यह अनुमान लगाया जाने लगा था कि शीघ्र ही अन्यान्य देशों द्वारा भी मान्यता प्राप्त हो जाएगी। इससे यह माना जाने लगा कि अब हमारी भारतीय स्वतन्त्र सरकार अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता के सुदृढ़ पैरों पर स्थिर हो जाएगी। इस परिप्रेक्ष्य में उसी दिन सायंकाल 7 बजे नेताजी के निवास-स्थान पर मन्त्रिमण्डल की बैठक आयोजित की गई।

इस बैठक के आरम्भ में मन्त्रिमण्डल-सचिव श्री आनन्दमोहन ने सरकार की स्थापना के समय से अब तक प्राप्त हुए सब अन्तर्राष्ट्रीय पत्र और सन्देश आदि के विषय में मन्त्रिमण्डल को अवगत कराया। उसके बाद यह विचार-विमर्श होने लगा कि इस स्थिति में हमें युद्ध की घोषणा कर देनी चाहिए, क्या इसके लिए हमारी सिद्धता है?

अंग्रेज लोग स्वयं ही भारत छोड़कर चले जाएँगे—इसकी सम्भावना न होने पर हमें उसके लिए युद्ध की घोषणा करना आवश्यक हो गया है। भारतीय स्वतन्त्र सरकार की स्थापना का मुख्य उद्देश्य ही यही था, यह भी उस समय बताया गया। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी था कि युद्ध की घोषणा केवल अंग्रेजों के ही विरुद्ध की जाए अथवा उनके मित्र देशों, जैसे अमेरिका आदि के विरुद्ध भी की जाए? इस पर मंत्रिमण्डल में मतभेद होने लगा। एक वर्ग का मानना था कि केवल अंग्रेजों के विरुद्ध ही युद्ध की घोषणा की जाए, क्योंकि उन्हीं से हमारी शत्रुता है। अंग्रेजों के मित्र देशों से तो हमारा सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है, तब फिर व्यर्थ में क्यों साँप की पूँछ को पैर से दबाया जाए?

इस वर्ग का यह भी कहना था कि जब हमने अमेरिकनों के विरुद्ध किसी प्रकार की युद्ध की घोषणा नहीं की हुई है, तब फिर वह हमारे विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता क्यों कर रहे हैं? हम यह बात सबको कह सकते हैं और इस प्रकार अमेरिका को दोषी सिद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रचार से हमें लाभ होगा। और यदि हमने स्पष्ट रूप से युद्ध की घोषणा कर भी दी तो सीधे तो हम उनके विरुद्ध कुछ भी करने की स्थिति में हैं नहीं। तब फिर केवल मुख से ही युद्ध की घोषणा करने का क्या लाभ?

इसके विपरीत दूसरा पक्ष कहता था कि अमेरिका सब प्रकार से अंग्रेजों की सहायता तो कर ही रहा है। भारत में प्रचुर मात्रा में उसकी सेना भी विद्यमान है और युद्ध-सामग्री भी है। अतः यदि अंग्रेजों के साथ युद्ध करना हो तो उसके सहायकों के प्रति आँख मूँदकर रहने से कार्य-सिद्धि सम्भव नहीं है। अमेरिका तो उनका मुख्य सहायक है। मन्त्रिमण्डल में इस वर्ग का बहुमत होने के कारण ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका, इन दोनों के विरुद्ध भारत की स्वतन्त्र सरकार द्वारा युद्ध की घोषणा करके, युद्ध करने का निश्चय कर लिया गया।

इस सारी चर्चा में मध्य रात्रि हो गई थी। भारत की स्वतन्त्र सरकार के एक प्रतिनिधि को उसी समय सिंगापुर आकाशवाणी केन्द्र पर भेजा गया। उसने ठीक बारह बजकर पाँच मिनट पर आकाशवाणी केन्द्र से घोषणा करते हुए कहा, "भारत देश से अंग्रेज तथा उसके सहायक अमेरिकनों को खदेड़कर अपने देश को पूर्णतया स्वतन्त्र करने के लिए सबकी सहमति से स्थापित यह भारत की स्वतन्त्र सरकार इस क्षण से ही ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करती है।"

इसके दूसरे ही दिन म्युनिसिपल भवन के सामने स्थित मैदान पर समस्त भारतीयों की एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। भारतीय स्वतन्त्रता सेना के सब सैनिक, झाँसी रानी पथक की महिला सैनिक, तथा बाल-सेना एवं सिंगापुर के अन्य भारतीय नागरिक आदि सभी इस विशाल जन-सभा में उपस्थित थे। भवन की सीढ़ियों पर निर्मित मंच पर नेताजी तथा अन्यान्य अधिकारीगण विराजमान थे। इस सभा की विशेषता यह थी कि केवल तीन ही दिन पूर्व **भारतीय स्वतन्त्र सरकार** की स्थापना की गई थी। इस सरकार के पास न अपना कोई भवन था और न कोई भूमि ही थी। फिर भी सुदूरपूर्व के किसी भी देश के भारतीय जन उन देशों की सरकार के नागरिक न गिने जाकर **भारतीय स्वतन्त्र सरकार** के नागरिक माने जाने लगे थे। जापान, चीन, मंचूरिया, फारमोसा, हाँगकांग, इण्डो-चाइना, स्याम, ब्रह्मदेश, मलय, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो,

फिलिपीन्स, इत्यादि सब देशों के पच्चीस लाख भारतीय अब से भारत की स्वतन्त्र सरकार के अधीन आ गए थे। उन देशों की सरकारों का उन पर अब कोई अधिकार नहीं रह गया था। यदि उनके विषय में कोई समस्या उठ जाए तो वहाँ की सरकार द्वारा उसे भारतीय स्वतन्त्रता संघ के मुख्यालय को भेज दिया जाता था। वही उसका हल निकालते थे।

प्रत्येक देश में स्थित भारतीय स्वतन्त्रता संघ ही सब भारतीय जनों की एक प्रतिनिधि संस्था मान्य कर ली गई थी। भारत की स्वतन्त्र सरकार का विभिन्न स्थानों का कार्य भी इसी संस्था द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इस प्रकार इस संघ की शाखाएँ, उपशाखाएँ, आदि सुदूरपूर्व के सब देशों में सब ओर फैली हुई थीं और उसने सब स्थानों पर गहराई से जड़ पकड़ ली थी। अत: भारत की स्वतन्त्र सरकार रूपी इस विशाल वटवृक्ष की शीतल छाया के तले उस भाग की सारी भारतीय जनता को दो वर्ष तक पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करने का सुअवसर प्राप्त हो रहा था।

'एशियाटिक', 'काला आदमी' अथवा 'दास' नामों से ताने देनेवाला अब कोई नहीं था। वे लोग अन्य देशों के देशवासियों के समान आदर की, स्वाभिमान की तथा स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की सरकार भारतीय लोगों को भी प्राप्त हो गई थी। हर भारतीय नागरिक अब छाती तानकर चलता था। अपने अधिकार में कोई भी भूमि-खण्ड न होते हुए भी विभिन्न देशों में स्थित कई भारतीय लोग वहाँ की सरकार के शासन में न रहकर एक दूरस्थ भारतीय स्वतन्त्र सरकार के नागरिक थे। यह कितनी महत्त्व की स्थिति थी!

इतने विभिन्न देशों के पच्चीस लाख भारतीय लोगों पर उनका अधिकार छोड़ने के लिए तैयार करनेवाला व्यक्ति कितना असामान्य होगा, इसका अनुमान लगा पाना बड़ा कठिन है। एक प्रकार से इन सब देशों में स्वतन्त्र संघ की शाखाओं, उपशाखाओं के रूप में भारतीय स्वातन्त्र्य सरकार का ही राज इन प्रदेशों में विस्तीर्ण था। उनके जो भारतीय नागरिक थे, वे भी कुछ साधारण न होकर सुदूरपूर्व में स्थित बहुत ही धनवान लोग थे।

24 अक्टूबर 1943 के दिन शाम को खचाखच भरी हुई सार्वजनिक सभा के सम्मुख भाषण करते हुए नेताजी ने, भारत की स्वतन्त्र सरकार ने, ग्रेट ब्रिटेन एवं अमेरिका के विरुद्ध विगत रात्रि में आकाशवाणी के माध्यम से प्रसारित युद्ध की घोषणा से अवगत कराया। इसके आगे नेताजी ने कहा, "अब हम सब लोगों को इस युद्ध को सफल बनाने के लिए अपनी कमर कस लेनी चाहिए। इस युद्ध में प्रत्येक व्यक्ति को अपना तन-मन-धन अर्पण कर देना चाहिए। अपना सर्वस्व

ही इसमें अर्पण कर देना श्रेयस्कर होगा। 'मैंने तो इतना किया, किन्तु अन्य किसी ने कितना किया'—इस प्रकार एक-दूसरे की आलोचना करने का यह समय नहीं है। 'मैंने कितना दिया' इस बात को न सोचते हुए 'क्या मेरे पास देने के लिए और कुछ बचा है' ऐसा प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए। 'आप अत्यधिक स्वार्थत्याग करने को तत्पर हैं या नहीं ?' प्रत्येक व्यक्ति अपने मन में इस प्रश्न पर विचार करके मुझे निर्णयात्मक उत्तर दीजिए।....''

नेताजी के इस प्रकार कहते ही वह विशाल जनसमुदाय अपनी सहमति प्रकट करने के लिए उठ खड़ा हुआ। सबने अपने हाथ ऊँचे करके खड़े कर दिए। सैनिकों ने अपने शस्त्र ऊँचे उठा दिए। तिरंगे झण्डे, लाठियाँ, छड़ियाँ, छत्रियाँ इत्यादि सबका मानो जंगल-सा उग आया हो। कोई-कोई अपनी टोपियाँ उछालने लगे। ढोलक एवं बैण्ड बजने लगा। यत्र-तत्र आनन्द और उत्साह का वातावरण दिखाई देता था। चारों ओर जय-जयकार सुनाई देता था।

पाँच-छः मिनट तक तल्लीन रहकर नेताजी ने भाव-विभोर होकर यह दृश्य देखा। यदि चाहते तो अपना एक हाथ ऊपर उठा देते और उसे देखते ही लोग शान्त होकर अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते। किन्तु कुछ समय के लिए वे सब कुछ भूलकर स्थिर दृष्टि से उस जनसमुदाय को निहारते हुए और ही किसी बात पर विचार कर रहे थे, ऐसा प्रतीत हुआ।

इस अनिश्चित स्थिति को अधिक समय तक न रहने देते हुए वह जन-समुदाय एकदम आगे बढ़ने लगा। उस बाढ़ में अनेक स्थानों पर खड़े पहरेदार, किनारों पर लगाई गई रस्सियाँ, उनको आधार देने के लिए खड़े किये गए खम्भे इत्यादि वस्तुएँ डूबकर, क्षणमात्र के लिए अदृश्य होकर कहीं इधर-उधर बिखर गई थीं। म्युनिसिपल भवन की इमारत तथा सीढ़ियाँ और मैदान, इनके बीचोंबीच देर तक जो खाली पड़ा रहा था, वह तारकोल का रास्ता इस जनसमुदाय से व्याप्त हो गया था।

सीढ़ियाँ और चबूतरे पर चढ़कर जहाँ पर नेताजी खड़े थे, वहाँ तक यह जनसमुदाय पहुँच गया था। जगह ढूँढने के लिए लोगों में एक प्रकार से भगदड़-सी मच गई थी। जिसे जहाँ पर स्थान मिला वह वहीं पर बैठ गया। इस गड़बड़ी में अनेक लोग भीड़ की धक्कामुक्की में दबकर मूर्च्छित भी हो गए थे। किसी प्रकार से उन्हें भीड़ से बाहर निकालकर उनका उपचार किया जाने लगा। इसके आगे उस जन-समुदाय के लिए जाना सम्भव नहीं था, क्योंकि नेताजी की तेजस्वी मूर्ति एक सुदृढ़ चट्टान के समान उनके सम्मुख खड़ी थी। नेताजी द्वारा अपना दाहिना हाथ ऊपर करते ही वह सारा शोर सहसा बन्द हो गया, चारों ओर शान्ति छा गई।

दूसरे दिन अर्थात् 25 अक्टूबर की शाम को सिंगापुर के जालन-बसार बस्ती के बड़े क्रीड़ा-उद्यान में मलय में स्थित सब धनी सम्पन्न लोगों की सभा आयोजित की गई। भारत की स्वतन्त्रत सरकार के स्थापना-समारोह के लिए सुदूरपूर्व के विभिन्न स्थानों से आए हुए भारतीय प्रतिनिधि अभी तक सिंगापुर में ही विचरण कर रहे थे, क्योंकि उस सप्ताह सिंगापुर में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होने थे। इन प्रतिनिधियों में सुदूरपूर्व के अनेक धनाढ्य व्यापारी भी थे। उनका, प्रतिनिधि के रूप में तथा व्यापारी होने के कारण भी इस सभा में उपस्थित रहना अनिवार्य था। वास्तव में क्रान्तिकाल में और विशेषतया एक निर्धन देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में धन के कृत्रिम बड़प्पन को अधिक महत्त्व देकर धनवान व्यापारियों को साधारण भारतीय लोगों के प्रतिनिधि के रूप में चुनने की अनुचित प्रथा को समाप्त कर देना चाहिए था। क्योंकि, धनवान लोग अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने की चिन्ता में जब अपने विचार भी ठीक से व्यक्त नहीं कर पाते थे, तब वे सामान्य भारतीय नागरिक के वास्तविक प्रतिनिधि किस प्रकार बन सकते थे ? इस बात को कोई भी व्यक्ति बड़ी सरलता से समझ सकता था। परन्तु मन में स्थित आस्था, प्यार, सत्य, ईमानदारी, मानवधर्म, सदाचरण, विद्वत्ता इत्यादि गुणों की सच्ची परख न होकर धन जैसे स्वेच्छा से आने तथा जानेवाली बाह्य उपाधियों के कारण प्राप्त होनेवाले कृत्रिम बड़प्पन को ही अधिकांशतया अभी भी सब लोगों द्वारा महत्त्व दिया जाता है जोकि उचित नहीं है। इन प्रतिनिधियों में अनेक लोग ऐसे थे जो केवल धनवान ही थे और उसके कारण ही उनको प्रतिनिधि बनाया गया था। इस धनाढ्य जनों की सभा को सम्बोधित करते हुए नेताजी ने कहा, ''अब जबकि हमारी स्वतन्त्र सरकार प्रस्थापित हो चुकी है और उसके साथ ही हमने युद्ध की भी घोषणा कर दी है, इससे हम पर अब नया उत्तरदायित्व आ गया है।''''

''चालीस करोड़ भारतीय प्रजा को दासता के बन्धनों से मुक्त करने का हमने संकल्प लिया है। आज तक हम जो उसे स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर पाए, उसका कारण यही है कि हमने अभी तक स्वतन्त्रता का पूर्ण मूल्य चुकाया कहाँ है ? चालीस करोड़ व्यक्तियों को दासता-मुक्त कराना इतना बहुमूल्य कार्य है कि इसके लिए यदि सुदूरपूर्व में स्थित चालीस लाख व्यक्ति भी भीख माँगने लगें अथवा मृत्यु के ग्रास बन जाएँ, तो भी अपने ध्येय की दृष्टि से यह स्वार्थत्याग बहुत ही कम है।''''

''क्योंकि, वह जो दूसरा व्यक्ति है वह मुझसे अधिक धनाढ्य होने पर भी उसने जब इतने पैसे दिए हैं तो मैं तो मात्र इतने ही दूँगा—इस प्रकार की

आलोचना-प्रत्यालोचना करने का यह समय नहीं है। यह कहना कि हमसे केवल दस या बीस प्रतिशत धन लीजिए, उचित नहीं होगा। यह समय ऐसा है कि यदि आपके पास जितना भी धन है, यदि आपने वह सब भी दे दिया तो भी वह कम ही पड़ेगा, इस पर आप लोग विचार कीजिए। अपना व्यक्तिगत स्वार्थ तथा केवल अपने तक ही सोचने की यह कूप-मण्डूकता की वृत्ति त्यागकर तनिक आँखें खोलकर तो देखिए कि अपनी भारतमाता आप लोगों की ओर टकटकी लगाए निहार रही है।''''

''हम आज यहाँ पर हैं, किन्तु कल भी हम यहाँ रहेंगे यह निश्चित नहीं है। हम कल यहाँ से अथवा इस संसार से भी चले जाएँगे। उस समय यह सारी सम्पत्ति फिर किसी काम नहीं आएगी। किन्तु भारतवर्ष में तो हमारी पीढ़ियाँ विद्यमान रहेंगी। उनके स्थिर सुख की व्यवस्था करना हमारा कर्त्तव्य है।''''

''युद्धभूमि पर जानेवाला सैनिक अपने प्राणों की आहुति देता है। मैं केवल दस प्रतिशत ही रक्त बहाऊँगा या बीस प्रतिशत बहाऊँगा, सैनिक इस प्रकार का व्यापारिक मोल-भाव नहीं करता है। उसे तो अपने प्राणों की ही बाजी लगानी पड़ती है। अतः ऐसे समय में आप लोगों को अपनी थैली का मुख खोलने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। युद्धभूमि में अपने प्राणों को न्यौछावर करनेवाले एक सैनिक के जीवन का मूल्य करोड़ों रुपये से कहीं अधिक है।''

नेताजी के भाषण के उपरान्त देखा गया कि उसी समय वहाँ पर दो करोड़ रुपया एकत्रित हो गया था।

नेताजी के सुदूरपूर्व में बिताए गए वे दो वर्ष कार्यक्रमों और आयोजनों की व्यस्तता में ही व्यतीत हुए थे। दिनभर का उनका कार्यक्रम इतना व्यस्त होता था कि यदि दिन के पच्चीस घण्टे होते तो वे भी पूरे नहीं पड़ सकते थे। परन्तु उनमें भी भारतीय स्वतन्त्र सरकार की स्थापना के उन दस-पन्द्रह दिनों में तो उन्हें एक पल का भी विश्राम नहीं मिलता था। रात्रि के समय मन्त्रिमण्डल की बैठक निश्चित थी, जिसमें महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार-विमर्श आवश्यक था। मध्यरात्रि के बाद एक-दो दिनों के अन्तर से सिंगापुर के आकाशवाणी केन्द्र पर जाकर भारत के लोगों को सम्बोधित करके उनमें स्फूर्ति का संचार करते।

रात्रि-उद्बोधन के अनन्तर घर आकर अवशिष्ट कार्य को निपटाते, फाइलें देखते, अन्य आकाशवाणी केन्द्रों के लिपिकों द्वारा लिखी गई महत्त्वपूर्ण खबरों को पढ़कर उन पर विचार करते और उसके बाद भी यदि कोई कार्य हो तो उसको सम्पन्न कर केवल दो या तीन घण्टों के लिए उनको निद्रा मिलती थी।

प्रात:काल यथाशीघ्र उठकर जब तक नेताजी तैयार होकर बाहर निकलते तब तक इधर-उधर के अनेक पत्रकार उनसे भेंटवार्ता के लिए प्रतीक्षा-आगार में बैठे मिलते। तदनन्तर स्वतन्त्रता सेना और संघ के कार्यों को देखते थे। भारतीय अधिकारियों से मिलना, उनसे विचार-विमर्श करना, सार्वजनिक सभाओं को सम्बोधित करना, आकाशवाणी केन्द्र पर दिए जानेवाले भाषण का प्रारूप तैयार करना, महत्त्वपूर्ण घटनाओं के समय पर कार्यकर्त्ताओं अथवा स्वतन्त्रता सैनिकों को सम्बोधित करके सूचनाएँ तैयार करना, सेना को सीमा पर भेजने के अनेक निर्णयों पर विचार-विमर्श करना, इस प्रकार के ऐसे अनेक काम थे जो नेताजी को नित्यप्रति करने पड़ते थे।

सारे मंत्रिमण्डल क्या, तत्रस्थ समस्त भारतीयों में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उन जैसे व्यक्तित्ववाला अथवा उनकी छाया तक को स्पर्श कर पानेवाला कोई होता। उनका ज्ञान, अनुभव, बुद्धिमत्ता तथा सर्वाधिक देश के लिए तिल-तिल करके टूटनेवाला उनका हृदय, ये सब गुण उनमें चरम सीमा तक पहुँचे हुए थे।

इस प्रकार की स्थिति होने के कारण नेताजी को प्रत्येक कार्य में स्वयं व्यक्तिगत ध्यान देना पड़ता था। उस काम को वे अन्य किसी को नहीं सौंप सकते थे। काम का इतना भार होते हुए भी तथा अनेकानेक देशों का भ्रमण कर आने पर भी उन्हें अपने आसपास के अन्य कई व्यक्तियों के समान मदिरापान में आनन्द अनुभव करने का निन्दनीय व्यसन नहीं था, क्योंकि उनके सामने एक विशेष लक्ष्य था, विशेष ध्येय था। इतना काम होने के तथा सारा काम करने के लिए एक दिन के चौबीस घंटे भी कम पड़ने के कारण, मदिरापान करके कुछ समय के लिए सब-कुछ भुलाने का भी उन्हें अवकाश नहीं था।

अक्टूबर मास का यह महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण हुआ था कि सुदूरपूर्व के सब देशों के मुख्य अधिकारियों की एक महत्त्वपूर्ण परिषद् नवम्बर मास में टोकियो में होनेवाली है—ऐसी सूचना भारतीय स्वतन्त्र सरकार को प्राप्त हुई। 'सुदूरपूर्व के सब देश जापान के नेतृत्व में परस्पर सहयोग करके एक-दूसरे की प्रगति में सहायता करें'—यही जापान की उस घोषणा का मुख्य तत्त्व माना जाता था। जापान देश की ओर से सदा ही इस प्रकार की घोषणा की जाती थी।

सुदूरपूर्व के परस्पर के सहयोग की इस श्रेणी में ब्रह्मदेश से लेकर जापान तक सब देशों की उन्होंने गणना की थी। नेताजी ने भारत को इस श्रेणी से अलग ही रखा था क्योंकि, भारत जैसे चालीस करोड़ लोगों का देश जापान के विचारों के अनुरूप व्यवहार करे—यह बन्धन नेताजी को कभी भी स्वीकार्य नहीं था।

अध्याय अट्ठारह

भारतीय स्वतन्त्रता संघ

सुदूरपूर्व में स्थित भारतीय नागरिकों की एकमेव राजकीय संस्था 'भारतीय स्वतन्त्रता संघ' थी। भारतीय स्वतन्त्रता सेना (आजाद हिन्द फौज) के कारण यह राष्ट्रीय संगठन पर्याप्त सुदृढ़ हो गया था। इन दोनों ही संगठनों के कारण सुदूरपूर्व में स्वतन्त्रता- आन्दोलन तथा भारत का द्वितीय स्वतन्त्रता-युद्ध आरम्भ हुआ।

भारत में जिस प्रकार इंडियन नेशनल कांग्रेस की जड़ें भारत के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर तक विस्तीर्ण थीं, उसी प्रकार, या कहें कि उससे कुछ अधिक ही, सुदूरपूर्व में भारतीय स्वतन्त्रता संघ का प्रचार और प्रभाव था। भारत में जिस प्रकार ताल्लुका कांग्रेस कमेटी, जिला कांग्रेस कमेटी, नगर कांग्रेस कमेटी, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, कांग्रेस कार्यकारिणी समिति तथा इन सब पर प्रधान—इस प्रकार का क्रम दिखाई देता है, उसी प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता संघ की स्थापना, सुदूरपूर्व के परस्पर के सब भेदों से परे पक्की नींव पर की गई थी।

स्वयं नेताजी इस संगठनरूपी मन्दिर के शिखर-कलश के स्थान पर विराजमान थे। इस मन्दिर में स्वतन्त्रता देवी की प्रस्थापना की गई थी। मलय में जोहोर, नेग्रीसेबिलन, सेलंगोर, पैराक, केड़ा, पहांग केलांटन, पर्लिस, पेनांग इत्यादि विभिन्न प्रान्त तथा संस्थान हैं। उस प्रत्येक प्रान्त अथवा संस्थान के प्रमुख शहर में उस प्रान्त अथवा नगर का प्रमुख कार्यालय होता था। प्रान्त अथवा संस्थान के प्रत्येक कस्बे, गाँव अथवा नगर में एक स्थानिक संघ का कार्यालय होता था। स्थानिक संघों के ये कार्यालय उन प्रान्तों अथवा संस्थानों के प्रमुख कार्यालय के शासन के अनुसार काम करते थे। ये सब प्रान्तीय अथवा संस्थानों के संघ के कार्यालय सम्पूर्ण मलय के लिए गठित 'मलय केन्द्रीय संघ कार्यालय' के अनुशासन में थे। यह केन्द्रीय कार्यालय सिंगापुर में स्थित था। सिंगापुर का अपना

एक स्वतन्त्र कार्यालय वाटरलू स्ट्रीट पर था। इस प्रकार मलय और सिंगापुर में इस संघ का गठन किया गया था।

फिलिपीन्स द्वीप का 'संघ प्रमुख कार्यालय' वहाँ की राजधानी मनीला नगर में स्थापित था। उसके शासन के नीचे फिलिपीन्स द्वीप के गाँवों, कस्बों तथा नगरों के संघ की शाखाएँ कार्य करती थीं। स्याम देश का मुख्य कार्यालय वहाँ की राजधानी बैंकाक नगर में स्थित था। चीन देश में शंघाई में 'भारतीय स्वतंत्रता संघ' का कार्यालय स्थापित किया गया था। हांगकांग द्वीप का अपना स्वतन्त्र कार्यालय था।

इसी प्रकार से जापान, जावा, सुमात्रा, अंडमान टापू, ब्रह्मदेश, इत्यादि सब प्रदेशों में इस संगठन का जाल फैला हुआ था। ऊपर जिनका उल्लेख किया गया है, उन प्रदेशों के प्रमुख कार्यालयों के ऊपर सुदूरपूर्व के भारतीय संगठन का प्रमुख कार्यालय था। जब से नेताजी आए थे, तब से यह कार्यालय 1944 के जनवरी मास की 7 तारीख तक सिंगापुर में ही था। बाद में जब भारत और ब्रह्मदेश की सीमा पर युद्ध करने के लिए भारतीय स्वतन्त्रता सेना 1943 के अन्त में सिंगापुर छोड़कर ब्रह्मदेश की ओर बढ़ी, तब नेताजी तथा अनेक अन्य कार्यकर्त्ताओं ने अपना मुख्य कार्यालय भी युद्धभूमि के जितने निकट हो सके उतने निकट स्थापित करना उचित समझा।

नेताजी ने सन् 1944 के आरम्भ होने से पहले ही भारत पर आक्रमण करके भारतभूमि में प्रवेश करने की घोषणा की थी, परन्तु जापानियों द्वारा प्रत्येक कार्य में विलम्ब करने के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो पाया। सीमा पर जहाँ युद्ध करने की योजना की गई थी, वहाँ पर सेना ठीक प्रकार से पहुँच नहीं पाई थी। इसके साथ ही युद्ध-सामग्री की भी पूर्ण और उचित व्यवस्था नहीं हो पाई थी। सेना को ले-जाने के लिए जो रेलगाड़ियाँ तथा अन्य यातायात के साधनों की आवश्यकता थी, हवाई दल इत्यादि भी, सब जापानियों के हाथ में होने के कारण उनके सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता थी।

परिणामस्वरूप नेताजी ने जो समय इस आक्रमण के लिए निर्धारित किया था, तब तक यह सारी तैयारी न होने के कारण सन् 1944 से पहले **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** भारत में पहुँच नहीं पाई।

सन् 1944 के आरम्भ में ही भारतीय स्वतन्त्रता संघ का प्रमुख कार्यालय सिंगापुर से रंगून में स्थानान्तरित करने का मुख्य उद्देश्य यह था कि ज्यों-ज्यों भारतीय स्वतन्त्रता सेना भारतवर्ष में आगे-आगे बढ़ती जाएगी, वैसे-वैसे स्वतन्त्रता संघ का कार्यालय भी आगे-आगे बढ़ता जाएगा। यह क्रम दिल्ली पर

अधिकार करने तक चलनेवाला था।

भारतीय स्वतन्त्रता संघ के कार्यालय में, चाहे वह ग्राम के संघ का कार्यालय हो अथवा अत्यन्त उच्च केन्द्रीय कार्यालय हो, उन्नीस विभिन्न विभाग होते थे। ग्रामों तथा कस्बों में काम कम होता था, अतः वहाँ के कार्य की देखभाल के लिए थोड़े-से कार्यकर्त्ता ही पर्याप्त माने जाते थे। जो कार्य जितना बड़ा समझा जाता था, उसके लिए उतने ही अधिक लोगों की आवश्यकता होती थी। कार्यकर्त्ताओं की संख्या यद्यपि आवश्यकता के अनुसार कम या अधिक होती थी, फिर भी उन्नीस विभागों का व्यवहार भिन्न-भिन्न प्रकार से रखा जाता था। उनमें से महत्त्वपूर्ण विभागों का यहाँ पर वर्णन कर देना समीचीन होगा।

प्रत्येक संघ के कार्यालय में एक विभाग 'सीलोन डिपार्टमेंट' (लंका विभाग) के नाम से होता था। सुदूरपूर्व में, विशेषतया मलय में, कई पीढ़ियों से लंका के वासी तमिलों की संख्या अधिक है। इन लोगों को जाफना अथवा जाफना-तमिल लोग कहा जाता था। उनकी मातृभाषा तमिल ही होती थी। लंका के सिंहली लोगों से ये लोग सर्वथा भिन्न होते हैं। सिंहली भाषा में संस्कृत के शब्दों की बहुतायात है। विशेषतया वहाँ के रेल-विभाग में तो करीब-करीब वही लोग कार्यरत थे। इनकी भाषा, इनका वंश तथा इनका मूल स्थान भारत में ही है, तदपि भारत के अन्य भारतीय लोगों से स्वयं को भिन्न मानने की तथा एक अलग गुट बनाकर रहने की इन लोगों को आदत भी पड़ गई है।

नेताजी के सिंगापुर आने के एक या दो मास बाद जाफना-तमिल संघ के लोगों ने नेताजी को एक बार अल्पाहार के लिए अपने मध्य बुलाया था। सिंगापुर के समुद्रतट पर स्थित विक्टोरिया हॉल में यह समारोह हुआ था। वास्तव में इन लोगों को स्वयं को भारतीय कहलाने में कोई कठिनाई नहीं थी, परन्तु अन्त तक उन्होंने अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखा। उस समय भाषण देते हुए नेताजी ने कहा था, "आप लोगों ने भारत के स्वतन्त्रता-युद्ध में सम्मिलित होने की जो इच्छा व्यक्त की है, उससे मुझे प्रसन्नता हो रही है, क्योंकि लंका की स्वतन्त्रता तो पूर्णतया भारत की स्वतन्त्रता पर ही निर्भर करती है। यद्यपि लंका कुछ समय तक स्वतंत्र हो गया तथा भारत परतन्त्र ही बना रहा, तब लंका देश अधिक समय तक स्वतन्त्र नहीं रह सकेगा। इसके विपरीत यदि भारतवर्ष स्वतन्त्र हो जाता है तो फिर अंग्रेजों को लंका से भगाने में किंचित् भी समय नहीं लगेगा।"

नेताजी के भाषण का प्रभाव हुआ और जाफना-तमिल लोग उस दिन से भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में सहयोग करने लगे। जब लंका के तमिल युवकों ने भी सेना में सम्मिलित होना आरम्भ कर दिया तो एक स्वतन्त्र 'लंका टुकड़ी' का

गठन कर दिया गया। इस टुकड़ी का प्रशिक्षण सिंगापुर की स्वतन्त्र सैनिक पाठशाला में आरम्भ हो गया।

लंका में पनडुब्बी अथवा किसी अन्य साधन के माध्यम से प्रविष्ट होना, वहाँ जाकर स्वतन्त्रता आन्दोलन को संगठित करना, गुप्त बातों का पता लगाना, उत्पात, अपघात तथा भीतरी बगावत इत्यादि काम करने के लिए बानर सेना तैयार करने का कार्य भी आरम्भ हो गया। जाफना-तमिल लोगों से वार्षिक चन्दा, भेंट-वस्तुएँ तथा सैनिक एकत्रित करने के कार्य के लिए हर भारतीय स्वतन्त्रता संघ में एक स्वतन्त्र 'लंका विभाग' चालू कर दिया गया।

समस्या यह थी कि ''अंग्रेजों ने अपनी कुटिल नीति के अनुसार लंका को भारत से पृथक् कर दिया था। वस्तुतः लंका भी भारत के अन्य प्रान्तों के समान भारत का ही एक भाग है, आप और हम एक ही हैं, और हम स्वयं को भारतीय कहलाने के लिए तत्पर हैं''—इस प्रकार से कहनेवाला जाफना-तमिल लोगों में कोई एक भी व्यक्ति तैयार नहीं था। स्वयं भारतीयों के वंशज तथा तमिल भाषा बोलनेवाले लोग यदि स्वयं को भिन्न मानने लगे हैं तब सिंहली लोग तो स्वाभाविक ही ऐसा मानेंगे।

भारतीय स्वतन्त्रता संघ का एक अन्य महत्त्वपूर्ण, 'रिक्रूट (भर्ती) तथा सैन्य प्रशिक्षण' विभाग था। जितने अधिक सम्भव हो उतने अधिक सैनिकों को प्रवेश दिलाकर उन्हें सैनिक प्रशिक्षण देने का काम इस विभाग का था। सामान्य नागरिकों, बच्चों से लेकर वृद्धों तक, स्त्री-पुरुषों को अपनी-अपनी संघ की शाखा में प्रातः अथवा सायंकाल दो घंटे के लिए जाकर प्राथमिक स्वरूप का सैनिक प्रशिक्षण लेने के लिए प्रेरित करना, विभिन्न सैनिक प्रशिक्षण केन्द्रों में अधिकाधिक सैनिक भर्ती हों इसके लिए ज्यों ही स्थान रिक्त होता था विज्ञापित कर देना तथा अन्य प्रकार से भी प्रचार करना, अधिकारियों के सैनिक प्रशिक्षण-केन्द्र में नया प्रशिक्षण आरम्भ होने से पूर्व योग्य युवकों से आवेदनपत्र आमन्त्रित कर उनका चयन करना, टोकियो के सैनिक प्रशिक्षण के लिए जब प्रशिक्षु भेजे जाते थे तब उस समय उस प्रशिक्षण-क्रम का विज्ञापन देकर योग्य प्रशिक्षुओं का चयन करना तथा उन सबके सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करना इत्यादि सारे कार्य इसी विभाग के होते थे।

उससे सम्बन्धित अन्य कार्य अर्थात् प्रचार प्रशिक्षण केन्द्र के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के आवास एवं खाद्यान्न के प्रबन्ध के साथ-साथ प्रशिक्षण के लिए आवश्यक साहित्य और सामग्री की व्यवस्था करना, ये सब कार्य भी इसी विभाग को करने पड़ते थे। सबसे बड़े केन्द्रीय कार्यालय से इस विभाग के निरीक्षण-

परीक्षण के लिए भारतीय स्वतन्त्रता सेना का एक अधिकारी स्वतन्त्रता संघ को दिया गया था, परन्तु कारणवश उसको सेना का कर्मचारी न मानकर संघ का कर्मचारी माना जाता था।

हम पहले भी उल्लेख कर आए हैं कि 1 जुलाई 1943 के दिन नेताजी के सिंगापुर के प्रथम सार्वजनिक भाषण के उपरान्त कई उत्साही नागरिक सैनिक रूप में नाम लिखवाने के लिए संघ के कार्यालय में आने लगे थे। उस समय इतने सैनिकों को एक साथ सैनिक प्रशिक्षण देना सम्भव नहीं था, अतः अनेक नागरिकों को निराश होना पड़ा था। उन्हें घर वापस जाना पड़ा था। घर जाकर अपने-अपने कार्य में व्यस्त हो जाने के कारण दुबारा सेना में प्रविष्ट होने के लिए उनकी तैयारी नहीं हुई।

इसके अतिरिक्त उस कालावधि में कुछ सैनिक केन्द्रों पर उत्तर भारतीय अधिकारियों का दक्षिण भारतीय सैनिकों के प्रति बुरा व्यवहार, भर्ती करनेवाले अधिकारियों का भी दुर्व्यवहार एवं उनकी ओर ध्यान न देना इत्यादि समाचार बाहर फैलने के कारण सेना में प्रविष्ट होनेवाले नवयुवकों का उत्साह मन्द पड़ गया था।

इस विषय में एक बात का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। एक बार मैं अपने सिंगापुर-स्थित निवासस्थान पर भोजन कर रहा था कि उस समय दक्षिण प्रान्तों के 4-5 युवक मेरे पास एक पत्र लेकर पहुँचे। डरते-डरते उन्होंने मेरे द्वार पर खड़े नौकर से मेरा नाम लेकर पूछा, "क्या इस नाम के सज्जन यहीं पर रहते हैं?" जब नौकर ने स्वीकृति में उत्तर दिया तो वे लोग भयभीत-से वहीं द्वार पर ही खड़े रह गए। खाने की मेज पर बैठा हुआ मैं यह दृश्य देख रहा था। मैंने पत्र ले लिया और पढ़ने पर विदित हुआ कि बैंकाक के मेरे एक परिचित ने इन लोगों को मेरे पास अपना पत्र देकर भेजा था। अपना भोजन समाप्त होने तक मैंने उनको समीप के कमरे में बैठने के लिए कहा।

भोजनोपरान्त जब मैंने उनसे बातचीत की तब उन लोगों ने बड़े दुःखित मन से अपनी करुण कथा सुनाई। उनका कहना था कि वे लोग बैंकाक में अपना व्यवसाय छोड़कर स्वतन्त्रता सेना में प्रविष्ट होने के लिए वहाँ के संघ कार्यालय की ओर से यहाँ भेजे गए थे। यहाँ पर उनकी जान-पहचान का कोई नहीं है। किसी प्रकार रात को अपना सामान रखने को कहीं पर व्यवस्था की। आज प्रातःकाल वे स्वतन्त्रता संघ के मुख्य कार्यालय में गए। उस समय दो बज रहे थे। प्रातःकाल से लेकर तब तक वे लोग खड़े-खड़े प्रतीक्षा ही करते रहे। अब तक उनकी ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया।

होता यह रहा कि जिस किसी के भी पास वे गए, उसने उन्हें किसी अन्य के पास भेज दिया और उस अन्य ने किसी तीसरे अन्य के पास। किसी ने यह नहीं पूछा कि आप कहाँ ठहरे हैं ? खाना खाया या नहीं, खड़े क्यों हैं, आदि पूछना तो दूर की बात थी, किन्तु जिस कार्य के लिए वे आए थे उसके लिए भी कोई उनका उचित मार्गदर्शन नहीं कर रहा था। उन्हें सैनिक स्कूल में प्रविष्ट होकर आगे चलकर अधिकारी प्रशिक्षण केन्द्र में जाना था।

परन्तु वहाँ के अधिकारियों का उग्र तथा ढीठ व्यवहार देखकर उनकी आशाओं और आकांक्षाओं पर पानी फिर गया था और उनका उत्साह क्षीण हो गया था। उन्हें लगा कि अपना जमा-जमाया काम छोड़कर हम लोग यहाँ क्यों आए ? यदि किसी को प्रवेश न देना हो तो न सही, कम से कम हमें अपने नगर को वापस जाने की अनुमति तो दे दो। किन्तु इस बात को सुननेवाला भी वहाँ कोई नहीं था।

इस स्थिति में वे मेरी सहायता लेने के लिए आए थे। मैंने ध्यान से उनकी बातें सुनीं। उत्साह से भरकर, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्राणों का बलिदान करने के लिए तैयार हुए चार युवक एक अधिकारी के दुर्व्यवहार से तंग आकर यदि यह सोचें कि इससे तो अपना व्यवसाय ही अच्छा है तो उनका ऐसा सोचना स्वाभाविक था। स्वतन्त्रता आन्दोलन की इससे बड़ी भला और क्या हानि हो सकती थी ? यदि ये चारों युवक सारी आशा-आकांक्षाएँ त्यागकर वापस गए तो वहाँ जाकर न जाने कितने सैकड़ों-हज़ारों लोगों को अपनी करुण कथा सुनाकर उन सबको स्वतन्त्रता-आन्दोलन से विमुख कर सकते थे!

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार कितने ही लोग निराश होकर लौट गए होंगे तथा इस कारण स्वतन्त्रता-आन्दोलन के कितने ही शत्रुविरोधी उत्पन्न हो गए होंगे।

उन लोगों की यह दुःखभरी कहानी सुनकर मुझे बहुत बुरा लगा। इस प्रकार के निर्धनता और परतन्त्रता से जकड़े लोगों को स्वाभाविक रूप से ही ठाठ-बाट से रहनेवाले धनाढ्य लोगों से एवं अधिकारीवर्ग से डर लगता है, यह जानकर वे एक अधिकारी के बँगले की बैठक में बैठे हैं—इस बात का मैंने उन्हें बिल्कुल भी आभास नहीं होने दिया। मानो वे एक अपने पुराने मित्र से ही अपनी बात कह रहे हों—ऐसा वातावरण मैंने अपनी सहानुभूति से भरे प्रश्न करके उनकी सारी बातें ध्यान से और शान्तिपूर्वक सुनीं। 'नये अधिकारियों के वातावरण' से डरी हुई उनकी स्थिति धीरे-धीरे ठीक हो गई तथा वे शान्ति और अपनत्व से मुझसे बातें करने लगे। बाद में मैंने उनसे कहा, ''आप सब लोग स्वतन्त्रता के

लिए प्राणों को अर्पण करने के लिए आए हैं न? तो फिर अधिकारियों के इतने-से उखड़े व्यवहार से उम्मीद हारकर वापस मत जाइए। जिसने अपने प्राणों की आहुति देने की ठानी हो, उसे उनके साथ ही आदर-अनादर इत्यादि मानसिक व्यथाओं को भी दूर रखना चाहिए। तभी आपको सच्चा देशभक्त कहा जाएगा। नेताजी ने यह आन्दोलन एक ऊँचे तथा पवित्र आदर्श को लेकर आरम्भ किया है, परन्तु इस आन्दोलन से सम्बन्धित विभिन्न कार्यकर्त्ताओं के स्वभाव में एक जादू की छड़ी घुमाने के समान अचानक कैसे परिवर्तन किया जा सकता है? हमारे नेताजी की ओर ही देखिए! हिन्दुस्तान में कई बार जेल जा चुके हैं। उन्हें आज तक कितने अपमान सहने पड़े होंगे?''

इस प्रकार से जब मैंने उन्हें समझाया तब ''हम निराश होकर जल्दबाजी में लौटने की भूल कर रहे थे'' ऐसा उन्हें लगने लगा। उस समय वे शान्ति से विचार करने की मन:स्थिति में आ गए। पहले उनके मन का डर और बाद में उनकी निराशा का उच्चाटन करने के उपरान्त मैंने उनसे कहा, ''अब आप जिस उद्देश्य के लिए स्याम से यहाँ आए हैं, उस विषय में जितनी सम्भव हो सकी मैं आपकी सहायता करूँगा।''

उसके बाद मैंने टेलीफोन करके सैनिक स्कूल के सैनिक अधिकारियों को उनके विषय में बताया। अगले एक-दो दिनों में ही उनकी व्यवस्था हो गई। उन युवकों में से एक अधिकारियों के स्कूल के प्रशिक्षण के लिए चुन लिया गया। अन्य दो युवक स्वतन्त्र सैनिक पाठशाला में तथा शेष दो व्यक्ति सेलेतार प्रशिक्षण केन्द्र में प्रशिक्षण के लिए चुने गए। केवल सहानुभूति के दो शब्दों से कितना काम हो जाता है! अनुत्तरदायी वृत्ति के लोगों ने बदलते हुए समय के समान अपने आचरण में परिवर्तन न करके नेताजी के इस पवित्र कार्य को बहुत ही हानि पहुँचाई थी। ऐसी अनेक घटनाएँ उस समय हुई थीं।

तीसरा महत्त्वपूर्ण विभाग है 'आर्थिक विभाग'। भारतीय स्वतन्त्र सरकार की स्थापना होने के बाद सबके परामर्श से यह निश्चय किया गया था कि प्रतिवर्ष प्रति भारतीय नागरिक से भारतीय स्वतन्त्र सरकार के व्यय के लिए और स्वतन्त्रता के युद्ध-संचालन में होनेवाले व्यय के लिए, उसके अर्जन का दस प्रतिशत प्राप्त किया जाय। प्रत्येक व्यक्ति की क्या सम्पत्ति है और उसकी आय कितनी है—इस सबका पता लगाकर उस पर कर निर्धारित करने के लिए केन्द्रीय तथा स्थानीय समितियाँ स्थापित की गई थीं।

स्थानीय समितियों के कार्य पर ध्यान देना, उनके कार्य में आनेवाली बाधाओं को दूर करना, उनके विरुद्ध की जानेवाली शिकायतों का निराकरण

करना आदि-आदि सब केन्द्रीय कार्यालय का दायित्व था।

पूर्व-वर्णित कर-वसूली के विषय में एक रोचक कथा का स्मरण हो रहा है। स्याम में एक व्यापारी की अनेक दुकानें हैं। उसने नेताजी से शिकायत की कि उसकी सम्पत्ति का मूल्यांकन बहुत अधिक किया गया है। नेताजी ने उससे पूछा कि उसकी सम्पत्ति कितनी होगी? उसने कह दिया कि लगभग दो लाख की। नेताजी ने कहा—यदि ऐसा है तो हमारे पास जो जमा पूँजी है, उसमें से हम आपको दो लाख देकर आपकी सारी सम्पत्ति क्रय कर लेते हैं। उसके बाद आप उस दो लाख में से दस प्रतिशत कर के रूप में उस समिति को प्रदान कर देना। नेताजी की बात सुनकर वह व्यापारी हक्का-बक्का रह गया। उसका परिणाम यह हुआ कि कर-निर्धारण समिति ने उस पर जो कर लगाया था, दूसरे दिन ही उसने उसका भुगतान कर दिया था। वास्तव में उस समय उसकी सम्पत्ति का मूल्य बीस-पच्चीस लाख के लगभग होगा।

नेताजी जब-जब भी समारोह में बोलते थे, तब-तब उनको अनेक लोग कुछ न कुछ भेंट दिया करते थे। इनमें नकद राशि, मूल्यवान् वस्तु तथा आभूषण आदि होते थे। उनकी नीलामी से मिलनेवाले पैसे का हिसाब भी उसी विभाग के पास होता था। कभी-कभी तो इन भाषणों के अवसर पर देशप्रेम से भरे ग्वाले और किसान आदि लोग अपनी वस्तुएँ नेताजी के चरणों में अर्पण कर दिया करते थे और स्वयं भी सेना में प्रविष्ट होने की इच्छा व्यक्त करते थे।

सुदूरपूर्व के सब देशों के कार्यालयों में एकत्रित हुई धनराशि को अगले मास के प्रथम सप्ताह में केन्द्रीय कार्यालय में जमा करवाने के निर्देश थे। उसमें से एक भी पैसा उन्हें खर्च करने का अधिकार नहीं था। उनके अपने व्यय के लिए केन्द्रीय कार्यालय निर्धारित समय पर निर्धारित राशि दे दिया करता था। व्यय के लिए दिए जानेवाले पैसे के विषय में आगाह किया जाता था कि वह उचित कारण के लिए ही व्यय जाए। कभी-कभी केन्द्रीय कार्यालय उनकी माँग पर कटौती भी कर दिया करता था।

प्रतिवर्ष के आय-व्यय के ब्यौरे का आनुमानिक बजट तैयार करना, भारतीय स्वतन्त्रता संघ के व्यय के लिए प्रतिमास रुपया देना, प्रति तीन मास बाद अपने निरीक्षकों को स्थानीय कार्यालयों में भेजकर हिसाब-किताब की जाँच करवाना भी केन्द्रीय कार्यालय का ही काम था। स्वयं नेताजी अथवा केन्द्रीय कार्यालय का कार्य देखनेवाले मुख्य अधिकारी के हस्ताक्षर के बिना किसी को पैसा नहीं दिया जाता था।

विभिन्न सैनिक प्रशिक्षण केन्द्रों, भारतीय स्वतन्त्रता सेना, तथा संघ के

कार्यालयों में छात्रावास में रहनेवाले संघ के कार्यकर्त्ताओं पर जो अन्नादि लगता था उसकी व्यवस्था करना, भोजन बनाने के बर्तनों की व्यवस्था करना; वस्त्र और लेखन-सामग्री जहाँ जिस प्रकार प्राप्त हों उसे जमा करना, जावा, सुमात्रा, चीन, इण्डोचाइना, स्याम, ब्रह्मदेश इत्यादि देशों में इस सामग्री को अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से उसे खरीदवाकर जलयान, वायुयान और रेलगाड़ी से लाने के लिए जापानी अधिकारियों के माध्यम से व्यवस्था करना आदि काम स्वतन्त्रता संघ के सामान की व्यवस्था करनेवाले विभाग के पास होता था।

इसके साथ-साथ स्वतन्त्रता सेना और संघ के प्रचार की व्यवस्था करना, आकाशवाणी केन्द्र, कला विभाग, छात्रावासों की व्यवस्था करना इत्यादि अनेक विभाग संघ के कार्यालयों के अधीन होते थे। स्वतन्त्रता-संग्राम में नियुक्त इन पच्चीस लाख नागरिकों के इस छोटे-से देश की यह व्यवस्था कितनी नूतन, कितनी स्फूर्तिदायक, उत्साहवर्द्धक तथा प्रतिदिन नए अनुभवों से परिपूर्ण होगी, इस बात की तो हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं।

प्रत्येक संघ-कार्यालय में वाहनों के लिए एक अलग विभाग होता था। उस विशेष कार्यालय के सामर्थ्य के अनुसार उस विभाग के पास मोटरगाड़ियाँ, साइकिल-रिक्शा इत्यादि वाहन होते थे। इन सब वाहनों को ठीक से रखना, उचित समय पर सरकार से उनके परवाने व्यवस्थित करवाना, उनके लिए पेट्रोल, टायर-ट्यूब इत्यादि सामग्री जमा करके रखना, आने-जानेवालों तथा संघ के कार्यकर्त्ताओं को संघ के काम के लिए लाने तथा पहुँचाने की व्यवस्था करना, अपने-अपने ओहदे के अनुसार वाहनों की व्यवस्था करना आदि काम इस विभाग के अधीन होता था।

संघ के सारे कार्यकर्त्ता स्वतन्त्रता सेना की भाँति ही खाकी वर्दी में अपने-अपने काम पर आया करते थे। खाकी कोट की दाईं ओर छाती पर जिस पर हिन्दुस्तान का मानचित्र अंकित था, ऐसा छोटा-सा पीतल का बना संघ का बिल्ला हर कोई लगाता था। सैनिकों की भिन्न श्रेणी प्रदर्शित करनेवाली कन्धे पर लगी हुई पट्टियों के समान इनके कोई चिह्न नहीं होते थे। संघ का बिल्ला जिसकी छाती पर हो, तथा जिसने खाकी वर्दी पहनी हो, वही संघ का कार्यकर्त्ता कहलाता था। परन्तु वह किस श्रेणी का अथवा कौन-से विभाग में कौन-सा काम करता होगा, यह जानने का कोई संकेत नहीं होता था।

सब लोग परस्पर 'जय हिन्द' अभिवादन करते थे। इस स्वतन्त्रता संघ के बिना अन्य किसी जातीय, धार्मिक अथवा किसी अन्य नींव पर आधारित संस्था को राजनीति में भाग लेने की अनुमति नहीं थी।

अध्याय उन्नीस

भारतीय स्वतन्त्रता सेना

सुदूरपूर्व में स्वतन्त्रता-आन्दोलन जिन दो प्रमुख संगठनों ने चलाया था, उनमें से एक था भारतीय स्वतन्त्रता संघ। यह सुदूर में रहनेवाले भारतीयों का संघ था, जिसका वर्णन हमने विगत अध्याय में कर दिया है। इस अध्याय में **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** (आज़ाद हिन्द फौज) के विषय में वर्णन करेंगे।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना के अधिकारियों में सबसे ऊपर स्थित नेताजी से लेकर साधारण सिपाही तक विभिन्न श्रेणियों के अनेक अधिकारी होते थे। सेना में जिस किसी को जो पद दिया गया हो, वह उस पद के योग्य हो अथवा न हो, उसकी फौजी वर्दी पर अंकित संकेतों से स्पष्ट हो जाता था। साधारण सैनिक से लेकर सेनाध्यक्ष तक के अधिकारीवर्ग में अपना स्थान-विशेष कौन-सा है, यह प्रत्येक को तथा उस सेना के अन्य लोगों को भली प्रकार ज्ञात होता था। कोई एक व्यक्ति किसकी आज्ञा का पालन करेगा अथवा उस व्यक्ति की आज्ञा का पालन कौन करेगा, उसका अभिवादन कौन करेगा अथवा वह किसका अभिवादन करेगा, ये बातें सेना में अपने ओहदे के कारण निर्धारित होने से वहाँ सन्देह, वाद-विवाद अथवा झगड़े के लिए कोई स्थान ही नहीं होता। वरिष्ठ जो कहेगा, वह उससे कनिष्ठ वर्ग के व्यक्तियों को मानना ही पड़ेगा। न मानने पर सैनिक व्यवस्था के अनुसार दण्ड भोगना पड़ता है--यह सेना का नियम है।

इस सबके परिणामस्वरूप सेना में अनुशासन अच्छा रहता है। क्रान्ति के समय नागरिकों के संगठन में भी इसी प्रकार पदों का निर्धारण करके अनुशासन रखना चाहिए, अन्यथा हर कोई स्वयं को बड़ा समझे तो उससे केवल वाद-विवाद बढ़ता है तथा काम वैसे ही पड़े रहते हैं।

अभिप्राय यह कि इस प्रकार के हर किसी आन्दोलन में सब कार्यकर्त्ताओं को रात-दिन यह पाठ पढ़ाना चाहिए कि ''यहाँ पर आकर आप अपना व्यक्तित्त्व भूल जाइए। अपने से कनिष्ठ से भी बड़ी सभ्यता से, नम्रता से तथा आदरपूर्वक

व्यवहार कीजिए, क्योंकि ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति को मस्तिष्क दिया है। कोई एक व्यक्ति यदि किसी अधिकार के पद पर नहीं है तो उसे अपने से कम बुद्धि का मत समझिए। हमें जो अधिकार-पद दिया गया है वह हमारा न होकर उसका है। अतः उस बात से हम कोई बहुत बड़े हो गए हैं, ऐसी बात अपने मन में कभी न लाइए। धन प्राप्त करने की आशा मत रखिए। अधिकार के लालच का त्याग कीजिए। मान-सम्मान तथा गर्व-भावना का भी त्याग कीजिए।''

सुदूरपूर्व के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में, संघ में अथवा सेना में भी सौभाग्य से इस प्रकार की मनोवृत्ति के लोग बहुत ही कम थे। इस विषय में जहाँ तक नेताजी के स्वभाव का प्रश्न है, वह तो आदर्शपूर्ण ही था। प्राथमिक स्तर पर यदि ऐसी सीख नीचे से लेकर ऊपर तक सबको दी गई होती तो स्वतन्त्रता संघ के अथवा सेना के कुछ अधिकारियों ने अपने गर्वयुक्त व्यवहार के कारण अनेक लोगों का जीवन जैसे दूभर कर दिया था तथा अनेक लोगों को स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने से अनजाने में परावृत कर दिया था, वैसा न हो पाता।

स्वतन्त्रता-सेना की संख्या 40,000 थी—यह हम पहले ही बता चुके हैं। जब नेताजी सिंगापुर आए थे, तब युद्धबन्दी सैनिकों की संख्या करीब 18,500 थी। नेताजी ने युद्धबन्दियों को सम्बोधित करके उनकी छावनियों में जो भाषण दिए, उनसे 1500 सैनिक और सम्मिलित हो गए थे। तदनन्तर विभिन्न सैनिक केन्द्रों पर लगभग बीस हजार नागरिक सेना में भर्ती होकर सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सैनिक बन गए थे। इस प्रकार बीस हजार पुराने और बीस हजार नए सैनिक मिलाकर चालीस हजार भारतीय सैनिकों की भारतीय स्वतन्त्रता सेना तैयार हो गई।

पुराने सैनिक अधिकतर पंजाबी तथा कुछ अन्य प्रान्तों के थे। उनमें लगभग दो हजार महाराष्ट्रियन थे। नये सैनिक अधिकतर तमिल थे। भारतीय स्वतन्त्रता सेना में दस-दस हजार के तीन विभाग थे। बचे हुए दस हजार में से कुछ चौथे विभाग में सम्मिलित किये जाने थे तो कुछ किसी भी विभाग में सम्मिलित न होकर स्वतन्त्रता सेना की सबसे बड़े केन्द्रीय कार्यालय के शासन के अन्तर्गत ही रह रहे थे।

पहले विभाग के मुख्य अधिकारी मुहम्मद जमान क्यानी थे। दूसरे विभाग के प्रमुख अजीज अहमद तथा तीसरे विभाग के प्रमुख थे गणपतराम नागर। ये तीनों आरम्भ में जब अपने-अपने विभाग के मुख्याधिकारी बने थे, तब इन तीनों का ओहदा लेफ्टिनेंट कर्नल का था। आगे चलकर क्यानी पहले कर्नल बने, बाद में मेजर जनरल के पद पर पहुँचे। श्री नागर कर्नल बने।

हर विभाग में गुरिल्ला युद्ध में निपुण हजार-हजार सैनिकों की तीन टुकड़ियाँ, एक तोपखाना सँभालनेवाली सवा सौ लोगों की टुकड़ी, पुल और रास्ते इत्यादि तैयार करनेवाले इंजीनियरिंग विभाग के लोगों की एक टुकड़ी, मोटर-चालकों की एक टुकड़ी, फौलादी गाड़ियों तथा टैंकों की एक टुकड़ी, अनाज की व्यवस्था करनेवालों की एक टुकड़ी, युद्ध-सामग्री, शस्त्रास्त्र, यूनिफॉर्म इत्यादि की व्यवस्था करनेवाली एक टुकड़ी, एक रेजीमेंट चिकित्सा-विभाग की, एक जासूसों की रेजीमेंट होती थी।

इस प्रकार किसी भी सेना का प्रत्येक विभाग सब दृष्टि से परिपूर्ण और स्वावलम्बी होता था। उस समय अंग्रेजों का एक डिविजन लगभग पन्द्रह हजार सैनिकों का होता था। मुगल बादशाहों जैसे बहुत विस्तार, फैलाव तथा प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था के बिना उन्हें युद्ध करना ही नहीं आता था। इसके विपरीत जापानी टुकड़ियाँ छोटी तथा सँभालने में सरल होने के कारण उन्हें घने जंगलों में लड़ना आसान हो जाता है।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना के दस हजार सैनिकों की टुकड़ियाँ जापानी सेना के गठन से प्रभावित होकर ही तैयार की गई थीं तथा भारतीय सैनिकों की कम-संख्या के कारण भी ऐसा करना आवश्यक हो गया था। इतनी बड़ी अंग्रेजी सेना का सामना यह गनिमी युद्ध के बिना किसी अन्य प्रकार से सम्भव ही नहीं था। अतः भारतीय स्वतन्त्रता सेना में जितनी भी पद्धतियों की टुकड़ियाँ थीं, उनमें से सबको खुले मैदान में युद्ध करने का प्रशिक्षण न देकर जंगल-युद्ध अर्थात् गनिमी युद्ध का ही प्रशिक्षण दिया गया था। खुले मैदान में युद्ध करने का प्रशिक्षण जिन्होंने लिया हो, ऐसी टुकड़ियाँ जंगल की लड़ाई में गड़बड़ा जाती हैं। जंगल-युद्ध के कष्ट भी सहन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। परन्तु जंगल-युद्ध में निपुण लोग मैदानों के युद्ध में भी अपनी वीरता का प्रदर्शन उसी प्रकार कर सकते हैं। भारत और ब्रह्मदेश की सीमा का भाग जंगलों से भरा, पहाड़ी क्षेत्र था। वहाँ युद्ध करने के लिए सैनिकों को जंगल-युद्ध का प्रशिक्षण देना आवश्यक था।

सामान्यतया यह देखा गया है कि पीछे हटनेवाली शत्रु की सेना अपने वापस जाने के मार्ग में बारूद बिछाकर जाया करती है। उसका कारण यही है कि विपक्षी सेना तुरन्त आकर उस पर आक्रमण न कर दे। इन बारूदी मार्गों से जब शत्रु की सेना अपने शस्त्रास्त्र लेकर भगोड़ी सेना का पीछा करती है तो बारूद के फटने से उसकी अत्यधिक हानि होती है। इस बारूदी आक्रमण से बचने के लिए आक्रमणकारी सेना पहले इंजीनियरिंग विभाग से आगे का मार्ग साफ करवाया करता है।

जंगलों को काटकर मार्ग बनाना, छोटे झरनों तथा नदियों पर जल्दी से पुल तैयार करना, शत्रुओं का मार्ग अवरुद्ध करने के लिए ऐसे पुलों को ध्वस्त करना, बारूदों की सुरंगें बिछाना आदि का काम इंजीनियरिंग विभाग के लोगों का होता है।

इन लोगों का काम बहुत ही खतरों से भरा तथा कठिन होता है, क्योंकि शत्रु द्वारा बिछाई सुरंगों के कारण सदा ही विस्फोटक पदार्थों का भय बना रहता है। युद्ध के समय जब एक डिविजन के सैनिकों को विभिन्न स्थानों पर बाँटा जाता है, तब इस इंजीनियरिंग टुकड़ी के लोगों को बाँटकर थोड़े-थोड़े लोगों को हर पदाति सैनिकों की टुकड़ी के साथ भेजा जाता है।

मोटरगाड़ियों के पथक का काम होता है सैनिकों की टुकड़ियों को युद्धभूमि तक पहुँचाना, बीमार सैनिकों को पीछे वापस लाना, खाद्यान्न, पेट्रोल, युद्धसामग्री आदि लाना और ले-जाना। इन लोगों को वायुयानों से खतरा होता है। जब ये सामग्री लेकर जा रहे होते हैं तो पंक्तिबद्ध होकर जाते हैं जिससे शत्रु के वायुयान सरलता से देखकर अनुमान लगा लेते हैं और इन पर बम-वर्षा कर इनको नष्ट कर देते हैं।

फौलादी गाड़ियों तथा टैंकों का प्रयोग विशेषतया समतल धरती पर होता है। घने जंगलों, ऊँचे-नीचे खड्डों, पर्वतों और खाइयों आदि स्थानों पर इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। कई बार महत्त्वपूर्ण रास्तों एवं रेल-मार्गों के आसपास खन्दक खोदकर अथवा सुदृढ़ सीमेन्ट-कंकरीट या पत्थर के बुर्ज बनाकर उनमें शत्रु के सैनिक छिप जाते हैं और इनका मार्ग रोक लेते हैं। ऐसे मार्गों पर फौलादी गाड़ियाँ तथा टैंक भेजकर शत्रु के उन बुर्जों और खन्दकों पर बारूद की वर्षा करके उन्हें नष्ट करवाया जाता है। इस प्रकार शत्रु-सैनिक जब वहाँ से भाग जाते हैं तब अपनी सेना उस मार्ग से भेजी जाती है।

अनेक बार ऐसा भी होता है कि इन टैंकों के पीछे-पीछे सैनिक टुकड़ियाँ दस-पन्द्रह की संख्या में चलकर आगे सरकती रहती हैं। शत्रुओं की गुफा के समीप पहुँचने पर वे शत्रुओं पर टूट पड़ते हैं। टैंक अथवा फौलादी गाड़ी के चालक के पास जो दूसरा सैनिक बैठा होता है, उसकी नाक की सीध में हाथी की सूँड के समान मशीनगन की एक नली बाहर को निकली होती है। शत्रुओं पर आक्रमण करते समय अन्दर बैठे हुए सैनिक उस मशीनगन को चलाकर सामनेवाले शत्रु पर गोलियाँ बरसा सकते हैं।

इसके साथ ही फौलादी गाड़ियों तथा टैंकों के ऊपर की ओर बने हुए गोल छेद से सिर बाहर निकाल गोलियाँ बरसा सकते हैं, अर्थात् छोटे किन्तु सुदृढ़

परकोटे से घिरे हुए स्थान तैयार करके उसमें छिपकर बैठे सैनिकों के पास पहुँचकर तथा उन्हें वहाँ से खदेड़कर, पैदल आनेवाले सैनिकों का मार्ग निर्विघ्न बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य मुख्यतया ये फौलादी गाड़ियों की टुकड़ियाँ करती हैं।

अनाज की व्यवस्था का विभाग युद्धभूमि पर किसी मध्यवर्ती स्थान पर अपना गोदाम बनाकर वहाँ से विभिन्न टुकड़ियों को अन्न-सामग्री पहुँचाता है। अधिकांशतया हर टुकड़ी किसी निश्चित किये हुए दिन अपने सैनिकों को, मोटर-वाहनों अथवा बैलगाड़ियों के साथ भेजकर सप्ताह की, मास की अथवा दो-तीन मास तक की खाद्य-सामग्री मँगवाकर रख लेते हैं। शत्रुओं के वायु-आक्रमण से बचाया जा सके। यह गोदाम ऐसे स्थान पर बनाया जाता है। यदि ऐसा सन्देह हो जाए कि शत्रुओं के जासूस इस स्थान के विषय में शत्रु को सूचना दे देंगे तो फिर रातोंरात उस गोदाम को किसी अन्य सुरक्षित स्थान पर ले-जाना पड़ जाता है। वर्षा से उसके बचाव की भी व्यवस्था करनी होती है। सामग्री समाप्त होने से पूर्व उसकी पूर्ति करने की व्यवस्था करनी होती है और उसका सारा विवरण भी इस विभाग को रखना पड़ता है।

इस विभाग के समान ही युद्ध-सामग्री की व्यवस्था करनेवाला विभाग भी सीमा के किसी मध्यवर्ती स्थान पर अपना केन्द्र स्थापित कर लेता है। अधिकतर यह केन्द्र ऐसे स्थान पर अथवा उस बस्ती के बहुत निकट ही बनाए जाते हैं, यातायात के अच्छे साधन जहाँ उपलब्ध हों, जिससे सामान लाने तथा ले-जानेवाली मोटरगाड़ियाँ इत्यादि वाहनों का काम आसान हो जाता है।

युद्ध की सीमा से टूटकर आई हुई युद्ध-सामग्री की ठीक प्रकार से जाँच करके उसमें से जो उपयोगी हो, ऐसी वस्तु अथवा भाग को निकालकर उसकी मरम्मत करके तेल इत्यादि लगाकर चालू कर देने, खराब हुई तोपों-बन्दूकों इत्यादि शस्त्रों की मरम्मत करने के लिए इस विभाग में एक छोटा-सा कारखाना भी बनाया जाता है। सीमा पर स्थित सेना के पास जितनी तोपें, पिस्तौलें, बन्दूकें इत्यादि शस्त्र होते हैं उतनी मात्रा में इस प्रकार का बारूद निरन्तर प्रचुर मात्रा में रखना पड़ता है।

शस्त्रों के टूटने-फूटने पर उस-जैसे अन्य शस्त्रों की व्यवस्था करनी पड़ती है। उसके बाद वस्त्र, बूट, लोहे की टोपियाँ, आदि अनेक आवश्यक वस्तुओं का अनुमान लगाकर उस परिमाण में उसकी व्यवस्था करके रखनी पड़ती है। भारतीय स्वतन्त्रता सेना के पास अंग्रेजों के समान अनगिनत कारखाने, बहुत-सी सामग्री, पर्याप्त धन तथा जितने चाहे उतने सैनिक न होने के कारण सैनिकों को फटे हुए कपड़ों में पैबन्द लगाकर फिर से उन्हीं को प्रयोग में लाना, बूटों की भी मरम्मत

करवाकर उन्हें ही पहने रहना, इस प्रकार निर्धनों की भाँति जीवन चलाना पड़ता था। अधिकतर इस प्रकार युद्ध-सामग्री की व्यवस्था करने का दायित्व केन्द्र का होता है।

युद्ध के मोर्चे पर जासूसों की टुकड़ी के अनेक विभाग करके उन्हें विभिन्न पैदल सैनिकों की टुकड़ियों के साथ जोड़ दिया जाता था। ये जासूस अनेक प्रकार के वेश धारण कर, अनेक प्रकार के नाटक करके, शत्रु से व्याप्त प्रदेशों में जाकर शत्रुओं के सैनिकों की संख्या, उनके शस्त्र, वाहन, उनकी भावी योजनाएँ, आदि-आदि सभी उपयोगी बातों की जानकारी प्राप्त करके आते थे। इस जानकारी के आधार पर उस टुकड़ी को अपनी योजना बनाना आसान हो जाता था। विशेषतया साधु अथवा वैरागी बनना, मृतक की अर्थी बनाकर शत्रुओं के प्रदेश में प्रवेश करना इत्यादि अनेक प्रकार के करतब ये जासूस दिखाया करते थे।

युद्ध के समय में साधुओं के वेश में भारत में सुदूरपूर्व से इतने जासूस आए कि अंग्रेज़ उनसे घबरा गए थे। युद्ध समाप्त होने पर सुदूरपूर्व में रहनेवाले सनातनी वृत्ति के, देश से निकाले गए उड़ीसा के निर्धन लोग जब इम्फाल से भारत वापस आने लगे, तब उन्हें भी जासूस मानकर उन बेचारों को भारत की सीमा में आने से अंग्रेज अधिकारी रोकते थे। अन्य लोगों को आने दिया जाता

मोर्चे पर तैनात सेना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण विभाग 'सिगनल कोर' (गुप्त सन्देश भेजनेवाली टुकड़ी) होता है। एक विशेष शब्द के ये संकेत ऐसे हर सेना में विभिन्न भाषाओं के अक्षरों पर आधारित होते हैं। इन संकेतों के द्वारा बेतार के तारों से, पीछे स्थित अपने अधिकारियों से, कार्यालयों से, सारे संगठन से उन गुप्त संकेतों की सहायता से निरन्तर सम्पर्क साधकर मोर्चे की स्थिति एवं आवश्यक बातों का उनको ज्ञान करवाना तथा उनकी आज्ञा को अपने अधिकारियों तक पहुँचाना, इस टुकड़ी का काम होता था।

इस प्रकार के भारतीय स्वतन्त्रता सेना के हर डिविजन के विभाग होते थे। डिविजन में प्रमुख अधिकारी को 'डिविजनल कमाण्डर' कहा जाता है। मोर्चे के पीछे कुछ दूरी पर किसी केन्द्रीय स्थल पर इस डिविजन के अधिकारी का मुख्य कार्यालय होता है। इसमें चिकित्सा-विभाग, युद्ध-सामग्री की व्यवस्था का विभाग, खाद्यान्न विभाग, नियुक्ति आदि का विभाग, ऐसे अनेक विभाग होते हैं। उस डिविजन की विभिन्न टुकड़ियों की कई प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का दायित्व इन विभिन्न विभागों का होता है। डिविजनल कमाण्डर के नीचे हर विभाग का एक-एक मुख्य अधिकारी होता है।

इस डिविजन में स्थित पदाति टुकड़ियाँ तथा अन्य जो टुकड़ियाँ होती हैं, उनके भी इसी तरह के परन्तु कुछ छोटे कार्यालय होते हैं। उन कार्यालयों में भी इसी प्रकार के विभाग होते हैं। हर डिविजन में पैदल सैनिक, टैंक तथा फौलादी गाड़ियों की टुकड़ियाँ, तोपखाने और युद्ध करनेवाली टुकड़ियाँ होती हैं; उन्हें रेजिमेन्ट कहते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि भारतीय स्वतन्त्रता सेना के हर डिविजन में साधारणतया तीन पैदल सैनिकों की टुकड़ियाँ होती थीं। ब्रह्मदेश में जिन्हें पकड़ा गया तथा वर्ष 1945 के अन्त में दिल्ली के लाल किले के मुकद्दमे में जो प्रसिद्ध हुए, वे शाहनवाज़ खान, सहगल तथा ढिल्लों, ये सभी इस प्रकार का जंगल-युद्ध लड़नेवाली पैदल टुकड़ियों के प्रमुख अधिकारी थे।

शाहनवाज खान क्रमांक-1 की पैदल टुकड़ी के प्रमुख थे। इस टुकड़ी को 'सुभाष रेजिमेन्ट' भी कहा जाता था। पहली चार पैदल सैनिकों की टुकड़ियों को सुभाष, गांधी, नेहरू, आजाद नाम दिए गए थे। कागजों तथा बेतार के तार के सन्देशों में उनका क्रम से 1-2-3-4 उल्लेख किया जाता था। ढिल्लों 4 क्रमांक की टुकड़ी के तथा सहगल 5 क्रमांक की टुकड़ी के प्रमुख अधिकारी थे।

एक डिविजन में तीन पैदल सैनिकों की टुकड़ियाँ तथा अन्य तोपखानों, फौलादी गाड़ियों की टुकड़ियाँ अथवा रेजिमेन्ट्स होते थे। शाहनवाज, सहगल तथा ढिल्लों इन जैसे प्रत्येक रेजिमेन्ट के अलग-अलग अधिकारी होते थे। उन्हें 'रेजिमेन्टल कमाण्डर' कहा जाता था। ये सब रेजिमेन्टल कमाण्डर अपनी-अपनी डिविजन के कमाण्डर के नीचे काम करते थे। तीनों डिविजनल कमाण्डर जनरल जगन्नाथराव भोंसले के अधिकार के नीचे थे। इन सब पर भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मुख्य सेनापति 'सुभाषचन्द्र बोस' सर्वाधिकारी थे।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना का केन्द्रीय कार्यालय सिंगापुर में थॉमसन रोड पर था। आगे सन् 1944 के आरम्भ के जनवरी मास में स्वतन्त्रता-युद्ध शीघ्र ही आरम्भ होगा, अतः स्वतन्त्रता संघ का प्रमुख कार्यालय मोर्चे के समीप होना चाहिए, इसलिए उसे सिंगापुर से रंगून ले-जाया गया और फिर उसी प्रकार स्वतन्त्रता सेना का कार्यालय भी सिंगापुर से रंगून ले-जाया गया। आगे इम्फाल तक का टापू जैसे-जैसे स्वतन्त्रता सेना के अधिकार में आता गया, वैसे-वैसे स्वतन्त्रता सेना का केन्द्रीय कार्यालय भी पहले उत्तरी ब्रह्मदेश के मेमिओ नगर में तथा बाद में भारत की सीमा के अन्दरूनी गाँव कोहिमा में ले-जाया गया।

इस मध्यवर्ती केन्द्रीय कार्यालय में सत्ता का विभाजन कुछ इस प्रकार था—



ले०क० शाहनवाज सन् 1943 के वर्ष के अन्त तक युद्ध-खाते के मुख्य अधिकारी के रूप में कार्य देखते रहे थे। बाद में सुभाष रेजिमेन्ट के मुख्याधिकारी के रूप में उनकी नियुक्ति युद्ध के मोर्चे पर हो गई।

मेजर प्रेमकिशन सहगल, सन् 1944 तक सेना-सचिव के रूप में इस खाते का काम देखते रहे थे। बाद में रेजिमेन्टल कमाण्डर के रूप में उनकी बदली मोर्चे पर हो गई।

इस मध्यवर्ती केन्द्रीय कार्यालय के अधीन विभिन्न विभाग होते थे। विभाग के मुख्य अधिकारी का भी अपना एक कार्यालय होता था। जिन विभागों का वर्णन ऊपर किया गया है, उनमें भी उसी प्रकार के विभाग होते थे तथा उनके नीचे विभिन्न लड़ाऊ टुकड़ियाँ तथा पैदल सैनिकों की टुकड़ियाँ होती थीं। इन टुकड़ियों के रेजिमेन्ट के वरिष्ठ अधिकारियों के भी केन्द्रीय कार्यालय होते थे। हर डिविजन, रेजिमेन्ट, बटालियन, कम्पनी तथा सेक्शन, इस प्रकार के क्रम से विभाजित होते थे।

कोई भी आज्ञा ऊपर से नीचे तक उस विभाग के वरिष्ठ अधिकारी के माध्यम से आती थी। इतनी बड़ी सेना का संचालन करना, विभिन्न टुकड़ियों को

किस मोर्चे पर भेजा जाए यह निर्धारित करना, उनकी शस्त्र-सामग्री और नक्शे आदि अन्यान्य सामग्री किस प्रकार की होनी चाहिए, उनका सैनिक प्रशिक्षण जंगलयुद्ध का होना चाहिए अथवा किसी अन्य प्रकार का, युद्ध का तन्त्र इत्यादि जो बातें होती हैं वे सब मध्यवर्ती केन्द्रीय कार्यालय के युद्ध-खाते की ओर से होती हैं। उनके रहने की, खाने-पीने की, वस्त्रों की, मोर्चे पर जाने के आवागमन के साधन इत्यादि की व्यवस्था इन सब बातों का ध्यान केन्द्रीय कार्यालय को रखना पड़ता था।

बड़ों की आज्ञा का पालन न करनेवाले ढीठ सैनिकों को पकड़कर बन्दी बनाना, शराब पीकर ऊधम मचानेवालों को पकड़ना, सेना के संचालन के समय रास्तों तथा अन्यान्य स्थानों की देख-रेख करना, कई प्रकार के अपराध करनेवाले सैनिकों को ढूँढकर उन्हें पकड़ना, इन बातों के लिए हर सेना में उस सेना का एक सैनिक पुलिस विभाग होता है। यह विभाग केन्द्रीय कार्यालय के अनेक विभागों में से एक होता है। प्रत्येक डिविजन तथा रेजिमेन्ट के साथ इस केन्द्रीय पुलिस की एक टुकड़ी व्यवस्था बनाए रखने के लिए जोड़ी जाती है, या फिर डिविजन अथवा रेजिमेन्ट अपने ही कुछ सैनिकों को सैनिक पुलिस बनाकर उन पर इस व्यवस्था का भार सौंप देती हैं।

न्याय-विभाग के पास अपराधियों की जाँच-पड़ताल करके उनके साथ उचित न्याय करना, दण्ड देना, सैनिक विधि-विधान बनाना, नियमों का पालन हो रहा है अथवा नहीं इसे देखना, आदि प्रकार के कार्य होते हैं। भारतीय स्वतन्त्रता सेना में कानूनविद् केवल पाँच-छः अधिकारी ही थे। ले०क० नाग, जिन्होंने दिल्ली के लालकिले के मुकद्दमे में सरकार की ओर से गवाही दी थी, वे इस विभाग के मुख्य अधिकारी थे। उन्होंने ही सरकार की ओर से गवाही दी थी— यह भी एक प्रकार से अच्छा ही हुआ, क्योंकि उन्होंने जो वक्तव्य दिया वह स्वतन्त्रता सेना के अधिकारियों का बचाव करने में सहायक सिद्ध हुआ। इस पुस्तक के लेखक को भी अन्य कामों के साथ भारतीय स्वतन्त्रता सेना के न्यायालय के उपवरिष्ठ अधिकारी के रूप में सिंगापुर तथा बाद में बैंकाक के स्वतन्त्रता सेना की सर्वोच्च कचहरी में काम करना पड़ा था।

सेना की हर टुकड़ी पर एक डॉक्टर की भी नियुक्ति की जाती थी। हर डिविजन का अपना एक अस्पताल होता था। इस डॉक्टर का दायित्व था कि वह अस्पताल में जाकर देखे कि आवश्यक चिकित्सा-सामग्री अथवा औषधियाँ आदि हैं या नहीं, और यदि औषधियाँ उस समय उपलब्ध न हों तो क्या वैकल्पिक उपचार हो सकता है—यह सुझाव देना आदि होता था।

इसके साथ ही सैनिकों की कार्यक्षमता को बनाए रखने योग्य पौष्टिक खाद्यान्न है अथवा नहीं; यदि न हो तो उस स्तर का खाद्यान्न देने के लिए कहना—इन सब बातों का दायित्व भी चिकित्सा-विभाग के आधीन होता था। भारतीय स्वतन्त्रता सेना में डॉक्टरों की इतनी कमी थी कि सिंगापुर में निजी व्यवसाय करनेवाले डॉक्टरों, वैद्यों एवं होम्योपैथिक डॉक्टरों को भी सेना के चिकित्सा विभाग में लिया जाए, इस प्रकार का मैंने परामर्श दिया। इसके लिए सिंगापुर के दस-बारह वैद्यों को मनाकर उनसे मैंने उस प्रकार का आवेदन-पत्र भी लिखवाया। परन्तु ऐलोपैथिक पद्धति से पढ़े हुए डॉक्टरों के पास अधिकार होने के कारण उन्होंने उसका प्रबल विरोध किया।

वास्तव में क्रान्ति के दौरान स्वदेशी उपचार-शैली को ही अपनाना चाहिए। चिकित्सा-विभाग के कुछ डॉक्टरों को यह परामर्श उचित जान पड़ा था, किन्तु उनका वरिष्ठ अधिकारी इसके सर्वथा विरुद्ध था। उसका मुख्य आक्षेप यह था कि ऐलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति में एक विशिष्ट शैली का अनुसरण किया जाता है। किन्तु जिन्होंने वैद्यकीय प्रणाली से अध्ययन किया है उनकी शैली सर्वथा भिन्न है। उसमें कुछ भिन्नता नहीं है। इसके विपरीत भारतीय वैद्यक शास्त्र के विषय में वैसा नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत मेरा यह मत था कि युद्धभूमि में घायल हुए सैनिकों का उपचार भले ही आप उनसे न करवाएँ, किन्तु सिंगापुर में स्थित अपने सैनिकों के इलाज के लिए एक अलग भारतीय वैद्यकीय पद्धति का अस्पताल क्यों न खोल दिया जाए? इसी प्रकार का एक अन्य अस्पताल खोल दिया जाय जिसमें सारे होम्योपैथ ही चिकित्सक के रूप में नियुक्त किए जाएँ। अपने-अपने अस्पतालों में वे अपनी-अपनी पद्धति से चिकित्सा करने में स्वतन्त्र हों।

कम से कम सामान्य-सी बीमारियों के लिए तो इन अस्पतालों में रोगी सैनिकों की चिकित्सा करवानी ही चाहिए। यदि इस प्रकार के दो अस्पताल खोल दिए जाते तो कितने ही डॉक्टरों को युद्ध के मोर्चे पर भेजा जा सकता था।

परन्तु यह बात उस बड़े चिकित्सा-अधिकारी की समझ में न आ सकी। अतः इस योजना के लिए अन्य लोगों की अनुमति होते हुए भी उसे प्रायोगिक रूप नहीं दिया जा सका। इस बात का एक कारण यह भी हो सकता है कि 'मॉडर्न सब-कुछ अच्छा ही है' ऐसी हम सबकी मान्यता होने के कारण यह कल्पना भी अनुपयुक्त लगने लगती है कि हम किसी भी संगठन में भारतीय शैली का अनुसरण कर सकते हैं। एक अन्य कारण भी हो सकता है कि जिन्हें पाश्चात्य पद्धति से एक पदवी प्राप्त हुई हो वे लोग भारतीय पद्धति से पदवी प्राप्त डॉक्टर

को अपने बराबर का न मानकर उसे अपने से हीन समझते हैं।

उदाहरण के तौर पर अंग्रेजी भाषा में पाश्चात्य पद्धति में जो फिलोसोफी अर्थात् तत्त्वज्ञान-शास्त्र में जो पदवी प्राप्त करेगा वह बहुत विद्वान् होगा, परन्तु जो बनारस से वेदान्त पढ़कर आएगा वह बिल्कुल गँवार कहलाएगा। इस प्रकार भारत के आधुनिक शिक्षित लोगों की विचारधारा ने ही भारत को बहुत हानि पहुँचाई है। इसी विचारधारा का अनुसरण करके पाश्चात्य पद्धति से बने हुए डॉक्टर लोगों का आयुर्वेद-शास्त्र में प्रवीण वैद्य को अपनी बराबरी का न समझते हुए कितना दुःख होता होगा इस बात की हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन में इस प्रकार की पाश्चात्य-प्रेमी विचारधारा को प्रमुखता देना कभी सुखकर नहीं होता।

इसके विपरीत जापानी लोगों की अथवा किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के लोगों की विचारधारा प्रशंसनीय है। जो जापान का है, वह सब-कुछ अच्छा और उचित है, ऐसा प्रत्येक जापानी का दृढ़ विश्वास होता है। हमें जीतनेवालों के प्रति सच्चा क्रोध तथा घृणा अपने देश के हर व्यक्ति में उत्पन्न की जाने पर ही उन सबके संगठित प्रयत्न से शत्रु का उच्चाटन हो सकेगा। अपने शत्रुओं के आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा, शिष्टाचार तथा उनके काम का ढंग, यह सब लोगों के मन से निकालकर उसके स्थान पर सम्पूर्ण तथा निरन्तर किये गए आन्दोलन से, स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अत्यन्त प्रेमभाव उत्पन्न करने पर ही, उन शत्रुओं का उच्चाटन सम्भव होता है।

स्वतन्त्रता सेना में डॉक्टरों की इस कमी से अधिक औषधियों की कमी अनुभव होने लगी। इस क्षेत्र में पाश्चात्य पद्धति से प्रशिक्षण-प्राप्त डॉक्टरों के तो हाथ-पैर ठण्डे पड़ने लगे। 'ब्लड टांस्फ्यूजन' पर जीवित रहनेवाले लोगों के समान ऐलोपैथिक औषधियाँ मिलने पर ही ये डॉक्टर उपचार कर सकते हैं। युद्ध के दिनों में पश्चिम तथा पूर्व के देशों में प्रत्यक्ष शत्रुता होने के कारण ये दवाइयाँ, पश्चिम दिशा की ओर टकटकी लगाए रहने पर भी आएँगी कैसे? और ये आधुनिक डॉक्टर फिर उपचार किस प्रकार करेंगे? अतः 'छोटा-सा सैलाइन तथा उसमें बहुत सारा पानी'—इस प्रकार दूधवाले के समान ठगने का धन्धा चालू हो गया। हमारे देश में भी बहुत सारी जड़ी-बूटियाँ उगती हैं, उनसे भी प्रभावकारी दवाइयाँ बनाई जा सकती हैं, क्योंकि यदि विदेशी औषधियाँ नहीं प्राप्त हैं तो कम से कम अपने देश के मान के लिए हम अपने ज्ञान का लाभ उठाकर वैद्यों की सहायता से इस दिशा में अधिक प्रयत्न करके रखें—ऐसी बुद्धि भारतीय स्वतन्त्रता सेना के पाश्चात्य शैली के चिकित्सा-विभाग को बिल्कुल भी नहीं आई।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना में 'एम्बुलैंस' की कोई व्यवस्था नहीं थी। घायल सैनिकों को गोद में उठाकर अथवा सामान ले-जानेवाली गाड़ियों के माध्यम से लाया-लेजाया जाता था। रोगियों पर शल्यक्रिया करने के लिए आवश्यक सामग्री केवल सिंगापुर में स्थित सेना के मुख्य अस्पताल में ही थी। युद्ध के मोर्चे पर स्वतन्त्रता सेना के एक या दो अस्पताल ही थे। उनमें यह सामग्री बहुत कम मात्रा में उपलब्ध थी।

इस प्रकार यह सारा जैसे निर्धनों का घर-संसार था, फिर भी स्वतन्त्रता सेना के सैनिकों ने सब चुपचाप तथा साहस के साथ सहन किया था। नेताजी जब मोर्चे पर स्थित अस्पतालों में जाते थे, तब हाथ-पैरों में जिनको भयानक घाव लगे थे, ऐसे सैनिक क्लोरोफॉर्म के अभाव में वैसे ही हाथ-पैरों पर प्रसन्नता से शल्यक्रिया करवाने के लिए उद्यत रहते थे। बुरी तरह से घाव खाए हैं, तब भी कोई चिन्ता नहीं; परन्तु कैसे हम जल्दी से ठीक होकर युद्ध के मोर्चे पर जाकर शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करें—ऐसी उत्कट इच्छा कइयों की होती थी।

चिकित्सा-विभाग का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न दूषित अन्न से सैनिकों की शक्ति के नष्ट होने का था। हर किसी को थोड़े चावल, दो औंस मूँग की दाल तथा चार औंस तक कोई भी सब्जी—यही आहार हर स्वतन्त्रता सैनिक को पिछले साढ़े चार वर्षों से उपलब्ध था। मांसाहार तो साधारण सैनिक को कभी कदाचित् ही मिला हो, क्योंकि युद्ध के दिनों में खाने के लिए प्रयोग में लाए जानेवाले पशुओं का उत्पादन तथा संवर्धन अनाज के अभाव में और मनुष्यों की कमी के कारण सम्भव नहीं हो पाता था। हमें प्रतिदिन आहार में अरहर की दाल, दही, दूध, घी, आटा, हरी सब्जियाँ इत्यादि वस्तुएँ उपलब्ध होती थीं। अतः ऐसी वस्तुएँ प्रतिदिन के भोजन में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होने पर कितने भयंकर परिणाम होते हैं, यह बात सरलता से समझ में नहीं आ सकती।

उसी प्रकार दूषित अन्न से मनुष्य को तपेदिक की बीमारी होना तथा मृत्यु हो जाना अनहोनी बात नहीं थी। परन्तु वहाँ पर सबका अनुभव यह था कि निरन्तर तीन-चार वर्षों तक मनुष्य यदि केवल चावल, थोड़ी दाल, तथा कोई एक सब्जी अथवा शकरन्द जैसी सब्जी पर ही निर्वाह करे तो गाय का दूध, दही, घी, आटा (ज्वार-बाजरा) इत्यादि यदि न भी मिले, तब भी उस व्यक्ति को तपेदिक हो जाती है, अथवा 'बेरी बेरी' नामक रोग हो जाता है तथा वह शीघ्र ही मर जाता है। भूखे न रहते हुए किसी भी पदार्थ से पेट भर लेने को भोजन कह देना सर्वथा गलत होगा। पेट यदि पूरा न भी भरे, तो भी काम चल जाएगा। परन्तु मक्खन, दूध, दही, घी जैसे स्निग्ध तथा गेहूँ-दाल इत्यादि पौष्टिक पदार्थ नित्यप्रति यदि

शरीर को न मिले तो उसकी स्थिति वही होगी जो किसी इंजन की बिना तेल दिए किन्तु निरन्तर चालू रखने से होती है। उस यन्त्र के समान ही मानव-शरीर भी उसके अभाव में बेकार हो जाता है। शरीर के पोषण के लिए आवश्यक जीवन-सत्त्व न मिलने के कारण बेरी-बेरी रोग हो जाया करता है।

एक बार दो हजार स्वतन्त्रता सैनिकों को यह 'बेरी-बेरी' रोग हो गया। सुदूरपूर्व में दाल का मिलना बहुत मुश्किल हो गया था। बाजार में दाल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी, किन्तु उसे महँगे दामों पर बेचने के लिए व्यापारियों ने उसको छिपा दिया था। उसका पता लगाकर उचित मूल्य पर दालें मिलना असम्भव-सा हो गया था।

यद्यपि इण्डोचाइना में दाल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी। वहाँ पर भारतीय स्वतन्त्रता संघ के अनाज की व्यवस्था करनेवाले विभाग ने केन्द्रीय कार्यालय की अनुमति मिलने पर दाल का बहुत संचय किया हुआ था, परन्तु उस दाल का वहाँ से मलय तथा सिंगापुर के स्वतन्त्रता सैनिकों के लिए लाना लगभग असम्भव जैसा ही था। नाव तो उन दिनों मिलती ही नहीं थी, रेलगाड़ी की भी व्यवस्था नहीं हो सकती थी, क्योंकि रेलगाड़ी के डिब्बों की कमी हो गई थी।

सिंगापुर में तो दाल का भण्डार समाप्त ही हो रहा था। अन्त में प्रत्येक सैनिक को प्रत्येक दिन के भोजन में दो औंस दाल के बदले एक औंस दाल ही देने का निश्चय किया गया। जिस मास में दाल की मात्रा कम की गई, उसी मास में 'बेरी-बेरी' रोग इतना भयंकर रूप ले बैठा कि सैनिक मृत्यु का ग्रास बनने लगे। इस विपत्ति के कारण कुछ चिकित्सा शीघ्र ही करने के लिए अधिकारियों की भागदौड़ प्रारम्भ हो गई।

नित्यप्रति के आहार में दाल की कमी को पूरा करने के लिए किसी भी मूल्य पर दूर के ग्रामों से मोटरगाड़ियों में मँगवाकर हर सैनिक को एक नींबू, एक अण्डा, चार औंस हरी सब्जी नित्य दी जाने लगीं तथा इससे आश्चर्य की बात यह हुई कि उस रोग का प्रसार एकदम कम हो गया, अन्यथा 5-6 मास में ही भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जाती। इसके अतिरिक्त एक अन्य शीघ्रप्रभावी तथा कम खर्च का इलाज यह था कि सब सैनिक चाय-पान सर्वथा त्याग दें। इसके साथ ही शराब, तमाखू भी बन्द कर दें। चक्की में पालिश किया ही चावल न खाकर हाथ से कूटा हुआ चावल प्रयोग में लाएँ। चावल का माँड फेंकना नहीं चाहिए।

चाय और शराब आदि पर प्रतिबन्ध लागू करने से पूर्व आज्ञा प्रसारित करनेवाले अधिकारियों को भी इन सबका सेवन त्यागना आवश्यक था। तभी तो ऐसे उपायों को कठोरता से लागू किया जा सकता था। परन्तु वरिष्ठ अधिकारियों

द्वारा सैनिकों के लिए अन्त में लाभदायक सिद्ध होनेवाले ध्येययुक्त तथा सस्ते उपायों को सख्ती से लागू करने का विचार भी किसी के मन में नहीं आया। नई पौष्टिक वस्तुएँ ढूँढने के लिए होनेवाले प्रयास तथा खर्च से पहले चाय आदि मादक पदार्थ से प्राप्त होनेवाले जीवन-सत्त्वों का हम नाश कर रहे हैं—इस बात को जानकर इस विषय में पहले ही सोच लेना चाहिए था। यदि ऐसा हुआ होता तो कितना ही लाभ हो गया होता! परन्तु पैसा, अधिकार और इनके साथ-साथ ध्येय के प्रति निष्ठा रखनेवाले लोगों की संख्या बहुत कम ही होती है। जो अधिकारी स्वयं मादक पदार्थों का सेवन करेगा, वह इनको बन्द करने-करवाने की बात भी नहीं सोच सकता। और यदि उसकी समझ में यह बात आ भी गई, तो भी उसके पालन में वह आनाकानी अवश्य करेगा।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना के केन्द्रीय कार्यालय के नामांकन-विभाग में स्वतन्त्रता सैनिकों के बारे में पूरी जानकारीवाले पत्रक भरे रखे थे। पहले का अर्थात् अंग्रेजों की भारतीय सेना का ओहदा तथा भर्ती की तिथि देखकर वरिष्ठ अधिकारी से लेकर साधारण सिपाही तक का सबका दर्जा दिखानेवाली सब सैनिकों की सूची छपवाकर तैयार की गई थी। किसी व्यक्ति को पहले ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दिया गया छोटा या बड़ा दर्जा ही स्वतन्त्रता सेना में भी प्रमाण माना गया। डॉक्टरों को ब्रिटिश पद्धति के समान ही वरिष्ठ श्रेणी देने की घातक प्रथा को चालू रखा गया। डॉक्टरों की ही बराबरी के किन्तु दूसरी शाखा में महाविद्यालय में पढ़े-लिखे लोगों को साधारण सिपाही के रूप में ही लिया जाता था, अथवा उसे अधिकारी तैयार करनेवाले सैनिक स्कूल के लिए चुनकर वहाँ का प्रशिक्षण पूर्ण करने के उपरान्त उसे सेकण्ड लेफ्टिनेन्ट के तौर पर लिया जाता था। इसके विपरीत डॉक्टर को किसी भी प्रकार का सैनिक प्रशिक्षण लिये बिना ही एकदम मेजर का ओहदा बहाल किया जाता था। ब्रिटिश पद्धति के समान ही स्वतन्त्रता सेना में भी भर्ती की तारीख से, तथा अपने से ओहदे में बड़ा व्यक्ति चाहे कितना ही मूर्ख अथवा अयोग्य हो, ऊपर के दर्जे तक पहुँचने पर निचले व्यक्ति को वह ओहदा मिलना असम्भव होता था।

भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की नियुक्तियाँ, स्थानान्तर इत्यादि की घोषणा करनेवाले सरकारी पत्रकों की भाँति ही भारतीय स्वतन्त्रता सेना का भी एक सैनिक पत्रक प्रकाशित किया जाता था। उसमें सैनिक अभियुक्तों को दिया गया दण्ड, सैनिकों के प्रमोशन, नेताजी, जनरल भोंसले अथवा केन्द्रीय कार्यालय के अन्य बड़े अधिकारियों के आज्ञापत्रक, नये आदेश, कानून, नियुक्तियाँ, स्थानान्तर आदि विषय होते थे। स्वतन्त्रता सरकार के पत्रक में ऊपर बताई गई बातों के

साथ-साथ भारतीय स्वतन्त्रता सरकार द्वारा विभिन्न समयों पर अन्य राष्ट्रों के परराष्ट्र-मन्त्रियों अथवा अन्य अधिकारियों के भेजे गए, अथवा दूसरे लोगों से भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को अथवा नेताजी को आए तार तथा शुभ सन्देश इत्यादि होते थे।

स्वतन्त्रता सेना को जहाजी बेड़े तथा हवाई दल के लिए हर तरह से जापानियों पर ही निर्भर रहना पड़ता था अर्थात् जहाजी बेड़ों की स्वतन्त्रता सेना को कभी आवश्यकता ही नहीं हुई। केवल भारत के पश्चिमी तटों पर जासूसी के लिए जो लोग छोड़े गए थे, उनको अवश्य जापानी पनडुब्बियों के द्वारा ही छोड़ा गया था। बाद में भी यदि भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध ने जोर पकड़ा होता तो, तब भी भारत के तटों पर सेना उतारने के लिए जापानियों के जहाजी बेड़ों की सहायता ही लेनी पड़ती। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा समय आया ही नहीं। हवाई आक्रमणों के विषय में जापानी हवाई दल उनकी इच्छा से तथा फुरसत से ही हवाई हमले करते थे।

कई लोग पूछते हैं कि स्वतन्त्रता सेना को शस्त्र एवं अन्यान्य युद्ध-सामग्री जापानियों के ही माध्यम से उपलब्ध होती थी, ऐसा क्यों? प्रत्येक देश की युद्ध-सामग्री तथा शस्त्रास्त्र एक विशेष नाम और प्रकार के होते हैं। कपड़े, बूट इत्यादि जापानी सामग्री भारतीय सैनिकों के माप से तो छोटी ही पड़ती थी। शस्त्रास्त्रों में भी चाहे कितनी ही समानता क्यों न हो, एक विशेष प्रकार के शस्त्र प्रयोग करने का अभ्यास हो जाने पर वही शस्त्र उपयोग करने की आदत तथा रुचि उत्पन्न हो जाती है। विभिन्न शस्त्रों के कल-पुर्जे भी अन्य शस्त्रास्त्रों में ठीक प्रकार से स्थिर नहीं हो पाते।

इसीलिए जापानी शस्त्रास्त्र एवं मोटरगाड़ियाँ तथा वस्त्र और बूट आदि जापानी सैनिक अपने ही देश में बनाए गए प्रयोग में लाते थे। अंग्रेजों के मलय, सिंगापुर, ब्रह्मदेश में शस्त्रास्त्र तथा अन्य युद्ध-सामग्री की विपुलता थी। केवल सिंगापुर में ही 92,000 युद्धबन्दी शरण में आए थे। तब कम से कम एक-एक के हिसाब से 92,000 बन्दूकें, 200-300 तोपें, आसमान तक जिनका ढेर लग जाए ऐसी अनेक छोटी-बड़ी मोटरगाड़ियाँ, मोटरलारियाँ, बसें, पाँच-छः वर्ष तक प्रयोग के लिए पर्याप्त होनेवाला गोला-बारूद, वस्त्रों के ढेर आदि जापानियों को प्राप्त हुए थे। इसमें से ही उन्होंने जितना आवश्यक था उतना सामान भारतीय स्वतन्त्रता सेना को दिया। अतः भारतीय स्वतन्त्रता सेना का जापानी बनावट के शस्त्रास्त्र तथा अन्यान्य युद्ध-सामग्री का प्रयोग करने में कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। जापानी लोग भी अपनी बन्दूकें, तोपें, इत्यादि ही प्रयोग करने में

प्रसन्न थे, अर्थात् दोनों को परस्पर शस्त्र सीखने के लिए तथा आदत डालने के लिए बिना कारण समय नहीं गँवाना पड़ा।

स्वतन्त्रता सेना के पास बन्दूकें, तोपें, छोटे टैंक, फौलादी गाड़ियाँ, इनके अतिरिक्त आधुनिक प्रकार की बड़ी-बड़ी युद्ध-सामग्री बिल्कुल नहीं थी। इस छोटे तथा साधारण सामग्री के प्रयोग से ही उन्होंने इम्फाल तक विजय प्राप्त की थी। जापानियों ने अपनी सेना के लिए भी ऐसे ही योजना बनाई थी। जापानी सैनिक विशेषज्ञों की यह धारणा थी कि पैदल सैनिकों को अथवा युद्धभूमिस्थ सेनाओं को साहित्य कम दिया जाए। उसकी अपेक्षा जितनी साधारण तथा पुराने ढंग की युद्ध-सामग्री अथवा शस्त्र दिए जाएँगे, उतनी ही वीरता से वह सेना युद्ध कर सकेगी। मोटे लोहे के शस्त्र तथा आधुनिक बचाव के साधन देने पर सैनिक डरपोक बन जाते हैं अथवा वे जान बचाने का यत्न करते हैं—ऐसा उनका अनुभव था।

प्रातःकाल छः बजे उठने के बाद नित्यकर्म से निपटकर तथा चाय पीकर सैनिकों को अपने कमरे में अपना सामान एक पंक्ति में ठीक से रखना पड़ता था। ये सब करने के उपरान्त बीमार सैनिकों को छोड़कर अन्य सब सैनिक सुबह व्यायाम करने के लिए जाते थे। इस व्यायाम के अनन्तर हर टुकड़ी को विशेष शस्त्रों अर्थात् तोपखाने के लोगों द्वारा तोपों का, बन्दूकधारियों को बन्दूकों का, संगीनवालों को संगीनों का, टैंक की टुकड़ी के सैनिकों को टैंकों का अभ्यास लगभग दोपहर के बारह बजे तक चलता था। बारह बजे के उपरान्त भोजन के लिए दो घंटे का अवकाश होता था। उसके अनन्तर भारतीय भाषा सीखना, नक्शे को पढ़ना तथा उसका प्रयोग करना, इत्यादि विषय चलते थे।

अपने देश के लिए प्रसन्नता से जान न्यौछावर करने की हर सैनिक की मानसिक तैयारी के लिए दोपहर के समय प्रशिक्षण दिया जाता था। बीच-बीच में कभी-कभी झूठमूठ की लड़ाई के लिए हर टुकड़ी दूर वन में खुले स्थान पर जाकर व्यूह की रचना करना, दाँव-पेच सीना, टुकड़ियों का संचालन करना, आक्रमण करना इत्यादि बातों का प्रायोगिक प्रशिक्षण दिया जाता था।

जब नेताजी सिंगापुर होते तब बीच में कभी भी विभिन्न टुकड़ियों का तथा छावनियों का निरीक्षण करने के लिए आते थे। तब उस समय वह फौजी प्रशिक्षण, उनकी झूठमूठ की लड़ाइयाँ, सैनिकों का रहन-सहन तथा उनका आहार, इन सबका सूक्ष्मता से निरीक्षण करके बड़ी आस्थापूर्वक उनसे पूछताछ करते थे।

भारतीय सैनिकों की वेश-भूषा खाकी रंग की घुटनों तक की पैंट, आधी

बाहों की खाकी कमीज, सिर पर खाकी कपड़े की तह की हुई टोपी, टोपी पर भारतवर्ष का मानचित्र होता तथा उस पर विश्वास, एकता, स्वार्थत्याग जैसे ध्येयवादी शब्द लिखा हुआ एक काले पत्रे का निशान, दाईं ओर छाती पर लगाया हुआ पत्रे से बना एक गोल तिरंगे का चित्र, पाँव में मोजे तथा बड़े बूट होते थे।

स्वतन्त्रता सेना की व्यायाम की तथा सब समयों पर सब आज्ञाएँ भारतीय भाषा में ही होती थीं। फिर भी अंग्रेजी कहावतों का कई बार शब्दशः भाषान्तर किया गया हो जैसे। परन्तु यह काम अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में सौंप देने के कारण तथा जल्दबाजी में किया होने के कारण कई शब्द टेढ़े-मेढ़े तो कई शब्दों के लिए उचित हिन्दी शब्द होते हुए भी वे वैसे ही अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त होते थे। उदाहरणार्थ रायफल शब्द के लिए हिन्दी में बन्दूक शब्द होते हुए भी हर समय वही शब्द प्रयुक्त होता था। थोड़े ही दिन क्यों न हो, एक बार प्रचलित प्रथा को बदलने का प्रयत्न कोई भी नहीं करता था।

अधिकारियों की वेश-भूषा कुछ इस प्रकार की होती थी—पैरों तक लम्बी खाकी पैंट, खाकी बुश्शर्ट, खाकी टोपी, पैरों में जुराब तथा सदा पहननेवाले बूट होते थे। उनके ओहदे को प्रदर्शित करनेवाले चिह्न उनके कन्धों पर होते थे। अन्य छाती पर के तथा टोपी पर जो चिह्न होते थे, वे नेताजी से लेकर साधारण सिपाही तक सबके एक-समान ही होते थे। केवल कुछ वरिष्ठ अधिकारी ब्रीचेज तथा उन पर आरी लगाए हुए घुटनों तक लम्बे बूट पहनते थे।

जापानी सेना में हर सैनिक अपने से वरिष्ठ सबको जहाँ भी वे दिखाई देंगे वहीं पर सलाम करते हैं, अथवा यदि उसने सिर पर कुछ न पहना हो तो उनके सामने केवल गर्दन झुकाता है। **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** में तो अंग्रेजी प्रथा के समान सेकण्ड लेफ्टिनेंट से लेकर ऊपर के सब अधिकारियों को सब छोटे सैनिक सलाम करते थे। उससे निचले दर्जे के सैनिकों को सलाम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। सिर पर कुछ न पहने होने पर सलाम न करके केवल सिर झुकाकर जयहिन्द कहने की प्रथा थी। सलाम करते समय भी मुँह से जयहिन्द कहना पड़ता था। सैनिक नियमों के अनुसार सेकण्ड लेफ्टिनेंट से लेकर सब बड़े अधिकारियों को मिलते समय, अथवा उनको मिलकर जाते समय, अथवा उनके सामने से आते-जाते समय सलाम करना पड़ता था। अंग्रेजी सेना में, विशेषतया उनकी भारतीय सेना में यह अभिवादन मूक ही होता है। अधिक से अधिक पढ़े-लिखे अधिकारी अपने से बड़े को गुडमार्निंग कहकर विदेशी अभिवादन करते हैं। परन्तु स्वतन्त्रता आन्दोलन में कोई भी किसी को भी मिलने पर अथवा किसी से भी विदा लेते समय जयहिन्द ही कहते थे। यह अभिवादन बहुत लोकप्रिय हुआ।

स्वतन्त्रता सेना के भंगी, नाई, धोबी, क्लर्क, डॉक्टर, सब वस्तुओं की व्यवस्था करनेवाले विभाग के लोग, मोटरकार की टुकड़ी के चालक तथा यन्त्रों के विशेषज्ञ लोगों को प्रातः-सायं उन्हीं का काम होने के कारण उन्हें व्यायाम तथा शस्त्रास्त्र का अभ्यास नियमित नहीं करना पड़ता था। परन्तु स्वतन्त्रता सेना के हर सैनिक को अपनी रक्षा करने की क्षमता तथा समय आने पर शत्रु से युद्ध करने की क्षमता पैदा करने के लिए हर तीन या चार महीनों के पश्चात् पन्द्रह दिन प्रातः अथवा सायंकाल शस्त्रास्त्रों तथा व्यायाम का प्राथमिक प्रशिक्षण दिया जाता था।

प्रत्येक रविवार, त्यौहारों के दिन तथा राष्ट्रीय उत्सव के दिन सैनिकों को अवकाश दिया जाता था। उन दिनों मध्याह्न के तीन-चार घंटे उन्हें नगर में घूमने जाने की अनुमति थी। नेताजी के जन्मदिन 23 जनवरी, स्वतन्त्रता दिवस, 26 जनवरी, नेताजी का सिंगापुर में आगमन 2 जुलाई, जलियाँवाला बाग दिवस 13 अप्रैल, महात्मा गांधी का जन्मदिन 2 अक्टूबर, स्वतन्त्रता सरकार स्थापना दिवस 21 अक्टूबर के साथ-साथ दशहरा, दीवाली, मुहर्रम, बैसाखी, क्रिसमस इत्यादि त्यौहारों पर भी स्वतन्त्रता सैनिकों को अवकाश दिया जाता था। उन दिनों वे अपने कई दिनों के एकत्रित कपड़े धोना, दूसरी छावनियों तथा नगरों में स्थित अपने मित्रों एवं रिश्तेदारों से मिलना, चलचित्र देख आना, इत्यादि करते थे। ऐसे अवकाश के दिनों में उनके खाने में भी परिवर्तन लाने के लिए विभिन्न खाद्य पदार्थ बनाए जाते थे।

नेताजी के जन्मदिन, सिंगापुर में उनके आगमन के दिन, स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना के दिन, नव वर्ष के दिन, भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की ओर से अन्य देशों अर्थात् जापान, जर्मनी इत्यादि के प्रतिनिधियों एवं वरिष्ठ अधिकारियों को भोज दिया जाता था। भारतीय स्वतन्त्रता सेना के केन्द्रीय कार्यालय एवं स्वतन्त्रता संघ की ओर से भी जिन जापानी एवं अन्य अधिकारियों से प्रायः काम पड़ता था, उन्हें भोजन पर आमन्त्रित करने की प्रथा बन गई थी। उनके त्यौहारों के दिनों में भी अर्थात् उनके राजा के जन्मदिन 8 दिसम्बर युद्ध की घोषणा का दिन, नये वर्ष के आरम्भ होने के दिन जापानी भी भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के अनेक वरिष्ठ अधिकारियों को दावत पर बुलाते थे।

ऐसे समयों पर चार-पाँच सौ अतिथि आमन्त्रित किये जाते थे। इन अवसरों पर दोनों पक्षों के बड़े-बड़े नेताओं के भाषण होते थे। ध्येय की प्राप्ति होने तक सब संकटों का सामना करते हुए लड़ने का तथा एक-दूसरे की पूरी सहायता करने का आश्वासन दोनों पक्षों की ओर से दिया जाता था।

जर्मन देश का सम्बन्ध दूर पूर्व में केवल जहाजी बेड़ों तक ही सीमित था।

सिंगापुर में जर्मनी की पनडुब्बियाँ सदा ही तैनात रहती थीं। यहाँ पैसिफिक महासागर में न्यूजीलैण्ड तक तथा भारतीय महासागर में माडागास्कर तक ये पनडुब्बियाँ संचार करती थीं तथा शत्रुओं के जहाजों को डुबोकर वापस आती थीं। उनके नौ-दल के अनेक अधिकारी तथा नौ-सेना के सैनिक सदा सिंगापुर में ही रहते थे। उनकी एक अलग छावनी थी। इटली के लोगों की भी एक छावनी थी, परन्तु हमसे उनका कोई सम्बन्ध बना ही नहीं। अभिप्राय यह कि स्वतन्त्रता सेना के अधिकारियों ने उनसे सम्पर्क बनाने का यत्न ही नहीं किया। परन्तु जर्मनी के अधिकारियों से हमने स्वयं मित्रता की।

जर्मन देश के जहाजी बेड़ों का प्रतिनिधि सदा सिंगापुर में विद्यमान रहता था। कभी-कभी पेनांग, बैंकाक, मलक्का आदि दूर पूर्व में स्थित बन्दरगाहों पर उसे अपने जहाजी बेड़ों का निरीक्षण करना पड़ता था। परन्तु उसका प्रमुख केन्द्र सिंगापुर ही होता था।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना का मुख्य पत्र-व्यवहार, सूचनाएँ, आज्ञा-पत्रक, सैनिक पत्रक इत्यादि सब अंग्रेजी में ही निकलते थे। अन्त में कुछ टुकड़ियों के अन्तर्गत पत्र-व्यवहार हिन्दी भाषा में आरम्भ किया गया था। परन्तु वह बहुत थोड़ी मात्रा में होता था। इसमें भी लिपि रोमन अर्थात् अंग्रेजी ही होती थी।

शुद्ध हिन्दी लिपि तथा भारतीय भाषा समस्त पत्र-व्यवहार तथा पत्रकों में प्रयुक्त की जानी चाहिए थी, परन्तु प्रत्यक्ष में वह सम्भव नहीं हो पाया था। दूसरी एक घातक एवं जर्मन-जापानी इत्यादि लोगों के सामने लज्जा से गर्दन झुकानेवाली बात, भारतीय अधिकारियों में परस्पर अंग्रेजी में बात करने की प्रथा थी। जापानी लोग परस्पर जापानी, जर्मन लोग परस्पर जर्मन भाषा में वार्तालाप करते थे, परन्तु हम लोग आपस में अंग्रेजी बोलते थे। हिन्दुस्तान में इस प्रकार के विरोधाभास में हमारा ध्यान नहीं जाता। परन्तु राष्ट्रीय वृत्ति के अन्य देशों के लोगों के मध्य रहकर अपनी यह मूर्खता तीव्रता से अनुभव की जाती है। विशेषतया अंग्रेजों की सेना से आए हुए तथा युद्धबन्दियों में से स्वतन्त्रता सेना में प्रविष्ट हुए, किंग्ज कमीशण्ड अधिकारी लोग एक ही प्रान्त के होने पर भी परस्पर का वार्तालाप अंग्रेजी में ही करते थे। उनकी प्रवृत्ति उसी प्रकार की थी। यह एक प्रकार से उन्हें घुट्टी में पिलाया गया था।

अपनी वेशभूषा, अपना व्यवहार, अपना शिष्टाचार तथा परस्पर वार्तालाप की भाषा भी अंग्रेजी होते हुए, पग-पग पर अंग्रेजों का अनुकरण करनेवाले स्वतन्त्रता सेना के ये अधिकारी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए किस प्रकार तैयार हो गए थे, इसका विश्वास यदि अन्य लोग करें भी तो किस प्रकार करें?

हमारे जापानी अधिकारी मित्र अनेक बार हमसे ऐसा कहते भी थे। अत: कम से कम दूसरों के सम्मुख परस्पर हिन्दी में बात की जाय—इस प्रकार का ध्यान हमारे कुछ अधिकारी रखने लगे थे। ये छोटी–छोटी बातें भी अनेक बार बड़े–बड़ों के ध्यान में नहीं आतीं, अर्थात् यह भी एक राष्ट्रीय प्रशिक्षण है। संगति का हम पर कैसा प्रभाव पड़ता है यह बात हम सब जानते हैं अर्थात्—राष्ट्रीय वृत्ति के विभिन्न लोगों के मध्य रहकर हमारी वृत्ति भी किस प्रकार से राष्ट्रीय बनने लगती है, यह इस बात का भी एक उदाहरण है।

स्वतन्त्रता सेना के लगभग दस–दस हजार के सैनिकों की तीन डिविजन थीं यह पहले ही बताया जा चुका है। इनमें हर डिविजन में बिल्कुल गिनकर दस हजार सैनिक न होकर पचास अथवा सौ सैनिक अधिक ही होते थे, क्योंकि हर काम के महत्त्व को देखकर ही गुट छोटा या बड़ा बनाया जाता था। सारी स्वतन्त्रता सेना तो चालीस हजार सैनिकों की थी, फिर बचे हुए नौ–दस हजार सैनिकों का क्या हुआ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही था। परन्तु सेना में कितने ही विभाग अथवा टुकड़ियाँ ऐसी होती हैं; उनको किसी भी डिविजन में नहीं रखा जा सकता। उन सब टुकड़ियों को अलग रखकर उन्हें केवल केन्द्रीय कार्यालय से ही जोड़ा गया था।

स्वयं नेताजी के अंगरक्षक सैनिकों के रूप में गिने–चुने सैनिकों की एक टुकड़ी थी। जहाँ–जहाँ नेताजी जाते थे, उन सब स्थानों पर यह टुकड़ी उनकी रक्षा के लिए तैनात रहती थी। पूना के श्री गोरे इस टुकड़ी के गोदाम के अधीक्षक थे। पहले कुछ मास तक वे पुलिस विभाग के गोदाम के अधिकारी रहे, परन्तु बाद में उनका स्थानान्तरण यहाँ पर हुआ। इस टुकड़ी को भी किसी डिविजन के साथ जोड़ना सम्भव नहीं था।

रंगून से मलय की उत्तर दिशा की सीमा तक तीन प्रमुख स्थानों पर भारतीय स्वतन्त्रता सेना के वायुयान–विरोधी तोपखाने की टुकड़ियाँ थीं। रेलमार्ग और रेलगाड़ी के प्रमुख पुलों की रक्षा करने के लिए ये टुकड़ियाँ शत्रुओं के वायुयानों की दिशा में जंगलों में छिपाकर रखी गई अपनी तोपों से प्रहार करती थीं। ऐसी तीन टुकड़ियों में से दो टुकड़ियाँ दक्षिण ब्रह्मदेश में थीं, एक टुकड़ी स्याम देश के मध्य में थी। ये टुकड़ियाँ आन्दोलन के आरम्भ से लेकर अन्त तक वहीं थीं। इनका सम्बन्ध भी सीधा मध्यवर्ती केन्द्रीय कार्यालय से था।

विभिन्न सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र, अधिकारियों के सैनिक विद्यालय, दुभाषिया तैयार करनेवाले विद्यालय, आकाशवाणी केन्द्र पर काम करनेवाले लोग, मध्यवर्ती केन्द्र–कार्यालय में काम करनेवाले लोग—इन सबका सबसे बड़े

भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मध्यवर्ती केन्द्रीय कार्यालय से ही सीधा सम्बन्ध था, अत: उनको भी किसी एक डिविजन में समाविष्ट करना सम्भव न था। इस प्रकार बचे हुए नौ-दस हजार सैनिकों का सीधे सबसे बड़े मध्यवर्ती कार्यालय से सम्बन्ध था।

अक्टूबर 1943 को, भारतीय स्वतन्त्र सरकार की स्थापना होने के बाद भारतीय स्वतन्त्रता सेना की एक टुकड़ी धीरे-धीरे ब्रह्मदेश की ओर कूच करने लगी। वैसे तो नवम्बर मास में सिंगापुर से यह सेना निकली थी, परन्तु इस समय इस सेना को भारत की सीमा पर आक्रमण करने के लिए तैयार रहना चाहिए था। सन् 1944 के पहले भारत की भूमि पर पैर रखने की घोषणा नेताजी कर चुके थे, परन्तु जापानियों द्वारा विलम्ब किये जाने के कारण यह बात सम्भव न हो सकी थी। पहले भी इसका उल्लेख किया जा चुका है। वाहनों की व्यवस्था भी नहीं थी। क्योंकि अंग्रेजी साम्राज्य का मलय से सफाया किया जा चुका था। उस समय जापानियों के आक्रमण के कारण लौहमार्ग नष्ट हो चुके थे। बाद में स्याम से लेकर ब्रह्मदेश तक यह नया लौहमार्ग तैयार किया गया। जापानियों ने इसके लिए मलय से उत्तर-दक्षिण की ओर जानेवाले प्रमुख लौहमार्ग को छोड़कर और दूसरे मार्गों की रेल की पटरी को ले-जाकर वहाँ पर लगाया। कई रेल-इंजन तथा डिब्बों को भी वहाँ ले-जाया गया। ये सब डिब्बे माल ले-जानेवाले ही थे। यात्रियों के बैठने के लिए बनाए गए डिब्बे मलय में ही यात्रियों को लाने-ले जाने के लिए रखे गए थे।

ब्रह्मदेश, स्याम तथा मलय के नये लौह मार्गों पर रेलगाड़ियों की बहुत ही कमी अनुभव की जा रही थी। जापानियों के ही सामान और सेना को लाने-ले जाने के लिए ये कम पड़ते थे। इसीलिए तब वह **भारतीय स्वतन्त्रता सेना** के लिए रेलगाड़ी के डिब्बे देने के लिए तत्पर नहीं रहते थे। कई मास तक उन्हें स्मरण कराते रहने पर कहीं जाकर पाँच-छ: डिब्बे वे स्वतन्त्रता सेना के प्रयोग के लिए दिया करते थे।

सिंगापुर से रंगून तक की यात्रा हर टुकड़ी को कई स्थानों पर रुककर करनी पड़ती थी। बीच में कई कठिनाइयाँ आती थीं। खाद्य-सामग्री, शस्त्रास्त्र, मोटर-गाड़ियाँ आदि भारी वस्तुएँ कई बार नाव से अथवा रेलगाड़ी से ले-जाने की व्यवस्था हो जाने पर वह तो भेज दी जाती थीं, किन्तु सैनिकों को अनेक बार कई मील तक पैदल ही चलना पड़ता था। सिंगापुर में ही अधिक सैनिक होने के कारण, वहाँ पर खाद्यान्न एकत्रित करने, सैनिकों के निवास की व्यवस्था करने, आवास-कक्ष बनाने के लिए सामग्री लाने आदि में बड़ी कठिनाई आती थी।

यहाँ पर एक समय में केवल एक या दो टुकड़ियाँ ही होने के कारण अनाज जरा सस्ता मिलता था। मलय के कुछ ग्रामों से कुछ सब्जियाँ, अण्डे इत्यादि भी सैनिकों के लिए जा सकते थे। यहाँ पर कुछ दिनों तक रहने के बाद जब भी व्यवस्था होती थी, मलय की उत्तरी सीमा के पास एक छोटे-से गाँव जिन्ना के पास स्थित छावनी में यह टुकड़ी रहती थी। यहाँ पर वस्तुएँ कुछ सस्ती मिलती थीं। इससे आगे की यात्रा तो बहुत ही कठिन थी। कई जंगलों में, वर्षा के कारण कीचड़ में से पैदल जाना पड़ता था। यात्रा में बहुत थकान होती थी। भोजन के लिए अनाज के रूप में केवल चावल ही मिलने के कारण सब सैनिक अगले स्थान पर जाकर अच्छी प्रकार विश्राम करने के बाद ही कुछ स्वस्थ-से दिखाई देते थे।

मार्गों पर दलदल, गीलेपन तथा जंगलों के कारण ज्वर तथा जंगलों के मैले जल के कारण दस्त जैसे रोग कई सैनिकों को घेर लिया करते थे। औषधि बहुत ही कम मात्रा में होने तथा पौष्टिक आहार न मिलने के कारण उपचार होना तो दूर रहा, बस वैसे ही भाग्य के भरोसे रहना पड़ता था।

'सुभाष रेजिमेन्ट' अर्थात् एक नम्बर की टुकड़ी को भारत पर पहले आक्रमण करने के लिए चुना गया था, अतः उसे पहले कूच करने की आज्ञा हुई। 'सुभाष रेजिमेन्ट' प्रथम डिविजन की पदाति सेनानियों की टुकड़ी थी, अर्थात् उस डिविजन को भी कूच कर जाने की आज्ञा होने के कारण यह पूरा डिविजन ही जाने लगा था।

यह पूरा डिविजन सिंगापुर में नहीं था। इतने अधिक सैनिकों की आवश्यकताओं की सब वस्तुएँ एक ही स्थान पर मिलना सम्भव नहीं था, इस कारण पास-पास में ही परन्तु विभिन्न गाँवों के आस-पास डिविजन को विभागों में बाँटना पड़ता है। इसलिए इस डिविजन का मुख्य कार्यालय तथा उसके मुख्य अधिकारी तो सिंगापुर में ही थे, परन्तु अन्य टुकड़ियाँ मलय के जोहोर बारू, ईपो, जिन्ना आदि विभिन्न ग्रामों में रह रही थीं।

अध्याय बीस

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

भारत में एक कहावत प्रसिद्ध है—'दूर के ढोल सुहावने'। ये ढोल दूर से सुनने में उतने कर्कश नहीं लगते जितने कि निकट से सुनने पर। इसीलिए यह कहावत बनी। परन्तु नेताजी का जीवन एक अपवाद था।

कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिनके विषय में हम इधर-उधर से उनकी बड़ी प्रशंसा सुनते हैं कि वे कर्मठ, निष्ठावान् आदि-आदि हैं, किन्तु जब उनके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध बनता है अथवा उनसे किसी प्रकार की कार्य-सिद्धि की अपेक्षा होती है, तब विदित होता है कि जो कुछ उनके विषय में सुना है वह वास्तव में 'दूर के ढोल सुहावने' जैसा ही है।

उसका परिणाम यह होता है कि उनके विषय में हमारे मन में जो आदर-भाव होता है, वह सब समाप्त हो जाता है। किन्तु जैसाकि ऊपर लिखा है कि नेताजी इसके अपवाद थे। नेताजी के गुणों के क्या कहने! उनके गुण दूर से देखनेवाले को तो चमकते ही दिखाई देंगे, किन्तु जो उन्हें निकट से देखते थे उन्हें तो और भी अधिक चमकते दिखाई देते थे।

अभी तक हम यह जान चुके हैं कि इस समय तक सुदूरपूर्व में नेताजी के प्रति सैनिकों और सामान्य नागरिकों में बहुत ही अच्छी धारणा बन चुकी थी। उनकी निष्ठा, लगन, त्याग, बलिदान, कार्यक्षमता का सब लोहा मानने लगे थे। प्रस्तुत अध्याय में कुछ इसी प्रकार के विषयों पर प्रकाश डालने का यत्न किया जाएगा।

श्री सुभाषचन्द्र बोस के निवास-स्थान का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। पहले वह किसी धनी व्यक्ति का घर होने के कारण वहाँ पर नाच-गाना, अनेक प्रकार के तमाशे और मदिरा-पान आदि के कार्यक्रम हुआ करते थे। उस मकान का फर्श आदि सभी कुछ उसी बात को ध्यान में रखकर बनाया गया था और उसमें उसी प्रकार की चकाचौंध का साजो-सामान था।

समय का फेर देखिए, आज उसी चकाचौंध और ऐशोआराम के लिए बने बँगले पर एक संन्यासी वृत्ति के ब्रह्मचारी का निवासस्थल बन गया था। उस बँगले के शाही वातावरण में रहते हुए भी नेताजी के रहन-सहन और चाल-ढाल में एक प्रकार की उनकी अलिप्तता और वितृष्णा की भावना उन्हें सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवाले व्यक्ति को स्पष्ट प्रतीत होती थी।

"इस बाहरी रूप में मैं केवल अपने जन्म का कर्तव्य समझकर विचरण कर रहा हूँ। परन्तु यह वातावरण मुझे पूर्णतया पराया लगता है। मुझे इसमें कोई वस्तु ऐसी नहीं दिखाई देती कि जिसे शाश्वत कहा जा सके। भारत की स्वतन्त्रता इस जड़ शरीर का जड़ कर्तव्य पूरा होने पर मैं शाश्वत सुख की तलाश में जाऊँगा। उसके बाद मेरे मन में किसी प्रकार की चिन्ता शेष नहीं रह जाएगी; मेरी राह में कोई भी बाधा नहीं रहेगी। मुझे प्रतीत होने लगेगा कि मैं अब किसी प्रकार के पाश से आबद्ध नहीं हूँ और मेरा आत्मा पूर्णतया स्वतन्त्र है।....

"अपनी आत्मा की उन्नति के लिए मुझे कहीं भी जाने की स्वतन्त्रता होगी। इस संसार के ये सारे बन्धन, ये झगड़े, ये सिरदर्द, यह शोर छोड़कर मुझे शान्त तथा प्रसन्न वातावरण में कब जाने को मिलेगा, मैं उसकी ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ। बस इस एक बात के लिए मेरा मन न जाने कब से छटपटा रहा है। परन्तु मेरा ऐसा अटूट विश्वास है कि अपने अड़तीस करोड़ बन्धुओं को यदि मैं दासता की जंजीरों में तड़पता हुआ छोड़ गया, उनके दु:खों को नजरअन्दाज करके यदि मैं अकेला अपनी आत्मा की उन्नति तथा शान्ति के लिए उन सबको छोड़कर चला गया तो फिर मुझसे बढ़कर स्वार्थी और कौन होगा? यह बात मुझे कदाचित् कभी भी सहन नहीं रहेगी।....

"हिमालय के शिखरों पर, गुफाओं में तपस्या करते हुए भी उनकी चीखें, उनका दु:ख-दर्द से तड़पना, मेरी समाधि को भंग करेंगे। उन्हें इस प्रकार रोते-बिलखते हुए छोड़कर मेरी समाधि लगना सम्भव ही नहीं है। यह विचार ही मुझे अजीब-सा प्रतीत होता है। उन सब अपने बन्धुओं की जान संकट से बचाकर ही मुझे जाना होगा। उन्हें इस प्रकार मँझधार में छोड़कर जाना उनके साथ विश्वासघात होगा। ऐसे समय में केवल अपने अकेले के लिए मोक्ष की कामना करना पूर्णरूपेण स्वार्थ ही है। उन्हें स्वतन्त्र तथा सुखी करने के उपरान्त ही मैं अपने स्वयं ही की स्वतन्त्रता तथा सुख की ओर ध्यान दे सकता हूँ। यही वास्तविक मोक्ष है। मेरे देशबन्धु जब तक परकीयों के दास हैं, तब तक मेरी आत्मा को भी मेरे बन्धुओं की सेना का दासत्व स्वीकार करना पड़ेगा।...."

इस तरह की नेताजी की मनोधारणा थी। इस प्रकार की पार्श्वभूमि पर ही

उनके इस लोक की अलौकिक कृति का चित्र रेखांकित होने के कारण वह इतना मनोहर, उठावदार, चित्तरंजक, आँखों को दैदीप्यमान करनेवाला तथा उदात्तरूप में प्रकट हुआ था। उनके मन की इस प्रकार की तैयारी होने के कारण उन्हें लोगों की खुशामद करने की कभी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई।

इसी प्रकार किसी एक पूजनीय व्यक्ति के यदि सब विचार मान्य न हों, तब उस व्यक्ति के प्रति आदरभाव से अन्धे होकर अपने विचारों को त्याग देने की बात भी उन्हें मान्य नहीं थी। "आप आपके कुछ गुणों के कारण वन्दनीय हैं। परन्तु आपके कुछ विचारों को मैं स्वीकार नहीं करता। मेरी विवेक-बुद्धि मुझे बता रही है कि मेरा मार्ग आपसे सर्वथा भिन्न है। तदपि मेरे मन में आपके प्रति जो आदर-भाव है, वह तनिक भी कम नहीं होगा...."

ऐसा स्पष्ट रूप से विधान करके अपनी राह अलग बनाने का सामर्थ्य उनमें था। केवल लोगों की जय-जयकार प्राप्त करने के लिए, अथवा किसी पूजनीय व्यक्ति के अपनी राह अलग बनाने का साहस न होने के कारण, अपने विचारों को भूलकर उनपर आचरण न करने की भीरुता उन्होंने कभी नहीं दिखाई। किसी की भी परवाह किये बिना अपने सदसद्-विवेक को यदि कोई बात उचित नहीं लगी तो उस पर आचरण न करनेवाले व्यक्ति का मन कितना दृढ़निश्चयी तथा सुदृढ़ होगा—इस बात की हम सब केवल कल्पना ही कर सकते हैं। अपने बन्धुओं के लिए अपार स्नेह, उनके दीन तथा दरिद्रावस्था के लिए निरन्तर दुःख अनुभव करना, अपने ध्येय के लिए तड़प, अपना सब-कुछ अपने बन्धुओं के सुख के लिए अर्पण कर देने की उनकी उदार तथा त्यागी वृत्ति इत्यादि अद्भुत गुण सुभाषचन्द्र बोस के व्यक्तित्व के विशेष पहलू थे।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना में कैप्टन राय नामक मेरे एक मित्र थे। उन्होंने नेताजी के विषय में जो जानकारी दी, वह बड़ी ही मनोरंजक तथा ज्ञानवर्धक है।

कैप्टन राय उत्कल राज्य की राजधानी कटक में जिस अंग्रेजी पाठशाला की प्रथम कक्षा में थे, उसी पाठशाला की दसवीं कक्षा में उस वर्ष सुभाषचन्द्र बोस नाम का एक विद्यार्थी पढ़ता था। सुभाषचन्द्र बोस के पिता उस नगर के प्रख्यात वकीलों में से थे। उनका खानदान अमीर था। अन्यान्य अमीर घरानों की भाँति वह खानदान भी अपनी राजनिष्ठा अर्थात् अंग्रेज-भक्ति के लिए प्रसिद्ध था।

पाठशाला की कोई भी परीक्षा क्यों न हो, कोई पुरस्कार-वितरण समारोह हो, सुभाषचन्द्र बोस ही सदा सर्वप्रथम घोषित किये जाते। वे सारे पुरस्कार भी उन्हीं को प्राप्त होते थे। इतिहास, भूगोल, अंग्रेजी, गणित, कोई भी विषय हो सुभाषचन्द्र बोस ही प्रथम पुरस्कार प्राप्त करते थे।

आगे चलकर कॉलेज में भी तत्त्वज्ञान जैसे विषय में भी सुभाषचन्द्र बोस को ही प्रथम पुरस्कार मिलता था। जब सुभाषचन्द्र बोस मैट्रिक कक्षा में पढ़ते थे तब उन्होंने निबन्ध-प्रतियोगिता में भाग लिया था। कोई एक ऐतिहासिक विषय दिया गया था तथा एम०ए० के विद्यार्थी उसमें भाग ले सकते थे। परन्तु आश्चर्य की बात तो देखिए, सुभाषचन्द्र बोस ही उस प्रतियोगिता में प्रथम स्थान पर खड़े दिखाई दिए।

अंग्रेजों की प्रशंसा करनेवाले एक शिक्षक से सुभाषचन्द्र बोस का एक बार बहुत जोर का विवाद हो गया। परिणामस्वरूप उनका नाम स्कूल से काट दिया गया। तदपि किसी प्रकार उनको मैट्रिक की परीक्षा में बैठने की अनुमति मिल गई। आश्चर्य की बात है कि सुभाषचन्द्र बोस उस वर्ष की मैट्रिक परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो गए।

मैट्रिक की कक्षा में पढ़ते हुए सुभाषचन्द्र बोस ने अपनी कक्षा के पन्द्रह-सोलह छात्रों को एकत्रित कर एक कागज पर सबके रक्त से चौदह प्रतिज्ञाएँ लिखीं और यह प्रतिज्ञा की कि मृत्यु आने तक भी उन पर आचरण करना नहीं छोड़ेंगे।

उन चौदह तत्त्वों में—आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, भारत की स्वतन्त्रता के लिए अन्त तक लड़ना आदि-आदि बातें लिखी गई थीं। सदा ही सुभाषचन्द्र बोस का नाम निरन्तर कानों में पड़ने के कारण एक दिन उस छोटे-से राय ने अपनी बहिन से पूछ ही तो लिया, ''जीजी! यह सुभाषचन्द्र बोस कौन हैं? जहाँ देखो, जिस बात पर देखो, उसी का नाम सुनाई पड़ता है!'' इस प्रकार से बचपन में ही सुभाषचन्द्र सबके कौतूहल के विषय बन गए थे।

विवेकानन्द जैसे त्यागी महान् पुरुषों के लिए उनके मन में बड़ा आदर था। वे सदा ही वेलूर मठ के पुस्तकालय में जाकर धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे तथा योगाभ्यास करने की भी थोड़ी बहुत उन्होंने कोशिश की थी। गेरुए रंग के वस्त्र पहनकर, हाथ में डण्डा लेकर किसी को भी बताए बिना अल्प आयु में ही वे एक बार घर से निकल गए थे। तीन-चार मास तक हिमालय में भ्रमण करते रहने पर भी उन्हें कोई गुरु नहीं मिला, अतः वे वापस आ गए।

जिस प्रकार के घर में उन्होंने जन्म लिया था और जिस प्रकार उनके पिता का अंग्रेजों के प्रति मोह था, तदनुसार उनकी इच्छा यह थी कि उनका पुत्र आई०सी०एस० बने और उच्च पद पर रहकर उनका सम्मान बढ़ाए। किन्तु यह बात सुभाषचन्द्र की विचारधारा के सर्वथा विपरीत थी। अपनी सारी निपुणता शत्रु की सेवा में समर्पित कर अपने ही देशबान्धवों की गर्दन पर फन्दा कसा जाए—

यह उनको अभीष्ट नहीं था।

उनके पिता ने जब उनके यह विचार सुने तो एक दिन सहसा उनके मुख से निकल गया, "पहले आई०सी०एस० बनकर तो दिखा! फिर चाहे उसे छोड़ देना।"

पिता का उलाहना सुनकर सुभाष आई०सी०एस० की परीक्षा में बैठे और सब परीक्षार्थियों में उन्होंने चतुर्थ स्थान पाया थी। आई०सी०एस० परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त लन्दन से बम्बई पहुँचते ही उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और सीधे महात्मा गांधी से मिलने के लिए चल दिए। महात्मा जी के खादी, सत्य तथा अहिंसा का मन्त्र उनके मस्तिष्क में नहीं बैठा। वे समझ नहीं पाए कि इससे किस प्रकार भारत स्वतन्त्र हो सकेगा।

वहाँ से वापस होने पर वे बाबू चित्तरंजनदास के समीप गए। उन्हें लगा था कि उनके विचारों से उनका साम्य है। ऐसा करते हुए उन्होंने खादी आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन में भी भाग लिया था। मात्र 27 वर्ष की आयु में ही वे कलकत्ता म्युनिसिपैलिटी के मुख्य अधिकारी बन गए थे।

बाबू सुभाषचन्द्र बोस अपने जीवन में विभिन्न आन्दोलनों के सिलसिले में ग्यारह बार कारागार में भी गए थे। हरिपुरा कांग्रेस के अवसर पर उन्हें अत्यधिक बहुमत के आधार पर कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर निर्वाचित घोषित किया गया था। उस समय के कांग्रेस-अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता था। किन्तु गांधी जी नहीं चाहते थे कि सुभाष राष्ट्रपति रहें। गांधी को असन्तुष्ट रखकर तथा अन्यों की कृपा पर राष्ट्रपति बने रहना उन्हें भाया नहीं। वे किसी की कृपा पर निर्भर रहना नहीं चाहते थे। अत: ऐसा अवसर देखकर उन्होंने उस पद से स्वयमेव त्यागपत्र दे दिया।

कठिनाइयों का सामना करना सुभाष के रक्त में मिश्रित था। 'शत्रु को मारने की अपेक्षा शत्रु से मार खाना, तलवार और अन्यान्य शस्त्रास्त्र चलाना सीखने की अपेक्षा चरखा चलाना सीखना, अपराधियों को बन्दीगृह में भेजने की अपेक्षा स्वयं ही बन्दी बन जाना आदि-आदि ऐसी बातों से क्या स्वराज्य की प्राप्ति हो सकती है?' यह प्रश्न उन्होंने अनेक बार स्वयं से ही किया। उनकी दृष्टि में ऐसा एक भी देश नहीं था जिसने इन उपायों से स्वतन्त्रता-प्राप्ति की हो।

सुभाषचन्द्र गीता के गहन अध्येता थे। मूल संस्कृत तथा बँगला दोहों में उसकी टीकावाली गीता सदा उनके पास रहा करती थी। गीता के अध्ययन से बार-बार उनको यही समाधान मिला—"**तस्मात् त्वम् युद्धस्व**"'**मामनुस्मर युध्य च**"'**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्**।"

सुभाष जानते थे कि भारत के अधिकांश नागरिक जागृत नहीं हैं। भारतीय समाज प्रेमान्ध होकर कुछ भी करने के लिए उद्यत हो जाता है। भारतीय लोगों में विवेक-बुद्धि की कमी है। 'किसी व्यक्तिविशेष के मुख से यह वाक्य निकला है तो फिर ठीक ही होगा'—यहाँ के लोग इस प्रकार का अन्धानुकरण करते हैं। इन सब बातों पर विचार करने पर सुभाष इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि यहाँ पर अपनी इच्छानुसार कार्य करने का उचित वातावरण है ही नहीं।

ऐसा मन में आते ही वे सोचने लगे कि या तो चुपचाप यह सब सहते रहो, या फिर अपने विचारों को तिलांजलि देकर दूसरों की भाँति अन्धानुकरण करो। किन्तु ये दोनों ही बातें उनको स्वीकार नहीं थीं। तब फिर? फिर यही कि भारत से बाहर निकलकर खुले वातावरण में अपना कार्य आरम्भ करना चाहिए।

अपने इसी प्रकार के विचारों पर वे निरन्तर मनन-चिन्तन करते रहे। बारम्बार उनको एक ही उत्तर सूझता था कि यहाँ से बाहर गए बिना कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। तब उन्होंने बाहर निकलने का निश्चय कर ही लिया।

जिन दिनों इस प्रकार के विचारों का आलोड़न-विलोड़न उनके मन में चल रहा था, उन दिनों वे कारागार में ही थे। कारागार के वातावरण से खिन्न होकर उन्होंने वहाँ भूख-हड़ताल कर दी। बहुत दिनों तक उसी स्थिति में रहने के उपरान्त अन्त में उनको कारामुक्त कर दिया गया; किन्तु सर्वथा मुक्त नहीं किया था। उनको उनके ही निवास कलकत्ता के एलगिन रोड पर स्थित उनके बँगले पर स्थान-बद्ध किया गया था, अर्थात् उस बँगले से बाहर वे कहीं आ-जा नहीं सकते थे।

सुभाष बाबू का कमरा उस बँगले की दूसरी मंजिल पर स्थित था। यह बँगले के पिछवाड़े की ओर था। वहाँ से पीछे की गली अति निकट थी। सरकार ने उनकी निगरानी के लिए 64 पुलिसकर्मियों को वहाँ नियुक्त किया हुआ था जो गुप्तचर के रूप में उस बँगले पर चारों ओर से अपनी दृष्टि गड़ाए रहते थे। उन पुलिसवालों के पास एक-दो मोटरगाड़ियाँ भी होती थीं।

नेताजी के कमरे में उनके माता-पिता के साथ-साथ भाई-बहिनों आदि के चित्र भी टँगे हुए थे। कमरे में दो पलँग बिछे रहते थे—एक द्वार के समीप तथा दूसरा कुछ भीतर की ओर को। एक ओर एक छोटी मेज पर एक भगवद्गीता रखी रहती थी। वहीं पर उनके खड़ाऊँ रखे रहते थे और खूँटी पर एक-दो पोशाकें टँगी हुई थीं। पलँग के नीचे सफेद रंग के राजपूती जूतों की जोड़ी रखी हुई थी। प्रवेशद्वार पर एक परदा टँगा रहता था।

अपने घर से लुप्त होने से पूर्व दस-बारह दिनों से नेताजी ने अपने नाते-

रिश्तेदारों से मिलना-जुलना सर्वथा बन्द कर दिया था। इस अवधि में किसी ने उनको देखा तक नहीं था। कभी-कभी उनका भतीजा आकर उनके शरीर की मालिश कर जाता था। परदे से ढके हुए कमरे के आधे भाग में ही वे सोया करते थे। बैठे भी वे वहीं पर रहते थे। उनके समीप एक घंटी रखी हुई थी। आवश्यकता पड़ने पर वे उसे बजाते, तब नीचे से कोई उनसे काम पूछने के लिए आता था। सुभाषचन्द्र बोस उनसे भी मिलते नहीं थे, अपितु द्वार के पास पलँग पर एक परचा लिखा हुआ मिलता था। उसमें जैसा लिखा हुआ होता, वैसा वह आगन्तुक काम कर देता था। भोजन माँगने पर भोजन भी परदे के बाहर ही रख दिया जाता था। सुभाष थाली को अन्दर कर लेते और भोजन करके उसे यथास्थान रख देते।

सुभाष की माता जी समीपवाले कमरे में रहती थीं। जब लगातार दो-तीन दिनों तक घंटी नहीं बजी तो घरवालों को सन्देह हुआ। उन्होंने कमरे में जाकर देखना चाहा। कक्ष में प्रविष्ट होने से पूर्व उनको अनेक आवाजें दी गईं, किन्तु किसी का भी उत्तर नहीं मिला। फिर किसी प्रकार साहस करके वह परदा उठाकर भीतर कक्ष में प्रविष्ट हुए तो यह देखकर स्तब्ध रह गए कि वहाँ तो कोई था ही नहीं!

इससे आगे वे कलकत्ता से किस प्रकार जर्मनी पहुँचे तथा वहाँ पर डेढ़ वर्ष रहकर सुदूरपूर्व में किस प्रकार आए, यह विवरण सबको विदित ही है। उनकी माता जी उनके पासवाले कमरे में ही रहती थीं, परन्तु उनको कुछ न बताते हुए वे वहाँ से निकल भागे थे। अपने कर्त्तव्य में उन्होंने मातृप्रेम को भी बाधक नहीं बनने दिया।

भारतवर्ष में तो सभी नेता लगभग एक ही प्रकार के दिखाई देते हैं। खादी के वस्त्र धारण करना, मंच पर जोशीला और लच्छेदार भाषण देना, सरकार के साथ असहयोग करना और अन्त में कारागार में पहुँच जाना। लगभग यही जीवनक्रम सब नेताओं का रहा है। यह मार्ग सबसे पहले जिस महात्मा ने अपनाया वह अन्य जनों से बहुत श्रेष्ठ हैं तथा अन्यान्य जन जो उस कार्य में सहभागी बनते हैं वे कनिष्ठ हैं—ऐसी अनुभूति होना स्वाभाविक ही है; अन्यथा बड़ी-बड़ी बातें बनाना सभी को आता है। परन्तु जो कार्य सिद्ध करके दिखाता है वास्तव में वही महापुरुष कहलाने के योग्य है। उनको ही नेता कहा जाना चाहिए।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस युद्ध का जिस प्रकार का कार्यक्रम बनाना चाहते थे उसे स्वीकार करने के लिए भारत का जनमानस किंचित् भी तत्पर नहीं था। एक ओर तो परकीय राज्यकर्त्ताओं का बन्धन तथा दूसरी ओर कांग्रेस संस्था की

अहिंसा, सत्यव्रत का पालन करना तथा खादी के वस्त्र धारण करना और खादी कातना-बुनना भी एक प्रकार का बन्धन था। ऐसे वातावरण में नेताजी को अपने मन की बात कहने और अपने कार्यक्रम पर कार्य करने का अवसर उन्हें भारत में दिखाई ही नहीं दिया।

'भारत में, या सब नाते-रिश्तेदारों से दूर, अपने बन्धुओं से दूर पृथिवी पर कहीं भी, जब तक प्राण इस शरीर में रहेंगे उनके कल्याण के लिए मैं लड़ता रहूँगा।' यही उनके जीवन का मूल मन्त्र था। इसी के अनुसरण के फलस्वरूप उन्होंने प्रथम जर्मनी में तथा बाद में दूर पूर्व में अपना कार्य निरन्तर चालू रखा।

भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त करवा देने की सुभाषचन्द्र जी के मन की चिन्ता या व्यथा किस प्रकार की थी, इस बात की कल्पना भी दूर से देखनेवालों को कर पाना सम्भव नहीं था। भारत में उन-जैसे सैकड़ों लोग हैं—दूर से देखनेवालों को ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। परन्तु वे तो कई-कई रातों तक बिना सोए ही अपने कार्य में संलग्न रहनेवाले व्यक्ति थे। उनके दिन-रात तो राष्ट्रकार्य में ही व्यतीत होते थे।

मेरा उनसे दो वर्षों तक साथ रहा। उस कालावधि में मैंने उन्हें कभी भी सोते हुए नहीं देखा था। उनका नित्य का सोने का समय प्रातःकाल पाँच बजे से आठ या नौ बजे तक का होता था। इस समय को छोड़कर शेष किसी भी समय वे सोए ही नहीं थे।

स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना के दिनों में तथा जब भी अधिक कार्य होता था तब उनको एक पल की भी नींद ले पाना सम्भव नहीं हो पाता था। ऐसा लगातार कई दिनों तक होता रहता था। यदि अन्य सारा काम हो जाता था तो रात का कुछ शान्त समय वह स्वयं के अध्ययन के लिए तथा चिन्तन के लिए रख छोड़ते थे। उस कालावधि में किसी वीर पुरुष के चरित्र की अथवा किसी देश के स्वतन्त्रता-युद्ध का इतिहास-वर्णन, भारतवर्ष के विषय में कोई बोधप्रद तथा उपयुक्त पुस्तक, इस प्रकार का साहित्य वह रात्रि के समय पढ़ा करते थे। उसके उपरान्त उस पर चिन्तन करते थे।

स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना के बाद 1943 के नवम्बर मास के आरम्भ में टोकियो जाने के लिए उन्हें जिस दिन प्रातःकाल निकलना था, उसी विगत रात्रि में उनको सिंगापुर का बहुत काम समाप्त करना था। भारतीय स्वतन्त्रता संघ के, सेना के, सरकार के अधिकारियों से विचार-विमर्श के, अनेक प्रकार के आदेश प्रसारित करने, आज्ञापत्रकों पर हस्ताक्षर करने, मिलने आनेवाले जापानी अधिकारियों से चर्चा करने में ही सारी रात व्यतीत कर प्रातःकाल के आठ बजे

खाली हुए। फिर किसी प्रकार शीघ्रता से नित्यकर्मों से निवृत्त होकर वे वायुपत्तन पर पहुँच गए। उस रात उन्हें अध्ययन के लिए भी समय नहीं मिला था और नींद के लिए तो समय कहाँ मिलता?

एक अन्य घटना के समय सिंगापुर के उत्तर में करीब 75 मील पर एक नगर है बातू बहात। सिंगापुर के सैनिक अधिकारियों का विद्यालय कुछ मास बाद यहाँ स्थानान्तरित किया गया था। उस नगर में स्वतन्त्रता सेना के सैनिक विद्यालय का प्रशिक्षण समाप्त करके, उनमें दो-ढाई सौ प्रत्याशी दूसरे दिन स्वतन्त्रता सेना में सैकण्ड लेफ्टिनेंट के रूप में पद ग्रहण करनेवाले थे। उस समारोह में नेताजी उपस्थित थे। शाम के समय सबका व्यायाम, नेताजी का भाषण, पुरस्कार-वितरण समारोह इत्यादि होने के बाद रात को दस बजे के लगभग भोजन का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। इस मध्य नेताजी ने विद्यालय का निरीक्षण किया। भोजनोपरान्त गाना, नाटक इत्यादि मनोरंजन के कार्यक्रम रखे गए थे। उसके बाद प्रातःकाल 3-4 बजे के लगभग उन सब नये दो-ढाई सौ युवा अधिकारियों को नेताजी ने अपने आस-पास बिठाकर बातें करना शुरू किया। वे युवक नेताजी से भाँति-भाँति के प्रश्न पूछते और नेताजी उनके उत्तर देते; इस प्रकार प्रातःकाल के साढ़े सात बज गए। बाद में नेताजी मोटरकार से सिंगापुर वापस आए। ऐसा अनेक बार होता था।

स्वतन्त्रता की चिन्ता में सोए बिना जीवन व्यतीत करनेवाले ऐसे कितने देशभक्त होंगे तथा वे किस श्रेणी के होंगे, किस दर्जे के होंगे—इस बात का निर्णय पाठक स्वयं ही कर सकते हैं।

इस प्रकार निद्रा से वंचित रहने का परिणाम नेताजी के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा हुआ था। बाहर से यद्यपि उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट दिखाई देता था, तदपि भीतर से वह उतना स्वस्थ नहीं था। सुदूरपूर्व के उन दो वर्षों के मध्य उनका स्वास्थ्य केवल दो बार बिगड़ा था। यह बात भी केवल उनको ही विदित थी जो उनके निकट रहते थे। क्योंकि उन्होंने कभी काम का एक दिन भी स्वास्थ्य के कारण व्यर्थ नहीं गँवाया था। जैसा कि ऊपर लिखा है, उन्हें दो बार ज्वर हुआ था और उनके शरीर में पीड़ा थी, बस इतना ही। परन्तु इससे उनके किसी कार्य में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई थी।

दिन में एक या दो बार मालिश करवाने की नेताजी को आदत थी। एक कार्य के लिए स्वतन्त्रता सेना के एक बलिष्ठ महाराष्ट्रीय व्यक्ति की नियुक्ति की गई थी। बीच-बीच में उनके शरीर की डॉक्टरी जाँच करने के लिए स्वतन्त्रता सेना के मेजर डॉ० राजू को नियुक्त किया गया था।

नेताजी के पास अनेक प्रकार के काम होते थे। एक तो वे स्वयं भारतीय

स्वतन्त्रता सरकार के राष्ट्रपति थे। परराष्ट्रमन्त्री तथा युद्धमन्त्री का कार्य भी वे स्वयं ही देखते थे। दूर पूर्व में स्थित भारतीय स्वतन्त्रता संघ के अध्यक्ष तथा भारतीय स्वतन्त्रता सेना के सेनापति, दोनों पद भी उन्हीं के पास थे। इस प्रकार उनका कार्य कितना व्यापक था इस बात की हम थोड़ी-बहुत कल्पना कर सकते हैं। उनका परिधान सदा खाकी ही हुआ करता था।

उनकी खाकी वर्दी भी महँगे कपड़े की नहीं बनती थी। वह सादे खाकी सूती कपड़े की होती थी। सेनापति के परिधान के अन्य चिह्न तथा सजावट इत्यादि तय करने का उस समय न तो समय था और न ऐसा करना उनको उचित लगता था। पहले से जो प्रथा चली आ रही थी, नेताजी ने उसी का अनुसरण किया। केवल सोते अथवा स्नान करते समय वह परिधान उनके शरीर पर नहीं रहता था। भारतीय स्वतन्त्रता सेना के सैनिक भी सदा सैनिक परिधान में ही रहते थे। सायंकाल घूमते समय अथवा किसी से मिलते समय ही अधिकारियों को सैनिक वर्दी के बिना अन्य वस्त्र पहनने की अनुमति मिलती थी।

महापुरुषों के शुभचिन्तकों के समान उनके शत्रु भी होते ही हैं। भक्तगणों के साथ-साथ उनके निन्दक भी होते हैं। इसी प्रसंग में नेताजी के विषय में भी कुछ गलत बातें करनेवाले लोग भी थे ही। स्वतन्त्रता आन्दोलन के विषय में उनसे मतभेद के कारण अलग होनेवाले दो-चार लोग थे। उनसे झगड़कर अलग होनेवालों में एक व्यक्ति मेरे परिचित थे। नेताजी की देशभक्ति और उनका स्वच्छ चरित्र—ये गुण तो उसको भी मान्य थे, परन्तु उसका कहना था कि "नेताजी को तो सदा अपनी स्तुति ही प्रिय लगती है। उनसे स्पष्ट कहनेवाले लोगों को वे कभी निकट नहीं फटकने देते। उनके भाषण, उनका कार्य, सब-कुछ अच्छा है, यही सबको कहना चाहिए, यही नेताजी चाहते थे।"

मैंने उनसे कहा, "मुझे जितना अनुभव है उसके आधार पर जो आप कह रहे हैं वह मुझे उचित नहीं प्रतीत होता। अपना सारा स्वार्थ उन्होंने समेटकर अलग रख दिया है। अपने देश के लिए उनके मन में अपार प्रेम है। यह सब आप जब मानते ही हैं तो केवल आत्मस्तुति सुनने की लालसा उनके मन में शेष बची हुई होगी, ऐसा मैं नहीं मानता। सब लोग हमें अच्छा कहें, अतः हम अच्छे गुणों से सम्पन्न हों, ऐसा तो सभी को रुचता है, परन्तु उसे आत्मस्तुति की लालसा नहीं कहा जा सकता।"

"दूसरी बात यह है कि यदि कोई बात आदरपूर्वक समझाएँगे कि उसके लाभ-हानि क्या हैं, वह प्रत्यक्ष रूप में कैसी होगी, तथा प्रचलित पद्धति किस प्रकार बुरी है, उसके स्थान पर दूसरी पद्धति किस प्रकार लागू की जाएगी—यह

बात यदि ठीक से नेताजी जैसे व्यक्ति से कही जाय, तब वे उस परामर्श को कभी भी अस्वीकार नहीं करेंगे। इसके विपरीत यदि उन्हें वह बात ठीक न लगे तो वह उसे अमान्य कर देंगे।....

''परन्तु यदि कोई व्यक्ति केवल बुराई ही करते हुए झगड़ता रहेगा, तब उसका अर्थ 'विरोध' समझते हुए उस व्यक्ति का जो काम चल रहा है, उसमें हस्तक्षेप नहीं करने दिया जाएगा। उसे अलग करने की कोशिश तो कोई भी व्यक्ति करेगा ही। एक बार यदि यह बात मान भी ली जाय कि नेताजी जैसे व्यक्ति को आत्मस्तुति पसन्द थी, तदपि वह कोई बहुत बड़ा अथवा इस कार्य को नष्ट करनेवाला दोष तो था नहीं। इतना बड़ा काम जो व्यक्ति अंजाम देता है उसे अपने काम को गौरव प्राप्त होने की अपेक्षा करने में कोई बुराई नहीं है।....

''अच्छा कार्य करने को प्रवृत्ति रखनेवालों में यह इच्छा सदा ही प्रभावकारी होती है कि अन्य लोग हमें अच्छा कहें।''

ऊपर जिस व्यक्ति का उल्लेख किया गया है वह महाराष्ट्रियन था। दुर्भाग्य से उनकी नेताजी से नहीं निभ पाई। वह व्यक्ति अब इस संसार में है भी नहीं। उनकी कार्यक्षमता, कार्य-तत्परता, निरन्तर कार्यमग्न रहने और देश की भलाई की उनकी प्रबल इच्छा के विषय में उनके सहकारियों में किसी को भी कोई सन्देह नहीं था। नेताजी से कभी यदि उनका कोई झगड़ा भी हुआ हो तो उनका कोई बुरा उद्देश्य नहीं था।

नेताजी के निष्कलंक चरित्र के विषय में आम लोगों में तथा उनके निकट के लोगों में जरा भी शक नहीं था। परन्तु फिर भी कहीं भी किसी कोने में उनके चरित्र पर छींटे डालनेवाले कुछ लोग थे, ऐसा कभी-कभी सुनाई देता था। इन लोगों को नेताजी की धवल कीर्ति के विषय में बुरा लगता होगा अथवा किसी को बुरा कहने में आनन्द आता होगा। नेताजी के दैनिक जीवन में किसी को भी अँगुली उठाने के लिए कोई स्थान नहीं था।

इससे सम्बन्धित एक रोचक घटना है। एक बार नेताजी को उनके सिंगापुर के निवास-स्थान पर ऊपर की मंजिल पर उनके अभ्यास-कक्ष के कमरे की मेज पर रखने के लिए एक टेबल लैम्प चाहिए था। हसन नामक व्यक्ति जो जर्मनी से उनके साथ ही आए हुए थे, उनके सचिव थे। उनको नेताजी ने एक टेबल लैम्प लाने के लिए कहा।

श्री हसन ने दूरभाष द्वारा व्यवस्था-विभाग को इसकी सूचना दे दी। उस विभाग का एक व्यक्ति जल्दी से मोटरगाड़ी से बाजार जाकर एक बढ़िया-सा लैम्प खरीदकर ले आया और उसे नेताजी के निवासस्थान पर पहुँचवा दिया।

श्री हसन ने उसे नेताजी की मेज पर रख दिया। अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण नेताजी दिनभर बाहर ही रहे। प्रात:काल तीन-चार बजे तक बाहर के सब कामों को निपटाकर हमेशा के स्वभाव के अनुसार जब वे अपने कक्ष में आए तो मेज पर टेबल लैम्प को देखकर उनके माथे पर सलवटें उभर आईं।

श्री हसन उस समय सो रहे थे। अत: नेताजी ने सोचा कि अगले दिन वे उसे अपनी रुष्टता का उल्लेख करेंगे। दूसरे दिन अवसर मिलते ही नेताजी ने उन्हें बुलवाया। बोले, "हसन! मैंने कल आपसे एक टैबल लैम्प लाने को कहा था न?"

"जी हाँ, वह मैंने कल ही आपकी मेज पर रखवा दिया था।"

"क्या वह अच्छा है?"

"मुझे तो अच्छा ही लगा था।"

"क्या आपने उसे ठीक से देखा है?"

"देखा तो था।"

"तो आपको उसमें कोई खराबी नहीं दिखाई दी?"

"जी नहीं।"

"जाइये, एक बार ऊपर जाकर फिर से उसको देखिए।"

हसन ऊपर गए। उन्होंने बार-बार उसको देखा और सोचने लगे कि उसमें क्या बुराई हो सकती है? वह सोच रहे थे कि जब उन्होंने उसे मेज पर रखा था, तब तो उसमें किसी प्रकार की कोई खराबी दिखाई नहीं दी थी। बाद में किसी ने कुछ किया हो, ऐसा भी सम्भव नहीं है।

ऊपर जाकर हसन ने बिजली का स्विच ऑन किया यह देखने के लिए कि वह जल तो ठीक रहा है न? लैम्प यथावत् था, उसमें कोई अन्तर नहीं था। उन्होंने उसका भली प्रकार निरीक्षण-परीक्षण किया, तदपि उनको उसमें कहीं कुछ ऐसा दिखाई नहीं दिया जिसे खराबी कहा जा सके।

देख-दाखकर वह नीचे आ गए। नेताजी ने पूछा, "आपने क्या देखा?"

"मुझे तो उसमें ऐसा कुछ दिखाई नहीं दिया।"

"उस स्टैंड के निचले भाग में एक नग्न महिला का छोटा-सा चित्र बना हुआ है। उस पर आपकी दृष्टि नहीं गई?"

हसन एकदम ही सारा मामला समझ गए। उन्हें स्वयं पर आश्चर्य हुआ कि यह उनकी दृष्टि से बची कैसे रह गई? उन्होंने स्वीकृति में गर्दन हिला दी।

नेताजी बोले, "मुझे अपनी मेज पर ऐसा स्टैण्ड नहीं चाहिए। उसे समुद्र में फिंकवा दीजिए।"

तुरन्त ही उस स्टैण्ड को उनकी मेज पर से हटाया गया।

स्वतन्त्रता सेना को ब्रह्मदेश को भेजने से पहले नेताजी ने सब अधिकारियों को विद्याधारी छावनी में बुलाकर उनके सम्मुख एक भाषण दिया। इसमें उन्होंने कहा, "मित्रो! भारतीय स्वतन्त्रता सेना के अधिकारी के रूप में आपको अपना व्यवहार, चरित्र तथा शील बहुत साफ रखना चाहिए। दूसरे देशों की सेना में हर अधिकारी अपना काम समय पर, ठीक प्रकार से करता है कि नहीं—इतना ही उनके अन्य देश के नागरिक देखते हैं। अपने अवकाश के समय में वह क्या करता है, अपने निजी जीवन में वह किस प्रकार व्यवहार करता है, उसका व्यवहार अच्छा है अथवा नहीं—इन सब बातों पर वे किंचित् भी ध्यान नहीं देते। अन्य देश की सेना के अधिकारियों के चरित्र को कोई भी महत्त्व नहीं देता, परन्तु भारतीय लोग वैसे नहीं हैं—उनकी दृष्टि में 'चरित्र' का विशेष महत्त्व होता है।...."

"असीम स्वार्थ-त्याग करनेवाले किसी राष्ट्रपुरुष के चरित्र पर यदि एक भी छींटा पड़ा तो भारतीय लोगों के मन में उसके काम की रत्तीभर भी कीमत नहीं रहती। यह बात अच्छी है या नहीं यह बिल्कुल अलग है, परन्तु है यह ऐसा ही। किसी देश की वृत्ति में थोड़ा-सा बदलाव भी हम नहीं ला सकते और उसका कोई ठोस कारण भी नहीं है। अतः उस वृत्ति के लिए जो उचित हो वही हमें करना चाहिए। 'हम सात या आठ घंटों तक काम करेंगे, बाद में हमारी ओर कोई भी ध्यान न दे'—ऐसा आपमें से किसी को नहीं समझना चाहिए। आप अपने जीवन का हर पल कैसे बिताते हैं, इस ओर सब लोगों का ध्यान होता है। 'यह बात तो हम छिपकर करते हैं, इस बात का पता किसी को किस प्रकार चलेगा'—ऐसा कदाचित् आप लोग समझते हों, परन्तु दीवारों के भी कान और आँखें होती हैं। अतः अपने मन को वश में रखकर अपने चरित्र को साफ रखना ही अच्छा होता है।...."

"अब हम सब लोग भारत में प्रवेश करेंगे। हम सब पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। भारतीय स्वतन्त्रता सेना का अधिकारी होने के नाते आपका चाल-चलन आदर्श होना चाहिए। आपके लिए सबके मन में आदर उत्पन्न हो, इस प्रकार का आपका आचरण होना चाहिए। इस एक महत्त्वपूर्ण बात में आप स्वयं को अन्य देशों के अधिकारियों की तुलना में भिन्न समझिए...."

ऊपर वर्णन की गई दो घटनाओं से तथा नेताजी के काम की व्यस्तता से आपको उनके स्फटिक के समान उज्ज्वल चरित्र की कल्पना हो गई होगी।

जब नेताजी से कोई व्यक्ति मिलने के लिए आता था तो वे हँसकर उसका

स्वागत करते हुए उसे अपने समीप बैठाते थे। उनके मन में ऊँच-नीच का कभी कोई भेद रहा ही नहीं। राजा हो अथवा रंक, वे दोनों का एक-समान स्मित से स्वागत करते थे। सबके प्रति नम्रता का प्रदर्शन करते थे। किसी अपरिचित व्यक्ति से यदि वे प्रथम बार मिल रहे हों तो वह उसे शान्त तथा स्थिर दृष्टि से देखते रहते थे। मानो वह उसके चेहरे से उसका स्वभाव तथा उनसे मिलने का उद्देश्य जानने का अनुमान लगा रहे हों।

सामान्यतया उनके चेहरे पर धीरता, गम्भीरता और शान्ति ही दिखाई देती थी। कोई भी सूचना, आयु अथवा अधिकार में कितने भी छोटे-से व्यक्ति से क्यों न प्राप्त हुई हो, वे उस पर शान्ति से विचार अवश्य करते। एकदम से तुच्छतापूर्वक उत्तर देना अथवा उस सूचना को सहसा गलत कह देना उनके स्वभाव में ही नहीं था। नेताजी के चेहरे का भाव यद्यपि शान्त तथा गम्भीर दीखता था, तदपि उस पर मुस्कराहट तुरन्त ही दिखाई देने लगती थी। जब नेताजी खाने की मेज पर खाना खाने के लिए बैठते थे तब अन्य सब लोगों को खुशामद करके, तथा जो उनके पास बैठता तो अपने हाथों से हर पदार्थ स्वयं अपनी थाली में डालने से पूर्व उसे परोसते थे। भोजन करते समय अधिकांशतया बड़े रोचक किस्से सुनाए जाते थे। उस अवसर पर किसी गम्भीर विषय पर चर्चा नहीं की जाती थी।

उनके स्वभाव की एक अन्य विशेषता उनका कोमल अन्तःकरण था। दूसरे का दुःख देखकर अथवा उसका स्मरण होते ही उनकी आँखों में आँसू भर जाया करते थे। दूसरे के हृदय से निकली तीव्र भावनाएँ सीधे उनके हृदय को स्पर्श कर जाती थीं।

एक दिन सेलेतार सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र में रिक्रूटों को नेताजी ने सम्बोधित किया। भाषण समाप्त होने पर उनकी ध्येयनिष्ठता देखकर उन्हें बहुत प्रेम करनेवाला एक रिक्रूट अपने हाथों में कुछ फूलों को लेकर उनकी मोटरकार के पास खड़ा हो गया। वे जब कार में बैठने के लिए आए, तब उसने आगे बढ़कर उनको नमस्कार किया। उसकी आँखों में उस समय प्रेमाश्रु चमक रहे थे। दोनों हाथों में भरे हुए फूलों को उसने उनके सिर पर रखी टोपी में रख दिया। जब वे गिरने लगे तो उसने उन्हें उठाकर फिर से ठीक से रखने का यत्न किया। उसका गला रुँध गया था। उसके मुख से कोई आवाज नहीं निकल रही थी। नेताजी के प्रति उसके मन में जो असीम प्रेम तथा अत्यधिक आदर था, उसकी तीव्रता उससे सहन नहीं हुई तथा वह हिचकियाँ लेकर रोने लगा। नीचे झुककर उसने अपनी भुजाओं से नेताजी के पाँव कसकर पकड़ लिये।

''अरे रे''''ये''''क्या ?''''' ऐसा कहते हुए नेताजी ज्यों ही उसे उठाने लगे, उसने उनके पाँव और जोर से पकड़ लिये।

''तुम तो सिपाही हो, ऐसा नहीं किया करते।'' यह कहकर नेताजी उसे उठाने लगे।। वह रिक्रूरूट उत्तरी भारत का था। थोड़ा उठने लगता परन्तु फिर प्रेम के आवेश में उनके पैरों को कसकर पकड़ लेता था, मानो नेताजी को कहीं जाने ही न दिया जाए। ऐसी उसके मन की स्थिति हो गई थी। अन्त में अन्य अधिकारियों ने आकर उस सिपाही को अलग किया। उन्होंने देखा कि नेताजी का चेहरा भी लाल हो गया था और उनके नेत्रों में भी प्रेमाश्रु छलक आए थे।

अनेक लोग ऐसे होते हैं जो श्रीमद्‌भगवद् गीता को मात्र पढ़ते हैं, उसका पारायण करते हैं। परन्तु नेताजी उसे मात्र पढ़ते नहीं थे, अपितु उसके उपदेशों को अपने आचरण में लाने का यत्न करते थे। भगवान कृष्ण के उपदेश को आधुनिक जीवन में किस प्रकार उतारा जा सकता है, उसे किस प्रकार प्रत्यक्ष किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भी नेताजी का जीवन ही है। वे स्थितप्रज्ञ की स्थिति में पहुँच चुके थे।

इसके अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। सन् 1945 के अप्रैल मास में ब्रह्मदेश छोड़ नेताजी को स्याम वापस आना पड़ा था। भारतीय स्वतन्त्रता सेना की दो पूरी की पूरी डिविजन ब्रह्मदेश में अंग्रेजों के हाथ आ गई थीं। जर्मनी का भी यहाँ पर सर्वनाश हो गया था। जापान की पराजय के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। ऐसे में सामान्य व्यक्ति के लिए जो निराशामय स्थिति होती है, उस अवसर पर नेताजी के क्या विचार थे यह बड़ी गम्भीरता से विचारणीय है।

बैंकाक में उनके निवास के समय के अनेक भाषणों में उन्होंने जो शब्द कहे उससे उनकी मनःस्थिति स्पष्ट प्रकट होती है। उन्होंने कहा था, ''कुछ लोगों को ऐसा कहते सुना है कि जर्मन देश अब हार चुका है, अतः अब हमें युद्ध नहीं करना चाहिए। यह युद्ध, यह सर्वनाश अब व्यर्थ है। परन्तु मैं इस बात को नहीं मानता। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए यदि हम दूसरों पर ही सदा निर्भर रहे तो हमें स्वतन्त्रता कभी प्राप्त नहीं होगी। आज जर्मन देश की हार हो चुकी है। कल जापान भी हार जाएगा, तब क्या हम हाथ पर हाथ रखे हुए चुप बैठे रहेंगे ? इसके विपरीत मैं तो यह कहूँगा कि हमें बाहरी सहायता जितनी कम मिलेगी, उतना हमें अपना उत्साह, अपनी कोशिश को कम न करते हुए और बढ़ाना होगा। जर्मन देश यदि हार गया हो तब भी कोई बात नहीं। अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते समय यदि हमारे प्रयत्न शिथिल हुए होते तो एक बार हम ऐसा कह सकते थे कि दूसरे की सहायता प्राप्त तो हो ही रही है, चलो हम थोड़ा सुस्ता लें।''''

''जब तक जापान देश हमारे साथ अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ रहा है, तब तक हम कह सकते हैं कि जापानी हमारी सहायता करने के लिए हैं ही। परन्तु कल कदाचित् जापान भी हार जाए, तो हमें अपने प्रयत्नों को उस परिमाण में और अधिक बढ़ना होगा; उन्हें कम करना होगा—यह बात कौन सोच सकता है? भारत की, आपकी मातृभूमि की स्वतन्त्रता क्या कोई साधारण-सी बात है जो आशा-निराशा के हर क्षण बदलते वातावरण में उसे थोड़ी देर उत्साहपूर्वक हाथ में लें तथा फिर उसे छोड़ दें, फिर से कोशिश करें तथा फिर त्याग दें।

''इतनी सरलता और इतनी शीघ्रता से त्याग देनेवाली यह बात नहीं है। इस जागतिक युद्ध का अवसर हाथ से निकला जा रहा है, अतः यह प्रयत्न छोड़ देना अथवा निराश होकर चुपचाप बैठ जाना—इससे यह निष्कर्ष किस प्रकार निकलता है, यही मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। ऐसे कितने ही अवसर आते हैं तथा चले जाते हैं। आज तक इस प्रयत्न में राष्ट्रभक्तों की कितनी ही पीढ़ियाँ जा चुकी हैं। आपको कदाचित् ऐसा लग रहा था कि थोड़े ही बर्षों में हमें सफलता मिल जाएगी। किन्तु आप जैसा सोच रहे थे वह वास्तव में हो नहीं पाया, अतः अपने प्रयत्नों को छोड़ देने की अपनी इस वृत्ति को देखिए और कम से कम अपनी इस आयु में इस पलायन-वृत्ति को तो त्याग ही दीजिए।''

''यदि भारत का दुर्भाग्य हमारे जीवन में समाप्त नहीं हुआ हो तब अगली एक-दो और पीढ़ियों को भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होगी—यह किसी प्रकार भी निष्कर्ष निष्पन्न नहीं होता। यद्यपि हम मर गए, तदपि हमारा देश तो जीवित रहेगा ही, अतः उसकी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करते रहना ही हमारा परम कर्त्तव्य है।

''मेरे कथन का बुरा मानकर अपने प्रयत्नों को शिथिल मत होने दीजिए। अपने शरीर में जब तक जान है तथा अपना उद्देश्य जब तक सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक निरन्तर प्रयत्न करते रहना हमारा कर्त्तव्य है। ऐसे युद्ध करते-करते चाहे कोई भी हमारी सहायता करने के लिए नहीं बचा, फिर भी हम अपना युद्ध चालू ही रखेंगे—ऐसा निश्चय कीजिए।''

''यदि विश्व-युद्ध समाप्त हो जाए, तब हम हार गए हैं—ऐसा भी आप मत सोचिए! भारत स्वतन्त्र न हुआ तो 'अपने हाथ से अवसर निकल गया है' ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है। आयरलैण्ड का ही उदाहरण लीजिए। सन् 1916 के 'ईस्टर रिबेलियन' नाम से प्रसिद्ध हुए स्वतन्त्रता-प्राप्ति के प्रयत्न में आयरिश लोग बिल्कुल भी सफल नहीं हुए थे। उस समय अंग्रेजों की सेनाएँ जर्मनी जैसे शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध में जुटी हुई थीं। अंग्रेज हर स्थान पर पराजित होते जा रहे थे। फिर भी उन्होंने पलभर में ही आयरिश लोगों को कुचल

डाला। विश्वयुद्ध की समाप्ति के उपरान्त अंग्रेज सेना वापस आ गई। आयरिश लोगों ने पुनः सन् 1922 में संगठित होकर एक बार यत्न किया। आश्चर्य की बात यह है कि उस वर्ष अंग्रेज सेना को अन्य कोई भी काम नहीं था, इंग्लैण्ड के बिल्कुल निकटवर्ती यह छोटा-सा देश अंग्रेज की संगठित शक्ति का विरोध करके स्वतन्त्र हो गया।''''

''विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद निष्क्रियता की लहर आ जाती है। सारे सैनिक अनेक वर्षों तक संकटों का सामना करके घर वापस आते हैं। उनकी आंतरिक कामना है कि एक बार रख दिये गए शस्त्र दोबारा हाथ में न लेने पड़ें। सैनिक जीवन से उन्हें वितृष्णा-सी हो जाती है। फिर से अपना घरबार छोड़कर वे जाने के लिए उद्यत नहीं होते। यदि फिर से वैसी आज्ञा आए तो वे उसकी अवज्ञा करके विद्रोह करने से भी नहीं झिझकते।''''

''ग्रीक तथा तुर्क लोगों के युद्ध में ग्रीक लोग तुर्कों को भी पीछे धकेलते उनकी राजधानी की सीमा तक पहुँच गए थे। परन्तु इतना होने पर भी तुर्क निराश नहीं हुए। उन्होंने साहस बटोरा और शत्रु को वहाँ से खदेड़ दिया। इस प्रकार अपना सारा गँवाया हुआ प्रदेश फिर से प्राप्त कर लिया था।''

इस प्रकार के असीम उत्साह से नेताजी सदा परिपूर्ण रहा करते थे—''अन्त तक कर्म करते रहना, जय-पराजय की चिन्ता न करना, निराश न होना।'' गीता का यह उपदेश नेताजी ने अक्षरशः अपने आचरण में स्थिर कर लिया था। ऐसे असाधारण पुरुष को केवल अपने समय का एक महापुरुष न मानते हुए भगवान बुद्ध, अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, आद्य शंकराचार्य, छत्रपति शिवाजी महाराज, राणा प्रताप, रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, तात्या टोपे, आदि भारत के इतिहास में 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अजरामर हुए व्यक्तियों की पंक्ति में एक नाम उनका भी समाविष्ट करना होगा।

जब नेताजी सुदूरपूर्व में थे तब भी अपने व्यस्त जीवन से समय निकालकर वहाँ के रामकृष्ण मिशन की शाखा के विभिन्न कार्यक्रमों में दो-तीन बार गए थे। ''यदि मेरे पास और समय होता तो मैं यहाँ पर आकर ध्यान लगाने का प्रयत्न करता। मेरे मन में ईश्वर का चिन्तन करने की बहुत ही तीव्र इच्छा सदा ही उठती है। परन्तु क्या करूँ, कार्यवश मुझे अपनी उस इच्छा का दमन करना पड़ता है।'' ऐसे उद्‌गार उन्होंने कई बार सिंगापुर के रामकृष्ण मिशन के ब्रह्मचारी कैलाशम् के सम्मुख व्यक्त किये थे।

कार्य की व्यस्ता के कारण उनका दोपहर का भोजन दोपहर बाद तीन से पाँच बजे तक जब भी अवकाश मिल जाए, हुआ करता था। रात का भोजन नौ

बजे तक होता था। कुत्ते-बिल्ली आदि पालतू पशुओं की ओर ध्यान देने का उन्हें तनिक भी समय नहीं था। उनके मन में कभी उनका विचार भी नहीं आया।

सिंगापुर में दूध का व्यापार करनेवाले कुछ भारतीय ग्वाले एक दिन ढोलक बजाते हुए पुष्पहार तथा पुष्प आदि और उसके साथ रुपए, आभूषण आदि तथा अन्यान्य इसी प्रकार की मूल्यवान् वस्तुएँ लेकर नेताजी को भेंट देने के लिए सीधे उनके घर पर आ धमके। द्वार पर तैनात पहरेदार उन्हें भीतर नहीं जाने दे रहा था। उन लोगों का कहना था कि नेताजी के दर्शन किये बिना हम वापस नहीं जाएँगे। नेताजी स्वतन्त्रता संघ के कार्यालय में नित्यप्रति दोपहर को तीन-चार घंटे बैठते थे। उस समय जिन व्यक्तियों को उनसे किसी महत्त्वपूर्ण काम से मिलना होता था वे वहाँ पर उनसे मिलते थे। ऐसी परम्परा होने के कारण वे लोग वहाँ से हट ही नहीं रहे थे।

उन्होंने ढोलक बजाकर नाचना आरम्भ कर दिया। उसके साथ ही नेताजी का जय-जयकार करते रहे। उनका बार-बार कहना था कि वे हमारे नेता हैं, उन्हें हमें दर्शन देने ही होंगे। ऊपर भारतीय तथा जापानी सैनिक अधिकारियों के साथ नेताजी की महत्त्वपूर्ण बैठक चल रही थी। ऐसे समय में किस का साहस नहीं हो रहा था कि वह नेताजी को जाकर बाहर से मिलने आए लोगों की इच्छा के विषय में बताए।

अन्त में स्वयं नेताजी ने ही अनुभव किया कि बाहर कुछ हंगामा हो रहा है। उन्होंने उसके विषय में जानने के लिए दो व्यक्तियों को नीचे भेजा। उन्होंने भी आगन्तुकों को यह समझाने का यत्न किया कि नेताजी इस समय व्यस्त हैं, बाहर नहीं आ पाएँगे। किन्तु उनको यह सब स्वीकार नहीं था।

विवश थोड़े समय के लिए बैठक को स्थगित कर नेताजी स्वयं नीचे आए। उन्होंने कहा कि उन लोगों को भीतर आने दिया जाए। वे लोग भीतर आए, उन्होंने नेताजी को मालाएँ पहनाईं। भेंट देने के लिए लाई गई सामग्री तथा धनराशि उन्हें भेंट की। कुछ ने उनके चरण-स्पर्श कर प्रणाम किया। इस प्रकार उनका समाधान होने पर नेताजी का आभार प्रदर्शित कर वे लोग वहाँ से चले गए।

इस छोटे-से उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ के भारतीय लोगों में नेताजी के प्रति क्या भावना थी।

नेताजी जब सिंगापुर में रहते थे तब लगभग तीन-चार घंटे तक अर्थात् प्रातःकाल दस बजे से मध्याह्न दो बजे तक स्वतन्त्रता संघ के केन्द्रीय कार्यालय में जाकर बैठते थे। दूर पूर्व के भारतीय स्वतन्त्रता संघ के अध्यक्ष के रूप में जिन कामों को देखना पड़ता था, वे सब उसी कार्यालय में जाकर निपटा देते थे।

तदनन्तर स्वतन्त्रता सेना के मुख्यालय में जाकर बैठते थे। वहाँ पर सेना का संचालन, जापानियों से शस्त्रास्त्र, बारूद, अनाज तथा अन्यान्य आवश्यक सामग्री समय पर प्राप्त हो रही है अथवा नहीं, यह देखना आवश्यक हो जाता था।

यदि किसी बड़े अधिकारी ने कोई अपराध किया हो तो उस पर अभियोग चलाना, चिकित्सकीय तथा व्यवस्था करनेवाले विभाग की कठिनाइयों को सुलझाना, सुदूर ग्रामों में जो टुकड़ियाँ गई हों उनकी छावनियों तथा केन्द्र के वरिष्ठ अधिकारी यदि किसी काम से आए हों तो उनसे मिलकर उनकी टुकड़ी के कामकाज के विषय में पूछताछ करना, इत्यादि काम उन्हें करने पड़ते थे। बचे हुए समय में अधिकतर उनके ही घर में विभिन्न प्रकार की बैठकें, चर्चाएँ, परिषदें और मिलना-जुलना होता रहता था।

अलौकिक स्वभाव तथा आश्चर्यजनक कार्यक्षमता, इन दोनों दृष्टियों से श्री सुभाषचन्द्र बोस जैसा व्यक्ति स्वेच्छा-भाव से प्राप्त रहा, यह भारतवर्ष के परम सौभाग्य की ही बात कही जानी चाहिए।

अध्याय इक्कीस

युद्ध की पूर्व-तैयारी

सन् 1943 के नवम्बर मास की 6 तारीख को टोकियो में जापान की ओर से सुदूरपूर्व में स्थित सब मित्र राष्ट्रों के प्रमुखों की एक परिषद् आयोजित की जानेवाली थी। इसके विषय में प्रचार किया जा रहा था कि यह परिषद् बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। जापान में इस परिषद् की तैयारी बड़े प्रबल वेग से हो रही थी। विभिन्न राष्ट्रों के सब अधिकारी तथा उनके अन्य मन्त्री जापान जाने की तैयारी कर रहे थे। परस्पर सहयोग की पृष्ठभूमि पर सब एकत्रित होकर अंग्रेज तथा अमेरिका के विरुद्ध युद्ध करके किस प्रकार विजय प्राप्त की जाय––यही इस परिषद् का मुख्य विषय था। इस दृष्टि से परस्पर सहयोग करने के कार्य में प्रत्येक किस-किस प्रकार सहायता कर सकता है, इस विषय पर विचार-विमर्श करने के उपरान्त ही प्रत्येक देश इस परिषद् में उपस्थित होनेवाला था।

जापान के नेतृत्व में तैयार हुई दूर पूर्व के राष्ट्रों के इस सहकारी संगठन में भारत को सम्मिलित न करने का निर्णय नेताजी ने ले लिया था। अत: केवल प्रेक्षक के रूप में इस परिषद् में अपने वरिष्ठ अधिकारियों के साथ उपस्थित रहने का निश्चय उन्होंने किया था। भारतीय स्वतन्त्रता सरकार ने अधिकृत तौर पर जापान सरकार को बताया कि 'आपका निमन्त्रण तो हमें प्राप्त हो गया है, परन्तु केवल प्रेक्षक के रूप में हम इस परिषद् में उपस्थित रहेंगे। यदि आपको इसमें कोई आपत्ति न हो तो हम परिषद् में उपस्थित रहने के लिए तत्पर हैं।'

जापान ने भी इसे स्वीकार कर लिया। परिषद् का दिन ज्यों-ज्यों समीप आने लगा वैसे-वैसे अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार विभिन्न देशों के प्रमुख अपने सहकारियों के साथ वायुयान द्वारा टोकियो पहुँचने लगे।

मंचूरिया, चीन, स्याम, ब्रह्मदेश, फिलिपीन्स आदि सुदूरपूर्व के स्वतन्त्र देशों के प्रमुख तथा उनके मन्त्री सभी एक के बाद एक टोकियो में आकर उपस्थित हो गए। समस्त जापानी अधिकारी उनके स्वागत-सत्कार में व्यस्त थे। वायुपत्तन पर

जापान के प्रधानमन्त्री जनरल तोजो एवं परराष्ट्रमन्त्री इत्यादि बड़े अधिकारी हर समय आगन्तुकों का स्वागत करने के लिए उपस्थित रहते थे। वायुपत्तन पर स्वागत होने के उपरान्त पहले से ही उनके लिए निर्धारित स्थान पर उनको पहुँचाने की व्यवस्था थी।

नेताजी भी नवम्बर मास के आरम्भ में इस परिषद् में जाने के लिए सिंगापुर के वायुपत्तन से निकले। उनके साथ कर्नल जगन्नाथराव भोंसले, श्री हसन, मेजर डॉ० राजू तथा स्वतन्त्रता सरकार के मन्त्रिमण्डल के सचिव श्री सहाय, ये चारों अधिकारी थे। जापान में उनकी सहायता करने के लिए 'हिकारी किकान' के दो दुभाषिए भी उनके साथ विद्यमान थे।

उनका वायुयान सिंगापुर से उड़कर ईशान कोण में बोर्नियो द्वीप के उत्तर में स्थित एक छोटे द्वीप में उतरा। वहाँ पर दोपहर के भोजन के लिए तथा वायुयान में ईंधन आदि भरने के लिए डेढ़ घंटे का समय रखा गया था। दोपहर दो-ढाई बजे वहाँ से हवाई जहाज करीब शाम के साढ़े छः बजे मनीला आकर रुका। मनीला में 'मलकैनन पैलेस' बहुत ही शान-शौकत का भवन था। जापान द्वारा फिलिपीन्स की स्वतन्त्रता वापस करने के उपरान्त उस पैलेस में फिलिपीन्स राष्ट्र के अध्यक्ष जोस लौरेल रहते थे। जोस लौरेल वहाँ के प्रख्यात नेता थे। उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए अनेक कष्ट सहे थे।

भारतीय अतिथियों की व्यवस्था इसी पैलेस में की गई थी। वहाँ पर उस रात्रि में स्वतन्त्रता संघ के अधिकारी नेताजी से विचार-विनिमय करने के लिए आए। वहाँ के जापान देश के वरिष्ठ अधिकारी भी नेताजी से मिलने के लिए आए थे।

दूसरे दिन वहाँ से पुनः वायुयान द्वारा फारमोसा पहुँच गए। यहाँ पर जापान का एक बहुत बड़ा जहाजी बेड़ा तैयार खड़ा था। यहाँ से आगे जापान देश के कई द्वीपों में से एक बिल्कुल दक्षिण-किनारे पर स्थित द्वीप पर वे सब एक दिन रुके और दूसरे दिन टोकियो पहुँचे। लगभग साढ़े चार-पाँच हजार मील की यह यात्रा थी। वायुपत्तन पर जनरल टोजो तथा उनके मन्त्रिमण्डल के प्रमुख अधिकारी भारतीय आन्दोलन से सम्बन्धित अन्य कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्ति उपस्थित थे।

अभिवादन आदि की औपचारिकताएँ पूर्ण होने के उपरान्त विभिन्न मोटरगाड़ियों द्वारा सबको निर्धारित स्थान पर ले-जाया गया। उस समय नेताजी जिस कार में बैठे थे उसमें सिंगापुर-स्थित उनकी मोटरकार के समान ही अग्रभाग पर छोटा-सा तिरंगा झण्डा लहरा रहा था। मार्ग के दोनों ओर आबाल-वृद्ध जापानवासी हाथों में जापानी तथा भारतीय झण्डे लिये स्वागत के लिए खड़े थे।

उन लोगों का उत्साह प्रशंसनीय था।

नेताजी के निवास की व्यवस्था एक जापानी सरकार के महल में की गई थी। उस घर के व्यक्ति नेताजी का स्वागत करने के लिए घर के बाहर आकर खड़े थे। अत्यधिक प्रेम तथा आदर के साथ सभी ने नेताजी का अभिवादन एवं स्वागत किया।

उस भवन में नेताजी के साथ उनके सचिव उस भवन में रहे और शेष तीन लोगों के निवास की व्यवस्था 'इम्पीरियल निप्पान होटल' में की गई थी। यह वहाँ का सर्वोत्तम सरकारी आवासगृह था और वहाँ पर विशिष्ट अतिथियों को ही रखा जाता था। करीब आधे घंटे बाद जनरल तोजो, नेताजी के साथ पहली औपचारिक शिष्टाचार भेंट के लिए उपस्थित हुए। उन्होंने नेताजी के निवास आदि की व्यवस्था के विषय में बड़ी आत्मीयता से पूछताछ की। यह सारा वार्तालाप दुभाषिए के माध्यम से ही होता था।

शाम के समय नेताजी जनरल तोजो के निवास-स्थान पर सरकारी शिष्टाचार के अनुसार उनसे मिलने के लिए गए। जापानी अधिकारियों को विविध विषयों का अच्छा ज्ञान होता है। जो जापानी अधिकारी जितने ऊँचे दर्जे का होगा उसमें ये गुण अधिक से अधिक होंगे। जनरल तोजो भी जापानी अधिकारियों की इसी विशेषता के कारण सरकारी चर्चा के समय अपने मुख से अंग्रेजी भाषा का एक शब्द भी निकलने नहीं देते थे।

सरकार की ओर से बोलते समय जापानी अधिकारी जापानी भाषा में ही बोलें तथा दुभाषिए द्वारा उसका अनुवाद किया जाए—यही उनकी प्रथा थी। इस प्रकार एक तो उनका अपनी भाषा में बात करना अपने देश के प्रति उनका स्वाभिमान प्रकट करना ही है, परन्तु यदि आगे-पीछे कोई भूल हो ही गई, तो हमारे दुभाषिए से गलती से हो गई ऐसा कहना सरल हो जाता है। अतः इस समय जनरल तोजो और नेताजी के मध्य दुभाषिए के माध्यम से ही वार्तालाप हुआ था। किन्तु चर्चा समाप्त करने के उपरान्त जब नेताजी कार में बैठकर जाने लगे तो उस समय जनरल तोजो अंग्रेजी में बात करते रहे थे।

जापान में वरिष्ठ कानून-मण्डल को 'डायट' कहते हैं। इस मण्डल के अधिवेशन जिस भवन में होते थे उसी के विस्तीर्ण सभागृह में सुदूरपूर्व के देशों की यह सहकारी परिषद् होनी तय हुई थी। सब प्रतिनिधियों को इस कार्यक्रम के पत्रक, बिल्ले तथा उनके बैठने के स्थान की पहले से ही सूचना दे दी गई थी। इतने बड़े पैमाने का तथा इतनी जिम्मेदारी का यह काम था तथा सारी व्यवस्था इतनी अच्छी तरह से रखी गई थी कि उसमें किसी भी प्रकार की जल्दबाजी में,

गड़बड़ी न होकर सारा कार्य किसी सुनियोजित यन्त्र की भाँति चल रहा था।

इस सभागृह में प्रतिनिधियों के बैठने की व्यवस्था अर्धवर्तुलाकार में की गई थी। अर्ध वर्तुल के मध्य में जनरल तोजो तथा उनके बाईं ओर नेताजी तथा उनके सहकारियों को बैठाया गया था। अगली पंक्ति में प्रत्येक देश के अध्यक्ष तथा उसकी पिछली पंक्ति में उनके अन्य सहकारियों को बिठलाया गया था। मध्याह्न के भोजन के समय को छोड़कर प्रातःकाल दो घंटे तथा मध्याह्न दो घंटे के लिए यह परिषद् तीन दिन चली। अनेक बार सायंकाल के समय जनरल तोजो अथवा जापानी सम्राट या जापानी परराष्ट्र-मन्त्री द्वारा सरकारी भोजन समारोह, अल्पाहार इत्यादि कार्यक्रम होने के कारण सब लोग इस परिषद् के अधिवेशन के बाद इन अन्य कार्यक्रमों में सम्मिलित होते थे।

परिषद् के उद्घाटन के अवसर पर जनरल तोजो का भाषण हुआ। जापान देश की ओर से उन्होंने सबका स्वागत किया तथा परिषद् के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। परिषद् में प्रतिनिधियों द्वारा दिए जानेवाले भाषणों की प्रतियाँ पहले से ही सब प्रतिनिधियों में वितरित कर दी गई थीं। विभिन्न भाषाओं में उनके अनुवाद साथ-साथ प्रकाशित किये गए थे।

सभागार में होनेवाले भाषणों को दुभाषिए द्वारा अनुवाद किया जाता था जो भाषण के साथ-साथ चलता रहता था और श्रोता-प्रतिनिधि अपनी भाषा में उस अनुवाद को कर्णयन्त्र के माध्यम से सुन लेते थे।

ब्रह्मदेश के अध्यक्ष डॉ० बा मा ने इस परिषद् में एक प्रस्ताव रखा था। इस प्रस्ताव का अभिप्राय था, ''सुदूरपूर्व के सब देश यदि स्वतन्त्र रहें, यदि ऐसी सब की इच्छा हो तो भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त करना परमावश्यक है, अर्थात् हम सब एकमत होकर एक स्वर से अपनी समस्त शक्तियों को एकत्रित करके नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के स्वतन्त्रता-प्राप्ति के संग्राम में सब प्रकार से उनकी सहायता करें।''

इस प्रस्ताव के समर्थन में किये गए भाषण में डॉक्टर बा मा ने कहा, ''भारतवर्ष परतन्त्र हो गया इसके कारण ही एशिया के सभी देशों में पाश्चात्य देशों को अपने पैर जमाने की सुविधा प्राप्त हो गई। स्वेज़ नहर से हांगकांग तक फैला हुआ अंग्रेजों का साम्राज्य वे सब भारतीय सेना की सहायता से ही प्राप्त कर पाए थे। यदि भारत स्वतन्त्र हो गया तथा भारतीय सेना अंग्रेजों के हाथ से निकल जाए तो यह सारा साम्राज्य ताश के महल के समान फूँक मारते ही ढह जाएगा। भारत ही एशिया की स्वतन्त्रता का मूल आधार है।....''

डॉ० बा मा के इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

इस परिषद् में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस क्या भाषण करेंगे, यह सबके लिए कौतूहल का विषय था। नेताजी की विद्वत्ता, अनुभव, ज्ञान, देशभक्ति तथा उज्ज्वल चरित्र के गुणों को कसौटी पर परखने पर नेताजी के स्तर का कोई भी व्यक्ति उस समारोह में उपस्थित नहीं था—यह सब स्वीकार करते थे। परिणामस्वरूप जब नेताजी भाषण देने के लिए खड़े हुए तो चारों ओर स्तब्धता छा गई। सबकी दृष्टि नेताजी पर जाकर स्थिर हो गई।

नेताजी ने कहा, ''मैं तथा मेरे सहयोगी इस परिषद् में प्रतिनिधि के रूप में न आकर केवल प्रेक्षक के रूप में यहाँ उपस्थित हुए हैं। ऐसा होते हुए भी मुझे भाषण देने की जो अनुमति दी गई है, इसके लिए आपका आभारी हूँ और सबको धन्यवाद देता हूँ।····

''एक समय में प्रगति के उच्चतम शिखर पर स्थित तथा सारे विश्व को पाठ पढ़ानेवाला हमारा देश आज इस अधोगति को प्राप्त हो गया है। अड़तीस करोड़ जनता दासता की जंजीरों में जकड़कर दु:ख भोगे, 'हमें परतन्त्रता से स्वतन्त्रता दिला सकेंगे क्या' ऐसा कहते हुए उसके अनेक पुत्रों को भटकते फिरना पड़े, यह समय का फेर तो है ही, और इससे बड़ा दुर्भाग्य और कौन-सा होगा? आज तक कितने ही लोग देश से निकाले गए, सैकड़ों लोगों को कष्ट झेलने पड़े, हजारों लोग कैदखानों में सड़ रहे हैं, लाखों लोग आधे पेट खाना पा रहे हैं, करोड़ों तो भूख से मर चुके हैं, ऐसी हमारे देश की स्थिति हो गई है। आज हम जापान देश के लिए गर्व अनुभव करते हैं कि अन्य एशिया के देशों के समान जापान देश पाश्चात्य देशों की चतुराई से प्रभावित न होकर स्वयं स्वतन्त्र रहा एवं पाश्चात्य देशों को ललकारने योग्य अपनी शक्ति भी उसने बढ़ा ली। जापान द्वारा आरम्भ किये इस युद्ध के कारण ही आज दूर पूर्व के राज्यों में यह जागृति दिखाई दे रही है। इस स्वर्णिम अवसर को हमें हाथ से नहीं जाने देना चाहिए।····

''हमारे मित्र डॉ० बा मा ने परिषद् में जो स्वतन्त्रता-संग्राम में हमारी पूर्ण सहायता करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया तथा जिसे आप सबने एक स्वर से स्वीकार किया, उसके लिए मैं तथा मेरे सहयोगी आपको धन्यवाद देते हैं। भारत की स्वतन्त्रता के बाद सुदूरपूर्व के ही क्यों, अपितु सारे पूर्व के राज्य परतन्त्र नहीं रहेंगे, यह मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ।····

''अन्त में, इस परिषद् का आयोजन करने में पहल करके हमें परस्पर इस युद्ध में सहयोग करने का जो अवसर जापान ने प्रदान किया है, उसके लिए भी मैं तथा मेरे सहयोगी जापान देश के अत्यन्त आभारी हैं।''

नेताजी के उस भाषण के विषय में हम सबकी यही धारणा बनी थी कि

वह भाषण उनके सर्वोत्तम भाषणों में से था। वह इतना हृदयस्पर्शी भाषण था।

अन्य देशों के प्रमुखों ने भी उस परिषद् में भाषण दिए। सबको एक ही प्रकार से पीस डालनेवाले इस पाश्चात्य साम्राज्यशाही के विशाल पत्थर को नष्ट करने के लिए हम सबको इस युद्ध में अपने प्रयत्नों की चरम सीमा कर देनी चाहिए—ऐसा सबकी अनुमति से निश्चय किया गया।

अनेक देशों की यह धारणा थी कि जापान के सैनिक अधिकारी उन-उनके देशों में दुर्व्यवहार करते रहे हैं, इस कारण अनेक देशों के प्रतिनिधि उनसे रुष्ट दिखाई देते थे। क्योंकि उनके सम्मुख वे जो कुछ भी बोल रहे थे वह जापान को प्रसन्न करने के लिए भले ही हो, किन्तु वह उनके दिल की आवाज है—ऐसा नहीं लगता था।

यद्यपि ऐसा समझा जा रहा था कि यह परिषद् अत्यन्त सफल रही, परन्तु उस समय उस परिषद् से जिन दूरगामी परिणामों की अपेक्षा थी, वह अन्त में मिथ्या सिद्ध हुई। भारत और ब्रह्मदेश की सीमा पर केवल भारतीय और जापानी सेनाएँ ही युद्ध में सहयोगी थीं। उनकी सहायता करने के लिए ब्रह्मी, स्यामी, चीनी, मंचूरियन इत्यादि देशों की सेनाएँ नहीं थीं। वास्तव में भारत की स्वतन्त्रता हम सबकी ही स्वतन्त्रता है—ऐसा इन सबने स्वीकार तो कर लिया था, किन्तु तदनुसार स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्हें अपनी सेनाएँ भी भेजनी चाहिए थीं, जबकि किसी भी देश ने ऐसा नहीं किया।

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अन्दर कुछ और तथा बाहर कुछ और, 'दिखाने के दाँत और तथा खाने के दाँत और' ऐसा ही अधिकतर दिखाई देता है। ऊपर बताए गए सब देशों ने यदि अपनी सेना तथा युद्धसामग्री युद्धभूमि पर भेजी होती, तब ब्रह्मदेश सीमा पर अंग्रेज कभी भी न बढ़ पाते तथा ब्रह्मदेश में प्रविष्ट भी न हो पाते, क्योंकि युद्धसामग्री तथा सैनिकों की शक्ति की कमी के कारण ही भारतीय स्वतन्त्रता सेना तथा जापानी सेना इम्फाल में सफल नहीं हो पा रही थीं।

जापान के लोगों में भारतीय सैनिकों के प्रति बड़ा सम्मान था। इसका प्रदर्शन तब देखने को मिला जब जनरल भोंसले आदि बाजार में अपने इष्ट मित्रों के लिए कुछ उपहार क्रय करने के लिए निकले तो जहाँ कहीं भी कुछ खरीदना चाहा सबने यही कहा कि आपको जो चाहिए वह ले जाइए अथवा हमें बता दीजिए हम आपके निवास-स्थान पर उसे पहुँचा देंगे, किन्तु आपसे किसी वस्तु का मूल्य लेने के लिए हमको मना कर दिया गया है। सरकार ने आज्ञा प्रसारित कर दी थी कि उन वस्तुओं का मूल्य सरकार चुका देगी।

जापान में जहाजी बेड़े का वस्तु-संग्रहालय है। वहाँ पर काँच की

आलमारी से टारपीडो मारकर समुद्र में संचार करनेवाले जहाजों को पनडुब्बियाँ कैसे डुबोती हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रदर्शन किया गया था। सारा वातावरण प्रत्यक्षदर्शी-सा बनाया हुआ था। जापानी बच्चों को बाल्यकाल से ही इस प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त होता है। इस प्रकार की अन्यान्य सैनिक सामग्री का प्रदर्शन भी वहाँ किया गया था।

पाश्चात्य देशों में घूमकर आए हुए तथा पाश्चात्य देशों जैसे ही उन्नत लोग विश्व में अन्य कहीं भी नहीं हैं—ऐसा प्रतिपादन करनेवाले लोगों को भी आश्चर्यचकित करनेवाली कई बातें जापान में हैं। जापानी लोग पाश्चात्य देशों के समान कभी भी अपने मुँह मियाँ मिट्ठू नहीं बनते। इसी प्रकार भारतीय लोगों के समान वे मन से छिछले एवं ओछे भी नहीं होते।

जापान देश में निवास के दौरान जापानी मन्त्रिमण्डल के वरिष्ठ अधिकारियों से नेताजी की स्वतन्त्रता युद्ध सम्बन्धी तथा अग्रिम कार्यक्रम के विषय में चर्चा हुई। इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि नेताजी ने अण्डमान एवं निकोबार द्वीपसमूह भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को प्राप्त हो—ऐसा जनरल तोजो से कहा। ब्रह्मदेश की सरकार भी इन द्वीपों को माँगने के इरादे से आई थी, परन्तु उससे पूर्व ही भारतीय सरकार की ओर से यह माँग प्रस्तुत कर दी गई।

भारत की विशालता तथा अनेक भारतीय देशभक्तों ने यहाँ जो बलिदान दिया, उसे देखते हुए भारत का इन द्वीपों पर अधिकार बनता था। ब्रह्मदेश के समान एक छोटा-सा राष्ट्र इतनी दूरी पर स्थित इन द्वीपों का भविष्य में संरक्षण नहीं कर सकेगा—यह भी सच था। जापान ने भी इसे उचित माँग को मानते हुए अण्डमान एवं निकोबार द्वीपसमूह भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को देना स्वीकार कर लिया।

इसके अनुसार जापान देश की ओर से जनरल तोजो ने 6 नवम्बर 1943 को सुदूरपूर्व के राष्ट्रों की परिषद् में घोषणा करते हुए कहा, "भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में, भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को जापान की सरकार पूर्णतया सहायता करने के लिए तत्पर है। इस बात की पुष्टि के रूप में मैं यह घोषणा करता हूँ कि आजकल जापान के अधिकार में स्थित अण्डमान एवं निकोबार द्वीप, जापानी सरकार शीघ्र ही भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को सौंप देगी।"

इस घोषणा से भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल बहुत प्रसन्न हुआ। जापानी सरकार वास्तव में हमारी सहायता करने को तत्पर है, इस बात की भी पुष्टि हो गई, अन्यथा जीता हुआ प्रदेश इस प्रकार बड़ी सरलता से केवल एक बार कहने पर कौन छोड़ता है? भारतीय स्वतन्त्रता सरकार के पास अब तक अपने हक की

जमीन नहीं थी। वह अपने-आप ही प्राप्त हो गई तथा इस दृष्टि से शत्रुओं के झूठे प्रचार को मिथ्या प्रमाणित करने का एक नया साधन प्राप्त हो गया।

जापान देश हमें एक अच्छे हेतु से सहायता कर रहा है, ऐसा भी वे कह सकते थे। इतने दिनों तक भारतीय स्वतन्त्रता सरकार अब तक अपने अधिकार में कोई भूमि न रखनेवाली सरकार थी—उस स्थिति में सुधार होकर उसके स्थान पर अब प्रजा तथा अपने अधिकार की जमीन इन दोनों बातों के कारण सब दृष्टि से परिपूर्ण यह सरकार है—ऐसा कह पाना सम्भव हो गया।

जापान देश के सम्राट का किसी व्यक्ति से मिलना, यह स्वयं भगवान के प्रसन्न होने जितना महत्त्वपूर्ण विषय था। ऐसी सब जापानी लोगों की धारणा थी। लगभग असम्भव-सी प्रतीत होनेवाली यह बात भी नेताजी के प्रसंग में सम्भव सिद्ध हो गई।

विद्यालय में तथा उसके बाद के युवा जीवन में जिस प्रकार बुरी संगति से बचना पड़ता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़े पद पर स्थित व्यक्तियों को अपने चरित्र को उज्ज्वल रखना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब एक देश द्वारा दूसरे देश के प्रतिनिधियों का आदर-सत्कार करने का अवसर आता है, तब-तब उस समय मदिरा एवं मदिराक्षी दोनों का सब जगह उपयोग किया जाता है, ताकि अतिथि इन दोनों का भोग प्राप्त कर आतिथ्य करनेवाले देश के एक प्रकार से दास बनें, इस माध्यम से उनकी दुर्बलताओं को जाना जाए और उससे लाभ उठाकर उन पर अपना सुदृढ़ अधिकार जमा लिया जाए।

इस प्रकार से मदान्ध बने अधिकारियों पर दबाव डालकर राजनीति में उनसे लाभ उठाया जाता है। इस प्रकार का संगठित प्रयत्न निर्दयतापूर्वक आजकल की राजनीति में प्रत्येक देश के द्वारा किया जाता है। सुरा एवं सुन्दरियों को अतिथियों द्वारा स्वीकार किया जाए, ऐसा अनेक माध्यमों से सूचित एवं ध्वनित किया जाता है। अतिथियों में हर किसी के स्वभाव को देख-परखकर ये सूचनाएँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उनके कानों तक पहुँचाई जाती हैं। ये सब प्रयत्न सरकार की प्रेरणा से ही होते हैं तथा इस कार्य के लिए विशेषतया अनेक 'शकुनि' तथा 'कलुष' सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

सन् 1943 के नवम्बर मास के अन्त में नेताजी जापान से रवाना हुए। जापान देश के दक्षिण दिशा में स्थित एक द्वीप पर एक दिन के लिए वे रुके। दूसरे दिन चीनी समुद्र को पार करके नानकिंग में चीन देश के अतिथि बनकर नेताजी को जाना था। उस दिन समुद्र में तूफान आया हुआ था। जनरल तोजो द्वारा प्रदत्त एक विशेष वायुयान से नेताजी सिंगापुर वापस आ रहे थे। तीन जापानी

विमानचालक भी इस विमान के साथ नेताजी की सेवा में सदा के लिए दिए गए थे।

नेताजी का अगला सारा कार्यक्रम तय होने के कारण उन विमानचालकों ने नेताजी को बताया कि, ''समुद्र पर बड़े जोर का तूफान उमड़ रहा है, अतः आज जाने में बहुत खतरा है। यदि आप अनुमति दें तो कल चलें।''

नेताजी ने कहा, ''यदि आप लोग ऐसे तूफान में जाने के लिए उद्यत हों तो मुझे जाने में कोई आपत्ति नहीं है।''

भवितव्य पर नेताजी का पूरा विश्वास था। हमें अपना काम करते रहना चाहिए, परन्तु जो घटित होना है, वह तो होकर ही रहेगा—ऐसा उनका पक्का विश्वास था। इस वृत्ति के अनुसार ही यद्यपि तूफान आया हुआ था, तब भी यदि विमानचालक तैयार हो तो उन्हें कोई आपत्ति न थी। नेताजी का रुख देखकर विमानचालक भी जाने के लिए तैयार हो गए।

जापानी विमानचालक अपने कार्य में बड़े ही निपुण होते हैं। पाश्चात्य देशों में वैमानिकों को अकारण ही महत्त्व दिया जाता है। बड़े-बड़े ओहदे, अधिक वेतन, कई प्रकार के भत्ते, शानदार वर्दी, इस प्रकार उनको हर प्रकार से प्रसन्न किया जाता है। जापान में ऐसा कुछ नहीं होता। भूमि पर स्थित सेना के मोटर-चालकों के समान ही वैमानिकों को भी सिपाही, लान्स नायक, नायक आदि ऐसे ही पद दिए जाते हैं। उनका परिधान तथा वेतन-भत्ते आदि भी सब-कुछ अन्य विभागों के सैनिकों के समान ही होते हैं।

हमारे अंग्रेजों के सैनिक प्रशिक्षण में तैयार किये गए भारतीय अधिकारियों को यह प्रथा देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। अंग्रेजों की प्रथा को ही प्रमाण मानने का उनके मन को ऐसा अभ्यास हो गया होता है कि उससे विपरीत कोई भी बात दिखने पर उन्हें बहुत आश्चर्य होता है।

समुद्री तूफान के कारण अन्तरिक्ष में बादलों के समूह तैयार होकर उनमें वायु की तरंगें उठने लगी थीं। बादल-पटलों की सुरंगें-सी बन गई थीं। विमान सहसा पन्द्रह-बीस फुट नीचे चला जाता था तथा उस समय पेट में एक प्रकार से भय-सा लगने लगता था। तभी ऐसा लगता था मानो विमान को जंजीरों से पकड़कर ऊपर को खींच लिया हो।

नेताजी का विमान उस समय लगभग तीन सौ फीट की ऊँचाई पर उड़ रहा था। यह यात्रा बहुत ही खतरों से भरी हुई थी। किस समय विमान समुद्र में गिर पड़े, इस बात का कोई भरोसा नहीं था। हवा के जोर के कारण हर समय विमान की दिशा बदलनी पड़ती थी।

परिणामस्वरूप उस यात्रा में सामान्य से दुगुना समय लगा। ऐसी अवस्था में नानकिंग तक पहुँचना असम्भव था। बाहर अँधेरा होने के साथ-साथ तूफान का वेग भी बढ़ रहा था। किसी प्रकार समुद्र को पार कर लिया है—इस बात से प्रसन्न होकर शंघाई हवाई पत्तन पर विमान को उतार लिया गया।

नानकिंग विमानपत्तन पर निर्धारित समय पर चीन के राष्ट्रीय सरकार के प्रमुख वंग चिंग वे तथा उनके अन्य सहयोगी बहुत समय तक नेताजी की प्रतीक्षा करने के उपरान्त वापस चले गए थे। तूफान के कारण अपना कार्यक्रम बदलकर विमान को शंघाई विमानपत्तन पर उतरना पड़ा था, यह सूचना उन तक नहीं पहुँच पाई थी। शंघाई से सब लोग मोटर-कार द्वारा नानकिंग पहुँच गए। उनका वहाँ अच्छा स्वागत-सत्कार किया गया।

दूसरे दिन वहाँ के रेडियो पर चुंगकिंग की जापान-विरोधी चीनी सरकार के अध्यक्ष जनरल च्यांग काई शेक को सम्बोधित करते नेताजी ने एक भाषण दिया। उसमें उन्होंने कहा, ''हम सब लोग संगठित होकर पाश्चात्य साम्राज्यशाही के विरोध में युद्ध करें....आप अपने पाश्चात्य सहयोग की परराष्ट्रीय विचार-शैली को बदलकर एशिया के देशों के साथ सहयोग कीजिए। एक विशाल एवं शक्तिशाली देश होने के कारण एशिया में आपको आदर प्राप्त है। हमारे कार्य में सहभागी बनकर आप अपना स्वयं का तथा एशिया का भी लाभ कर सकेंगे ऐसी हमें आशा है।''

इस भाषण के बाद भी जनरल च्यांग काई शेक की विचार-शैली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सन् 1931 में जब उनमें तथा जापानियों में युद्ध आरम्भ हुआ था, वह इस समय तक भी चालू ही था तथा आगे चलकर विश्वयुद्ध के अन्त तक चीन और जापान में विवाद चलता ही रहा था।

इस परस्पर की शत्रुता में वृद्धि हुई और उसका रूपान्तरण युद्ध के रूप में हुआ। 14-15 वर्ष तक युद्ध के निरन्तर चलते रहने में जापान का घमण्डी होना तथा जनरल च्यांग काई शेक का पाश्चात्य देशों की ओर का झुकाव, यह दोनों ही अंशतः इसके कारण थे।

चीन देश की विशालता तथा चीनी लोगों की बहुत देर तक युद्ध करने की वृत्ति के कारण जापान का जनरल च्यांग काई शेक पर निर्णायक विजय पाना सम्भव नहीं था। जापानी अधिकारी मन से इसे स्वीकार भी करते थे। चीन से किसी प्रकार का समझौता न करना उस समय के जापानी राजनीतिज्ञों की एक बहुत बड़ी भूल थी। इस भूल के कारण अन्त में उनकी तो हानि हुई ही, परन्तु इसके साथ समस्त एशियायी देशों की भी बहुत हानि हुई।

चीन देश यदि एशिया के देशों के साथ मिलकर युद्ध करता तो उनकी विशाल सेना एशिया के देशों से परकीय सेना को भगाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई होती। यदि चीन देश तटस्थ रहता, तब भी अंग्रेज एवं अमेरिकन लोगों को चीन जैसे विशाल देश के विमानपत्तनों का तथा नौ-दलों को बन्दरगाहों का प्रयोग करने की सुविधा उपलब्ध नहीं हो सकती थी।

शत्रुओं के प्रदेश के आस-पास यदि जहाजों को उतारने के लिए वायुपत्तन न हो तो हवाई आक्रमण करना, शत्रु की भूमि पर सेना को उतारना कितना कठिन होता है—यह अमेरिका-खण्ड के उदाहरण से हमें स्पष्ट हो ही जाता है। अमेरिका खण्ड के दोनों ओर पैसिफिक एवं अटलांटिक जैसे विस्तीर्ण जलाशय होने के कारण अमेरिका को युद्ध में जरा-सी भी आँच नहीं आई। इसके विपरीत अमेरिका ने चीन जैसे एशियायी देश का इसके लिए उपयोग करके जापान को बुरी तरह से परास्त कर दिया था।

चीन देश में उस समय दो राज्यसत्ताएँ थीं। एक थी अमेरिका का पक्ष लेनेवाली। जनरल च्यांग काई शेक इसके प्रमुख थे और चुंग किंग इसकी राजधानी थी। दूसरे जापान के प्रोत्साहन से स्थापित सरकार की राजधानी नानकिंग थी। चीन देश का समुद्र के किनारे का प्रदेश घनी आबादी का है तथा उसमें ही उनके बड़े-बड़े कारखाने और प्रमुख बाजार हैं। अन्दर के प्रदेशों में आबादी घनी नहीं है। वहाँ कहीं-कहीं पर रेगिस्तान भी है।

जापान द्वारा 1931 में युद्ध आरम्भ करने के उपरान्त समुद्र तक का यह सारा प्रदेश युद्ध में व्याप्त हो गया था। जनरल च्यांग काई शेक की सरकार को यहाँ से निकलकर चुंगकिंग आना पड़ गया था। जापानियों द्वारा व्याप्त प्रदेश में वंग चिंग वे की अध्यक्षता में नानकिंग में एक अन्य सरकार की स्थापना हुई। वंग चिंग वे को जान से मार डालने के तीन बार यत्न किये गए, किन्तु चीनियों को उसमें सफलता नहीं मिली। उनकी हत्या के यत्न में उन्हें बन्दूक की कई गोलियाँ खानी पड़ी थीं। उनके हृदय में एक गोली फँसी रह गई थी, जिसके कारण उनको रह-रहकर कष्ट होता था। कालान्तर में जापान के एक डॉक्टर ने शल्यक्रिया के माध्यम से उस गोली को निकाला था।

वंग चिंग वे की सरकार ऊपरी तौर पर जापान के साथ सहयोग करती थी। चीनी लोगों के स्वभाव की यह विशेषता है कि उनमें परस्पर चाहे कितनी ही स्पर्धा क्यों न हो, शत्रुता क्यों न हो, तदपि परदेशियों के विरुद्ध वे परस्पर मित्रतापूर्ण सम्बन्ध ही बनाए रखेंगे। वंग चिंग वे तथा च्यांग काई शेक इन दोनों के विषय में भी लोगों को यही अनुभव था। वंग चिंग वे पर भले ही जापानियों

का बहुत बड़ा दबाव क्यों न हो, फिर भी अन्दर से च्यांग काई शेक के साथ उनके परस्पर सम्बन्ध बने ही हुए थे।

नानकिंग में भी नेताजी का एक भाषण हुआ। चीन देश में आधुनिक युग के उनके एक स्वर्गवासी नेता, डॉ० सन यात सेन के प्रति चीनवासियों के मन में बहुत आदर है। कोई भी भाषणकर्त्ता अपने भाषण में जितनी बार भी उनका नाम उच्चारण करे, चीनी जनता उनका नाम सुनते ही उठकर खड़ी हो जाती है।

नेताजी जब जापान में थे तो वहाँ पर उन्होंने समस्त जापानी जनता को सम्बोधित किया था। यह भाषण हिबिया पार्क में हुआ था। चीनी तथा जापानी लोगों के अनुशासन में बड़ा अन्तर है। उस विशाल हिबिया पार्क में लाखों का समुदाय नेताजी का भाषण सुनने के लिए एकत्रित हुआ था। दूर-दूर के गाँवों से नेताजी का भाषण सुनने की ललक में प्रातःकाल से ही ग्रामीणों ने पंक्तिबद्ध आना आरम्भ कर दिया था। उनमें आबाल-वृद्ध, नर-नारी सभी थे। पंक्तियों में बैठना और पंक्तियों में ही खड़े रहना, भाषण के मध्य किसी प्रकार की हलचल न करना, उस अवसर पर विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करना, यदि जयजयकार करना हो तो सबके द्वारा समवेत स्वर से करना—इन सब बातों में वे लोग किसी भी देश की परेड करनेवाली सेना की टुकड़ी से भी अधिक उत्तम ढंग से मिलकर स्वयं स्फूर्ति से करते हैं।

नानकिंग का कार्यक्रम समाप्त कर नेताजी विमान से फार्मोसा द्वीप पर से होकर फिलिपीन्स की राजधानी मनीला पहुँचे। जाते समय मनीला में अधिक समय तक रुकने का उनको अवसर नहीं मिला था। जापान में अनेक बार विभिन्न अवसरों पर मिलने पर फिलिपीन्स के अध्यक्ष जोंस लॉरेल ने नेताजी को मनीला आने का निमन्त्रण दिया था। उनके निमन्त्रण को ध्यान में रखकर ही उन्होंने मनीला आने का निर्णय लिया था। वहाँ उन्होंने भारतीय लोगों के सम्मुख एक भाषण भी दिया। सरकारी मेहमान होने के नाते उनके आवास की व्यवस्था मलकैनन महल में की गई थी।

मनीला से विमान से निकलकर पश्चिम दिशा में स्थित इण्डोचाइना के सैगाँव नगर तथा वहाँ से दूसरे दिन बैंकाक में रुककर सन् 1943 के दिसम्बर मास के आरम्भ में नेताजी वापस सिंगापुर पहुँचे।

नेताजी के लिए जापान में जितना आदरभाव है उतना आदरभाव किसी भारतीय नेता के प्रति नहीं है। महात्मा गांधी द्वारा युद्ध-सम्बन्धी सब बात मान्य न होने के कारण, एक साधु वृत्ति के भारतीय नेता के रूप में उन्हें केवल जापान के शिक्षित लोग ही पहचानते थे, अन्यथा साधारण जनता तथा सैनिकों में नेताजी की

ही मान्यता सर्वाधिक थी।

मराठी भाषा के समान ही जापानी भाषा में भी 'का' का अभिप्राय 'क्या' ही होता है। भारत के विषय में बोलते समय महात्मा गांधी के विषय में बातचीत चली तब 'भिके मारू' जहाज के एक जापानी डॉक्टर ने मुझसे कहा, ''आपके महात्मा गांधी अंग्रेजों से पैसे लेकर उनसे मिले हुए हैं न?''

उसे अंग्रेजी नहीं आती थी। उसने यह सब मुझसे संकेत के माध्यम से पूछा था। तब मैंने उससे संकेत में बताया कि, ''ऐसी कोई बात नहीं है। वह भारत में पूज्य व्यक्ति माने जाते हैं।''

पण्डित जवाहरलाल नेहरू के विषय में तो किसी भी जापानी का मत अच्छा नहीं था। हर जापानी अधिकारी हमसे पूछते थे, ''यह आपके जवाहरलाल नेहरू सदा च्यांग काई शेक का ही पक्ष क्यों लेते हैं? हमने उनके साथ क्या बुरा किया है?''

इस प्रकार श्री सुभाषचन्द्र बोस को ही वे सब प्रकार से उचित भारतीय नेता स्वीकार करते थे। समस्त जापानी लोगों में उनके प्रति बड़ा आदरभाव था।

दिसम्बर 1943 में नेताजी जब सिंगापुर में आए तब भारतीय स्वतन्त्रता सेना की टुकड़ियाँ ब्रह्मदेश की ओर प्रस्थान करने लगी थीं। दो या तीन दिनों के बाद कोई न कोई टुकड़ी सिंगापुर के स्टेशन से गाड़ी में बैठती ही थी। नेताजी हर समय स्टेशन पर उपस्थित रहते थे। उनके साथ स्वतन्त्रता सरकार के, संघ के तथा सेना के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति भी रहते थे। इन गाड़ियों में सारे डिब्बे माल ले जानेवाले ही होते थे। एक डिब्बे में 25-30 सिपाही बड़ी कठिनाई से बैठते थे। अपनी टुकड़ी के सब अधिकारियों को खड़ा करके टुकड़ी का मुख्य अधिकारी नेताजी को स्टेशन पर उनसे परिचय करवाता था। बाद में उन सबको नेताजी स्वयं अपने हाथों से हार पहनाते थे। उसके बाद नेताजी का जयजयकार करते हुए गाड़ी आगे बढ़ती थी।

बहादुर पथक, जासूसों की टुकड़ी, सुभाष रेजिमेन्ट, मोटरगाड़ियों का वाहन पथक, इंजीनियरिंग कम्पनी आदि पहले डिविजन की टुकड़ियाँ एक के बाद एक कुछ दिनों के फासले से सिंगापुर से चल पड़ती थीं।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना सीमा की ओर बढ़ने लगी है, जल्दी ही स्वतन्त्रता-संग्राम आरम्भ हो जाएगा—यह बात सब लोगों को ज्ञात होने के कारण उज्ज्वल भविष्य की प्रसन्नता भी उस समय सबके चेहरों पर प्रकट हो रही थी। जिस नेता ने यह अवसर सबको प्रदान किया था तथा जो शीघ्र ही स्वतन्त्रता सेना के साथ सीमा पर जानेवाला था, उस नेता की ओर देखकर ऐसा लगता था जैसे सबका

जीवन धन्य हो गया हो।

27 दिसम्बर 1943 को नेताजी के हाथों रामकृष्ण मिशन की भारतीय पाठशाला का एक कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। उस दिन नेताजी के साथ सब छात्रों का एक चित्र लिया गया। पहले रामकृष्ण मिशन के ब्रह्मचारी कैलासम् ने पाठशाला की जानकारी देने के लिए तथा नेताजी का स्वागत करने के लिए भाषण दिया। उसके बाद नेताजी का भाषण, पुरस्कार वितरण, अल्पाहार और फिर सामूहिक चित्र।

नेताजी के इस कार्यक्रम में अध्यक्ष के रूप में आने के कारण वह कार्यक्रम बड़ा भव्य हो गया था। सारे कार्यकर्त्ताओं तथा विद्यार्थियों में अपूर्व उत्साह की लहर कौंध रही थी।

रामकृष्ण मिशन के ब्रह्मचारी कैलासम् के विशेष प्रयत्न से भारतीय भाषाओं की पाठशाला सिंगापुर में चलाई गई थी।

इसमें जापानी, भारतीय तथा तमिल बच्चों के लिए तीन भाषाएँ तथा भारत का इतिहास, भूगोल, इत्यादि आवश्यक विषय रखे गए थे। यही प्रथा सुदूरपूर्व के स्थानों पर आरम्भ कर, अन्य स्थानों पर भारतीय राष्ट्रीय पाठशालाएँ आरम्भ हो गई थीं।

इन पाठशालाओं में पिछले सवा सौ सालों में कई भारतीय पीढ़ियों के बाद पहली बार तमिल की शिक्षा, भारतीय बच्चों को इन दो वर्षों में उपलब्ध हुई। इस सबका श्रेय नेताजी सुभाषचन्द्र बोस तथा ब्रह्मचारी कैलासम् और उनके समयानुरूप प्रयत्नों को दिया जाता है। ऐसी शिक्षा भारत में स्थित भारतीय बच्चों को न जाने कब प्राप्त होगी, परन्तु सुदूरपूर्व के इन भारतीय बच्चों का भाग्य बहुत अच्छा था, इसमें सन्देह नहीं।

भारतीय स्वतन्त्रता सरकार 21 अक्टूबर 1943 को स्थापित होने के बाद अगले प्रत्येक मास की 21वीं तारीख को दूर पूर्व के सब भारतीय लोग उसे स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना का राष्ट्रीय दिन के रूप में मनाते थे। हर राष्ट्रीय दिवस को नेताजी का भारतीय जनता के सम्मुख एक भाषण होता था।

29 दिसम्बर को उनके सिंगापुर में होने के कारण सिंगापुर के भारतीय लोगों के समक्ष उनका सार्वजनिक भाषण हुआ। उसमें उन्होंने कहा, ''मित्रो! भारतीय स्वतन्त्रता सेना सीमा की ओर कूच करने लगी है। शीघ्र ही स्वतन्त्रता युद्ध आरम्भ होनेवाला है। ऐसे समय में मैं अपने बहादुरों के साथ सीमा पर ही रहूँगा। इसके बाद मेरा सारा ध्यान उस ओर ही रहेगा।''''

''इस ओर की बातों की ओर ध्यान देने के लिए तब मेरे पास कोई समय

ही नहीं बचेगा। यहाँ का सारा कार्य भली प्रकार सम्पन्न हो, इसके लिए मैं आप सबको इसका दायित्व सौंपकर जा रहा हूँ। यहाँ के कार्य के विषय में मैं निश्चिन्त हो सकूँ, इसका सारा दायित्व आप लोगों पर ही छोड़ रहा हूँ।''''

''सीमा पर युद्ध के दौरान अपने मुख्यालय के सब कार्य सुचारु रूप से चलने चाहिएँ। उसी बात पर जय और पराजय निर्भर करती है। 1914 से 1918 तक के प्रथम महायुद्ध में जर्मन सेना अन्य सेनाओं की तुलना में अत्यन्त शक्तिशाली थी। परन्तु जर्मनी का अन्दरूनी ढाँचा अयोग्य व्यक्तियों के ऊपर निर्भर रहने के कारण अन्त में जर्मनी को परास्त होना पड़ा था। ऐसी स्थिति आप लोग नहीं आने देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।''

इसके बाद का एक सप्ताह बहुत व्यस्तता में बीता। नेताजी ब्रह्मदेश में जानेवाले थे, इस ओर उनका फिर न जाने कब आना हो—इस बात का अनुमान लगा पाना सम्भव नहीं था। उनके साथ-साथ सिंगापुर में स्थित स्वतन्त्रता संघ के तथा सेना के केन्द्रीय कार्यालय भी सिंगापुर से रंगून ले-जानेवाले थे। प्रमुख कार्यकर्ता अपने सामान को तथा कार्यालय की सामग्री को सँभालने और बाँधने में व्यस्त थे। सिंगापुर की स्वतन्त्रता सेना का सारा कामकाज नेताजी की अनुपस्थिति में कर्नल भोंसले को तथा संघ का कामकाज श्री थिवि को सौंपा गया था।

29 दिसम्बर 1943 के प्रात:काल नौ बजे सिंगापुर विमानपत्तन से नेताजी अण्डमान द्वीप की ओर जाने के लिए निकले। टोकियो में जनरल तोजो ने नेताजी के अपने उपयोग के लिए एक वायुयान भेंटस्वरूप प्रदान किया था जिसका उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं। नेताजी सदा इसी वायुयान में यात्रा किया करते थे। यह विमान पर्याप्त विशाल था। सब प्रकार के आधुनिक उपकरणों से इसको सुसज्जित किया गया था। उस पर अंग्रेजी में 'आजाद हिन्द' अंकित किया गया था। उसी वायुयान से नेताजी ने अण्डमान के लिए प्रस्थान किया।

अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह अब लगभग भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को मिल जाने के कारण ब्रह्मदेश में युद्ध की सीमा पर जाने से पूर्व अण्डमान को एक बार देख लिया जाय—ऐसा नेताजी ने निश्चय किया। यह राजकीय आवश्यकता से अधिक उस पुण्यभूमि को नमन था जहाँ अनेक भारतीय देशभक्तों ने स्वतन्त्रता देवी की कठिन तपस्या में अनेक वर्ष बड़ी कठिनाइयों से व्यतीत किये थे, अनेक बलिदानियों ने अपनी प्राणाहुति अर्पण की थी।

नेताजी दो-तीन दिन तक अण्डमान में रहे। अण्डमान में पोर्ट ब्लेयर नामक एक ही नगर था। यही वहाँ का उस समय लगभग 20 हजार की जनसंख्या का मुख्य नगर था। द्वीप में अन्यत्र थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटी-छोटी बिखरी हुई

बस्तियाँ थीं। पराधीनता के दिनों में वहाँ पर अंग्रेज कमिश्नर का निवास-स्थान था। आज उसी स्थान पर तिरंगा लहरा रहा है। नेताजी उसी भवन में टिके थे। भारतीय स्वतन्त्रता संघ की वहाँ पर भी स्थापना हो चुकी थी। नेताजी ने वहाँ पर भी एक सार्वजनिक सभा को सम्बोधित किया।

1942 के आरम्भ में दूर पूर्व में अंग्रेज़, अमेरिकन तथा डच लोगों को पूर्णतया खदेड़ दिया गया था। तब शीघ्र ही भारत पर आक्रमण करने की जापान ने ठानी थी। परन्तु उसी समय जापान के मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन हो गया और उसने निश्चय किया कि अभी तो पहले जिन देशों को अधिकार में ले लिया गया है, उनकी ही देखभाल की जाए, नये देशों पर आक्रमण न किया जाए।

परन्तु जापान के इस निर्णय से उसी को बहुत बड़ी हानि हुई। उस समय यदि जापान ने भारत पर आक्रमण कर दिया होता तो अंग्रेजों को पराजित करने में अधिक समय बिल्कुल न लगता। अंग्रेज़ी सेना की शक्ति तथा युद्धसामग्री के अभाव में भारत में जापानियों को अधिक संघर्ष न करना पड़ता। उस समय भारत के लोगों का समर्थन भी उन्हें प्राप्त था।

अंग्रेजों के हाथ से यदि भारतवर्ष निकल गया होता तो उस समय व्यर्थ में 15-20 लाख भारतीय सैनिकों को भारत से बाहर अफरीका एवं योरोप में युद्ध करना सम्भव न हुआ होता। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों को उनकी शरण में आना ही पड़ता। अंग्रेज पूरी तरह हार चुके थे, अथवा सेना के अभाव में केवल युद्ध करने का ढोंग कर रहे थे—ऐसा देखकर अमेरिका भी युद्ध से बाहर हो जाता। परन्तु भवितव्यता कुछ और ही थी। अत्यधिक प्रयत्नों के बाद भी बहुसंख्यक लोगों को कष्ट पहुँचानेवाली यह दुनिया अभी कुछ और समय तक तो बदलनेवाली नहीं थी।

नेताजी ने अण्डमान-स्थित जब उस विशाल कारागार को देखा जिसमें भारतीय देशभक्तों ने अपनी यातना के दिन बिताए थे, जिसमें अनेक बलिदानियों ने अपने प्राणों की आहुति दी थी, तब उन देशाभिमानियों की स्मृति से उसका मन भर आया था।

अण्डमान का निरीक्षण करते समय एक दिन वे जब उसके दक्षिण-तट की ओर आए तो वहाँ एक नारियल के वृक्ष के नीचे खड़े होकर पश्चिमी क्षितिज पर उनकी दृष्टि टिक गई। समुद्र की लहरें उनके पैरों से टकरा रही थीं, मानो दुःखी पराधीन भारत के आँसू ही उनके पैरों पर गिरकर अपनी करुण कथा सुना रहे हों। नेताजी का मन व्यथित हो गया—'उस क्षितिज के दूसरी ओर मेरी प्रिय मातृभूमि है। उसके करोड़ों नागरिक आज अंग्रेजों के दास बने हुए हैं। यदि वैसा न हुआ

होता तो आज मुझे इस प्रकार यहाँ क्यों आना पड़ता? मेरा वास्तविक कर्मभूमि तो वही है!'

इस प्रकार के अनेक विचार उनके मन में तरंगायित हो रहे थे। वे तन्मय खड़े थे और आसपास के सारे संसार को एक बार तो वह भूल-से गए थे। उनका मन भारतीय पीड़ितों के दु:ख दूर करने, भारत की धरती पर जा चुका था।

उनके पीछे अण्डमान के प्रमुख जापानी अधिकारी तथा नेताजी के भारतीय सहकारी खड़े थे। नेताजी बहुत काल तक उसी अवस्था में वहाँ पर खड़े रहे थे। उन्हें समय और स्थान की सुध-बुध नहीं रही थी। उनके सहयोगी चाहते थे कि अब वहाँ से चला जाए, किन्तु नेताजी तो मानो समाधिस्थ-से खड़े ही थे। उसी स्थिति में उनका फोटो-चित्र लिया गया था। वह चित्र तथा उनके अण्डमान-दौरे के अनेक चित्र अभी उपलब्ध हैं।

अण्डमान में रहते समय नेताजी ने अण्डमान के राज्य की व्यवस्था स्वतन्त्रता सरकार को सौंपने के विषय में वहाँ के जापान देश के प्रमुख अधिकारियों से वार्त्तालाप किया। उनका कहना था कि जापानी मन्त्रिमण्डल की ओर से हमें आदेश प्राप्त हो चुका है। सिंगापुर से निकलने से पूर्व नेताजी ने ले०क० लोकनाथन की उस द्वीप का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर (स्वतन्त्र सरकार के उस द्वीप के राज्यपाल) के रूप में नियुक्ति कर दी थी। अण्डमान के कार्य सम्पन्न करके नेताजी विमान में रंगून आ गए।

7 जनवरी 1944 से भारतीय स्वतन्त्रता संघ एवं सेना के केन्द्रीय कार्यालय रंगून में स्थापित हो गए। ब्रह्मदेश अब स्वतन्त्र हो गया था। डॉ० बा मा उसके अध्यक्ष थे। युद्ध के कारण ब्रह्मदेश की दशा बहुत बिगड़ गई थी। उसकी उत्तरी सीमा पर अंग्रेज, अमेरिकन तथा चीनी सेना आक्रमण करने के उद्देश्य से तैयार होकर बैठी थी। प्रत्येक एक-दो दिन बाद ब्रह्मदेश पर उनके हवाई आक्रमण होते रहते थे। अत: उनकी बिगड़ी हुई दशा को सुधारना तो दूर की बात थी, परन्तु सारे व्यवहार दिन-प्रतिदिन बिगड़कर ब्रह्मदेश की स्थिति बड़ा गम्भीर रूप धारण करने लगी थी। उस ब्रह्मदेश में अमेरिकन हवाई जहाज काम कर रहे एक-एक किसान के पीछे भ्रमर के समान लगकर उन्हें परेशान करते थे। यद्यपि वे गोलियों तथा बमों की बरसात नहीं करते थे, परन्तु किसी शत्रु द्वारा निरंतर किया जानेवाला पीछा मन को भयभीत करने के लिए पर्याप्त होता है। विशेषतया तब, जब 'कोई भी क्यों न जीते, इससे हमें क्या? हमें तो इस परेशानी से सदा-सदा के लिए मुक्ति मिलनी चाहिए।' इस विचार के निर्धन किसान अथवा नागरिक ऐसी बेबसी में थे मानो उन्हें किसी भूत ने पछाड़ा हो अथवा कूदनेवाले किसी जंगली चपल

सर्प ने उनका पीछा किया हो।

परिणामस्वरूप सदा होनेवाले हवाई आक्रमणों से भयभीत होकर ब्रह्मदेश के किसान अपनी जमीनों को छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर के गाँवों में जाकर रहने लगे थे। कृषि-भूमि खाली पड़ी रह गई थी। खेती न करने के कारण चावल का घर समझे जानेवाले ब्रह्मदेश में शीघ्र ही अनाज की कमी अनुभव की जाने लगेगी—ऐसा प्रतीत होने लगा था। कपड़ा मिलना तो उससे भी अधिक कठिन हो गया था।

अंग्रेजी-छाप के कागजी नोटों को बन्द कर जापानियों ने उन्हीं के जैसे अपने नोटों को चलाया था, परन्तु 'किंग एम्परर ऑफ जापान' जैसी अंग्रेजी शैली की रचना उन्होंने उन नोटों पर नहीं रखी थी। इन नोटों को जलाकर तथा अन्य किसी प्रकार से लोग हमारे बादशाह को अपमानित करेंगे, इस विषय में जापानी बहुत जागृत होते हैं। इसी कारण वे राजा की मुद्रा को अथवा चित्र को अधिक प्रसिद्धि न देकर उसे आम जनता के हाथ नहीं लगने देते।

जापानियों द्वारा ब्रह्मदेश को स्वतन्त्रता सौंपने के उपरान्त ब्रह्मदेश के प्रतिनिधि विभिन्न राज्यों में भेजे गए थे। कई लोगों का कहना था कि यह केवल नाम-मात्र की ही स्वतन्त्रता थी, परन्तु यह मानना उतना सच नहीं था। इस बात के अनेक पहलू थे। स्वतन्त्र देश के नागरिकों का रहन-सहन बहुत अच्छा और सुखप्रद होता है। इन दिनों ब्राह्मी लोगों का वैसा रहन-सहन नहीं था। अतः जापानियों द्वारा इन लोगों को दी गई स्वतन्त्रता झूठी है, ऐसा ही अनेक लोगों का समझाना होता था, अर्थात् नागरिकों की स्थिति में किन्हीं साधनों के अभाव में युद्ध के दो वर्षों के समय में सुधार लाना जापानियों के लिए भी सम्भव नहीं था। यह बात पहले वर्णन की गई स्थिति से किसी भी व्यक्ति की समझ में आ सकती है।

ब्रह्मदेश के लोगों में जापानियों जैसा देशप्रेम, तथा वैसी वीरता का एकदम निर्माण होना सम्भव नहीं था। अंग्रेजों की सेना में नौकरी करनेवाले थोड़े-से सैनिकों को छोड़कर ब्रह्मदेश के अन्य लोगों को कुछ भी ज्ञान नहीं था कि युद्ध क्या चीज है। इसके विपरीत जापानियों की युद्ध की कुशलता विश्व के आधे से अधिक लोगों से टक्कर लेने का सामर्थ्य रखती थी। जान हथेली पर रखकर उन्होंने यह युद्ध आरम्भ किया था। पैसिफिक महासागर की परिधि के सब प्रान्तों को जीतकर शत्रुओं को पीछे हटने के लिए विवश करके ब्रह्मदेश की सीमा से उन्हें पार कर दिया था।

परन्तु युद्धकाल में ब्रह्मदेश जैसे शत्रु की सीमा के पासवाले देश को,

जिसमें अभी देशभक्ति जागृत नहीं हुई थी और जो दुर्बल भी थे, ऐसे ब्रह्मदेश के लोगों के हाथ में देश की रक्षा का भार छोड़कर अपनी सारी सेना का वहाँ से हटा लेना—यह बात पूर्णतया मूर्खता सिद्ध होती। खुले तौर पर शत्रु को ललकार के तथा शत्रु का स्वागत करके अपने गले में खुद फाँसी का फन्दा डालने जैसी यह बात सिद्ध होती। अत: इस दृष्टि से विचार करने पर जापान ने नाममात्र के लिए ब्रह्मदेश को स्वतन्त्रता दी थी, परन्तु सच्ची सत्ता नहीं सौंपी—यह कहना गलत होगा।

इस पर भी यह बात भी सत्य है कि सारे जापानी सैनिक स्वयं को कुछ अधिक ही समझते थे। उन्होंने जिनको स्वतन्त्रता प्रदान की, उन देशों के अधिकारियों के साथ उनका व्यवहार ठीक नहीं था। प्रत्येक जापानी सैनिक अपनी सेना के अधिकारियों के साथ बहुत अनुशासन से पेश आते थे। अपने किसी भी बड़े अधिकारी की आज्ञा को वे सम्राट अथवा परमेश्वर की ही आज्ञा मानकर उसका पालन करते थे। परन्तु अपने मित्र देशों के बड़े दर्जे के अधिकारियों को वे आदर प्रदान नहीं करते थे। "ये क्या, ये तो केवल खेल के मोहरे हैं। इन्हें हम जैसा नाच नचाएँगे ये उसी प्रकार नाचेंगे। इनकी तो केवल दिखाने की शान है। ये लोग क्या लड़ेंगे? यह तो हम हैं, इसी कारण इनका अस्तित्व है।" जापानी सैनिक का इस प्रकार का क्षुद्र आचरण होता था।

ब्रह्मदेश की स्वतन्त्र सरकार के सुपुर्द सारे आन्तरिक व्यवहार तथा स्वतन्त्र देश की श्रेणी के सारे बाह्य अधिकार—ये दोनों बातें जापान ने सौंप दी थीं, यह बात निर्विवाद है। आन्तरिक अधिकारों में रेल-मार्ग का समावेश नहीं था। डिब्बे, इंजन तथा पुल ध्वस्त होने के कारण नागरिकों को रेलगाड़ियों से कोई विशेष लाभ होनेवाला नहीं था। सैनिकों के प्रयोग के लिए भी वे पूर्णरूप से उपयुक्त नहीं थीं। परन्तु जहाँ पर भी सम्भव था, वहाँ पर नागरिकों को भी रेलगाड़ी का प्रयोग करने की छूट थी। डाक विभाग तो पूर्णतया बन्द हो ही गया था। इस प्रकार जब भारतीय स्वतन्त्रता सेना ब्रह्मदेश में पहुँची तब ब्रह्मदेश की इसी प्रकार की स्थिति थी।

अध्याय बाइस

युद्धारम्भ

मलय तथा ब्रह्मदेश को जोड़नेवाला 'क्राय' नामक छोटा-सा भूमिखण्ड है। वहाँ तक 'आज़ाद हिन्द फौज' रेलगाड़ी से पहुँच गई। उसके बाद सेना की एक-एक टुकड़ी मुर्ग्यई-टेह्वाय-ये मार्ग के किनारों से होकर मोलमीन तक जा पहुँची। मोलमीन से मार्ताबान तक सालवीन नदी का मुख नाव से पार करने में लगभग आधा घंटा लगता था। वहाँ से आगे रंगून तक रेलगाड़ी से जाया जा सकता था। स्वतन्त्रता सेना की टुकड़ियाँ जब समुद्र के किनारे से जाती थीं, तब तोपें, मोटरकारें इत्यादि उनकी भारी युद्धसामग्री को छोटी-छोटी नावों अथवा जहाजों द्वारा जलमार्ग से ले-जाया जाता था। वह सब उन्हें रंगून में दे दिया जाता था। एक मोटर बोट को मोटी रस्सी से, एक के बाद एक, इस प्रकार पाँच या छः छोटी नाव बाँधकर उनकी सहायता से जलमार्ग द्वारा पर्याप्त सामग्री कम व्यय पर तथा शीघ्रता से ले-जाई जा सकती है। इसी विधि का उपयोग स्वतन्त्रता सेना ने भी किया था।

सिंगापुर से स्याम की राजधानी बैंकाक तक पहले से ही रेलगाड़ी का मार्ग था। बैंकाक से आगे मोलमीन तक जापानियों ने 80 हजार भारतीय श्रमिकों की सहायता से, घने जंगलों को रेल की पटरियों के लिए काटकर नया रेलमार्ग बनाया था। इस लौहमार्ग के लिए रेल की पटरियाँ, डिब्बे, इंजन आदि सब अन्य लौहमार्ग के छोटे-छोटे रास्ते बन्द करके, उन्हीं का सामान इस स्थान पर जापानियों ने प्रयोग में लिया था। इस मार्ग से सेना तथा युद्धसामग्री ले-जाने के लिए जितनी आवश्यकता होती थी, उतने रेल के डिब्बे तथा इंजन उपलब्ध नहीं होते थे। बदली पर अथवा अत्यन्त आवश्यक कार्य पर आने-जानेवाले सैनिक, सैनिक अधिकारी तथा बहुत छोटी टुकड़ियों को लाने-लेजाने का कार्य इस लौहमार्ग से जैसे-तैसे पूरा होता था।

इस घने जंगल के रेलमार्ग पर रेलगाड़ी के डिब्बों की कमी जितनी अनुभव

होती थी, उतनी सिंगापुर से बैंकाकवाले मार्ग पर नहीं होती थी। बैंकाक तक रेलगाड़ी से जाने पर आगे रेलगाड़ी से जाना असम्भव ही था। वहाँ से यदि पैदल जाया जाय तो रास्ता बहुत लम्बा होता था। उसके अतिरिक्त भारी युद्धसामग्री को ले-जाना सम्भव नहीं था। अत: सिंगापुर-बैंकाक लौहमार्ग पर दोनों देशों को जोड़नेवाले 'क्राय' के छोटे से भू-भाग के एक छोटे स्टेशन पर उतरकर वहाँ से आगे समुद्र के पश्चिम-किनारे के मार्ग से चलकर आया जाय—ऐसा निश्चय किया गया।

इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान तक यात्रा करते हुए अक्टूबर 1943 से अगले सात-आठ मास में भारतीय सेना की पहली और दूसरी, दो डिविजनें मलय से निकलकर ब्रह्मदेश में जा पहुँचीं। उन डिविजनों के मुख्य अधिकारी, काम करनेवाले केन्द्रीय कार्यालय के सैनिक, प्रतिपूर्ति विभाग के कर्मचारी, डिविजन की अपनी कई टुकड़ियों के मलय से निकल जाने के बाद अपने-अपने विभाग तथा कार्यालयों को बन्द करके हवाई जहाज तथा लौहमार्ग, जिस प्रकार भी जिसको सुविधा मिली, बैंकाक के मार्ग से रंगून पहुँच गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपना कार्य आरम्भ कर दिया। वहाँ पर पहुँचने के बाद, अपनी टुकड़ियों के पहुँचने पर उनकी तथा उनकी युद्धसामग्री की व्यवस्था करके थोड़े दिनों तक रंगून में ही रहकर उनके आवास आदि की व्यवस्था करना तथा बाद में नेताजी की आज्ञा के अनुसार फिर से पैदल अथवा रेलगाड़ियों से विभिन्न दिशाओं में युद्ध की सीमा पर उनको रवाना करना उनका काम होता था।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना की प्रथम डिविजन में अधिकतर सारे पुराने सैनिक अर्थात् युद्धबन्दी से स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित हुए सैनिक थे। दूसरे डिविजन में पुराने सैनिकों तथा दूर पूर्व के नागरिकों से सैनिक बने हुए लोगों की संख्या बराबर की थी। तृतीय डिविजन में अधिकांशतया नये सैनिक ही थे। यह डिविजन अभी तक मलय में ही थी। जो दो डिविजन रंगून में पहुँचीं, उन्हें मार्ग के तीन-चार मुख्य स्थानों पर 15-20 दिनों तक अथवा एक मास तक रुकना पड़ा था। समस्या भारी युद्धसामग्री को पहुँचाने की थी। उसके लिए वाहनों की आवश्यकता थी तथा उनकी व्यवस्था होने तक केवल सैनिकों की टुकड़ियों को आगे भेजने से कुछ लाभ नहीं था।

दक्षिण की ओर पालेटावा गाँव के पास भारत और ब्रह्मदेश की सीमा प्रारम्भ होकर उत्तर में कोहिमा तक गई है। यद्यपि यह प्रत्यक्ष सरकारी सीमा की रूपरेखा थी, फिर भी वास्तव में इस रेखा के आर-पार ही हर स्थान पर दोनों ओर की सेनाएँ हों ऐसा नहीं था। हिन्दुस्तान और ब्रह्मदेश की सीमा का विशाल प्रदेश

घने जंगलों, गहरी खाइयों एवं घाटियों से व्याप्त है। पर्वतों की ऐसी मालाएँ हैं, जिनमें से होकर यात्रा करना सम्भव नहीं हो पाता।

इस राजकीय रूपरेखा के अनुसार जंगल में चाहे जहाँ खम्भा गाड़कर उसके आरपार भारत और ब्रह्मदेश की सीमा है—ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु सेना को जहाँ रखा जाता है, वहाँ सेना के संचार की सुविधा, राशन मिल सकने की सुविधा, मोटरगाड़ियों के आवागमन के लिए मार्ग, पीने का पानी मिल सके—ऐसी कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

इस दृष्टि से कालाडान नदी के किनारे पालेटावा गाँव तथा उसकी उत्तर-दिशा में फालम तथा उसके ईशान कोण की ओर वंथो, काथा, भामो, मिचीना, इत्यादि स्थानों पर भारतीय स्वतन्त्रता-सेना विभागों में रखी गई थी। यह लगभग 15 सौ मील लम्बी सीमा थी। साधारण रूप से पहली डिविजन रंगून से उत्तर की ओर पेगू-टाँगू-पिनमिना-भामेथीन लौहमार्ग से माण्डले को गई थी। वहाँ से आगे वह भामो, मिचीना, काथा, कालेवा आदि स्थानों पर विभाजित रूप में रखी गई थी।

दूसरी डिविजन रंगून से प्रोम होकर पाकोक्क, मिगयांग, पालेटावा, मांगड़ो, बुथेडांग, फलाम इत्यादि में स्थित थी। दक्षिण दिशा की ओर की सीमा 'आराकान' पर्वत-शृंखलाओं से व्याप्त है। सीमा के मध्य से अर्थात् फालम गाँव से उत्तर दिशा की ओर चिन नामक पर्वतीय प्रदेश है। इसकी उत्तर दिशा में कोहिमा की ओर नाग पर्वत-श्रेणी है। इन तीनों पर्वतों से व्याप्त प्रदेशों में विभिन्न जातियों के वन्य मनुष्य रहते हैं। ये शेर की भाँति क्रूर न होकर हिरण की भाँति लजालु होते हैं। नाग लोगों को क्रिश्चियन मिशनरियों ने पूरी तरह से धर्मान्तरित करके उन्हें ईसाई बना लिया है। वंथो तथा काभा की पूर्व दिशा की ओर चिन्दविन नदी के तट पर कालेवा नाम से एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ पर भारतीय स्वतन्त्रता सेना तथा जापानियों का भी एक बड़ा डेरा था।

इस पन्द्रह सौ मील लम्बी तथा विशाल सीमा को तीन भागों में बाँटा गया था—उत्तर दिशा की ओर का, बीच का तथा दक्षिण दिशा की ओर का। उत्तर दिशा की ओर युद्ध करनेवाली सेना के मुख्य स्थान भामो, मिचीना तथा मोगांग थे। बीच के विभाग में काथा, कालेवा, फालम, वंथो इत्यादि स्थानों पर सेना के प्रमुख डेरे थे। दक्षिण की ओर पालेटावा, बुथेडांग, मांगड़ो आदि स्थानों पर प्रमुखतया सेना के डेरे रखे गए थे।

आधुनिक युद्ध की ठीक से कल्पना न कर सकने के कारण कई लोग ऐसा पूछते हैं कि आधुनिक युद्ध में आमने-सामने युद्ध करने का भी कभी समय आता

है कि नहीं? अथवा केवल तोपों की मार से अथवा विमानों के आक्रमण से घबराकर पीछे हटना पड़ता है?

पानीपत के युद्ध के समान मैदान में आमने-सामने युद्ध का समय तो कभी-कभी ही आता है। तोपों, मशीनगनों और विमान इत्यादि की सहायता से शत्रु के राशन को समाप्त करना, उसकी सेना को नष्ट करना, उसके आने जाने के मार्ग को बन्द करना—इस प्रकार अनेक प्रकार से शत्रु को कठिनाई में डाला जाता है तथा उसे पीछे हटने अथवा पराजय स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है। परन्तु घाटी से गए मार्ग के दोनों ओर पर्वतीय वन-प्रान्तों में खन्दकें खोदकर छिपकर बैठे शत्रुओं को भगाने के लिए हवाई आक्रमण तथा तोपों को दागने के साथ-साथ छोटी-छोटी छापामार टुकड़ियों को भी भेजना पड़ता है। ये आठ-आठ दस-दस लोगों की टुकड़ियाँ जब अचानक आक्रमण कर देती हैं, तभी आमने-सामने संगीनों से युद्ध करने का समय आता है, अर्थात् आधुनिक युद्ध में हजारों सैनिकों को आमने-सामने युद्ध नहीं करना पड़ता—यदि ऐसा कहा जाए, तो भी अनुचित न होगा। ऐसी छोटी-छोटी टुकड़ियों के आक्रमण होते रहते हैं।

ऊपर वर्णन किये गए सीमा पर स्थित पर्वतीय प्रदेशों में जो कई पर्वत-जैसे शिखर हैं, उन्हें सरकारी मानचित्र में क्रमांक दिए गए हैं, जैसे पर्वत-शिखर क्रमांक 1385, पर्वत-शिखर क्रमांक 2467; इसी प्रकार उनका सरकारी कागज-पत्रों में उल्लेख है। इस क्रमांक के पर्वत-शिखर पर अपने इतने सैनिक डेरा डाले हुए हैं, इस क्रमांक के पर्वत-शिखर पर शत्रु के इतने सैनिक स्थित हैं, उस क्रमांक के पर्वत-शिखर पर शत्रुओं के तोपों के गोलों की बरसात हो रही है, उस क्रमांक के पर्वत-शिखर पर हमारे सैनिकों ने आक्रमण कर दिया है—ऐसा सैनिक मानचित्रों को क्रमांक देकर हमलों का उल्लेख किया जाता था।

ऊपर बताई गई युद्ध की सीमा पर भारतीय तथा जापानी सैनिक मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे। कभी-कभी किसी सीमा का विशेष भाग भारतीय स्वतन्त्रता सेना के पास सौंपा जाता था। ऐसे समय पर मानचित्र पर दिखाए गए इस गाँव से उस गाँव तक के प्रदेशों की रक्षा स्वतन्त्रता-सैनिकों द्वारा की जाय, इस मार्ग से आगे युद्ध करके इस स्थान पर पहुँचा जाए तथा वहाँ अपने झण्डे को फहरावें—ऐसा निश्चित किया जाता था। जब किसी बड़ी जापानी टुकड़ी के साथ कोई छोटी स्वतन्त्रता सेना की टुकड़ी जोड़ी जाती थी, तब जापानियों की आज्ञा के अनुसार ही उस सेना का संचालन होता था तथा यह सब प्रकार से उचित ही था।

जापान देश एक स्वतन्त्र देश तो था ही तथा उसके साथ-साथ उसका युद्ध-

तन्त्र भी विकसित था। उनके अधिकारियों-जितना अनुभव तथा उनके-जितना युद्धतन्त्र का ज्ञान स्वतन्त्रता सेना के अधिकारियों को नहीं था। अपने अधिकार से, ज्ञान से तथा अनुभव से बड़े ऐसे अधिकारियों के नीचे मित्र देश के रूप में काम करने के लिए तैयार होने में कुछ भी गलत न था।

26 जनवरी 1944 के दिन रंगून में सुभाष रेजिमेन्ट की गोली-बारी का अभ्यास किया जाना था। नेताजी स्वयं वहाँ पर विद्यमान थे। सैनिकों को सम्बोधित करते हुए नेताजी ने कहा—"मित्रो! आप अब सीमा पर जानेवाले हैं। यह देखिये....इस पश्चिम दिशा की ओर जरा दृष्टि रखिये....उन पर्वतराशियों से परे अपनी जन्मभूमि है। अपनी मातृभूमि को दासता से मुक्त करने की पवित्र बेला आ पहुँची है। अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए जान देने से कतराइगा नहीं! आपके अपने तथा भारतवर्ष के नाम की शोभा बढ़ेगी, ऐसा ही काम करके दिखाइएगा...."

27 जनवरी को सुभाष रेजिमेन्ट को सीमा के लिए कूच करने का आदेश प्राप्त हुआ। भारत की सीमा पर प्रथम बार आक्रमण करने का सम्मान इस रेजिमेन्ट को सौंपा गया था। इस रेजिमेन्ट के पीछे-पीछे स्वतन्त्रता सेना की पहली डिविजन की अन्य टुकड़ियाँ भी पाँच-पाँच, छः-छः दिनों के अन्तर से सीमा की ओर प्रस्थान करने लगीं।

सीमा के पर्वतीय प्रदेशों में स्वतन्त्रता सेना की दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह सैनिकों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनाकर उन्हें जापानी टुकड़ियों के साथ जोड़ दिया गया था। हर टुकड़ी पर भारतीय स्वतन्त्रता के सैनिक विद्यालय से प्रशिक्षित जवानों और सेकण्ड लेफ्टिनेन्ट अधिकारियों को नियुक्त किया गया था। हर अधिकारी के पास एक-एक पिस्तौल होती थी। बहादुर पथक, जासूसों का पथक, रिइन्फोर्समेंट पथक को आठ-आठ विभागों में बाँटकर इन तीनों का एक-एक विभाग हर एक जापानी टुकड़ी के साथ काम करता था।

अंग्रेजों की सेना के भारतीय सैनिकों को बन्दी बनाने पर, उन सबको रिइन्फोर्समेन्ट पथक के सैनिकों के पास सौंपा जाता था। उसके बाद रिइन्फोर्समेन्ट के सैनिक इन नये भारतीय युद्धबन्दियों के विषय में पूछताछ करके उनका स्वागत-सत्कार करना, उनके मन की इच्छा का पता लगाना तथा उन्हें स्वतन्त्रता सेना में युद्ध करने के लिए प्रवृत्त करना आदि-आदि व्यवस्था करते थे।

जासूसों के पथकों की छोटी-छोटी टुकड़ियों के सैनिक शत्रु-व्याप्त वन-प्रदेशों में जब प्रवेश करते थे तब उनके शरीर पर पत्ते, घास, इत्यादि विभिन्न स्थानों पर लगाए गए होते थे जिसके कारण वनों में धरती पर लेटकर सरकते

समय, अथवा झाड़ियों में से चलते समय शत्रु यद्यपि आसपास रहते थे, फिर भी उन्हें उनका पता नहीं चलता था। पास के सब शस्त्रास्त्र भी पत्तों से ठीक से ढके हुए रहते थे।

3 फरवरी 1944 तक सब तैयारी पूरी हो गई। कालाखान, पालेटावा, हाका, फालम, कालेवा, वंथो, काथा, भामो, मोगांग, मिचीना—इन प्रमुख शहरों में स्वतन्त्रता सेना तथा जापानी सेना के प्रमुख डेरे स्थापित किये गए थे। इन नगरों के पश्चिम तथा वायव्य दिशा में भारत की सीमा के पास स्थित छोटे गाँवों में अथवा पहाड़ी लोगों की छोटी बस्तियों के स्थान पर स्वतन्त्रता सेना तथा जापानी सेना की टुकड़ियों को फैलाया गया। जहाँ पर लोगों की बस्ती हो ऐसे स्थानों की रक्षा करनी पड़ती है अथवा उन्हें बचाना पड़ता है, क्योंकि वहाँ पर पीने के पानी, राशन, जंगलों में गुजरने के लिए पगडंडियों की जानकारी प्राप्त होती है। ऐसे गाँवों, कस्बों में ही इधर-उधर के कच्चे मार्ग अथवा पगडंडियाँ आकर पहुँचती हैं। इन गाँवों अथवा बस्ती की जगहों को छोड़कर केवल सीमा की दिशा में जाया जाए तो बेकार ही घने जंगलों में, प्रबल वेग से बहनेवाले नदी-नालों को पार करते हुए सीधी चढ़ाईवाले पहाड़ों पर चढ़ना पड़ेगा।

प्रत्येक सिपाही की पीठ पर सामान से भरी हुई एक खाकी रंग की थैली पट्टी की सहायता से बँधी हुई होती है। इस थैली में एक कम्बल, एक खाकी निक्कर, एक कमीज, एक गरम स्वेटर, मच्छरदानी, बनियान आदि वस्तुएँ होती हैं। गले में पानी की एक छोटे मुँहवाली पत्रे की बनी तथा जिसको गरम कपड़े से लपेटा हुआ होता है वैसी एक बोतल होती है तथा एक रेस्पिरेटर, विषैली वायु से बचाव करता मास्क, लटका हुआ होता है। हाथों में बन्दूक, कमर में संगीन, तलवार अथवा पिस्तौल—ऐसा कुल मिलाकर प्रत्येक सैनिक का शस्त्रों का भण्डार होता है।

पीठ पर बाँधे गए सामान के कारण सिपाही को कूबड़ निकले हुए व्यक्तियों के समान आगे झुककर चलना पड़ता है। इतने सामान को लेकर सीधी चढ़ाईवाले पहाड़ों पर चढ़ना-उतरना सुगम नहीं होता। तोपों तथा भारी युद्ध-सामग्री को बैलगाड़ियों, मोटरकारों को उन पर ले-जाना तो असम्भव ही होता है। इस प्रकार के ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ने एवं उतरने में कई दिन लगाकर भी अधिक दूर नहीं पहुँचा जा सकता। मार्ग में भोजन आदि मिलने का प्रबन्ध न होने के कारण अन्न, औषधियाँ, इत्यादि वस्तुएँ भी लेकर चलना पड़ता है।

इतना विस्तार से बताने का कारण यह है कि युद्ध का जिन्हें अनुभव नहीं होता, ऐसे सामान्य नागरिक को ऐसा लगता है कि सीमा की भूमि इतनी विशाल

होने के कारण उसकी रक्षा कैसे करते होंगे? शत्रु सहसा किस दिशा से आ जाए इसका क्या मालूम? सीमा पर दक्षिण से लेकर उत्तर दिशा तक हमारे सैनिकों को हाथों में हाथ पकड़कर पंक्ति बनाए बिना शत्रुओं को रोकना कैसे सम्भव होता होगा?

परन्तु वास्तव में वैसा नहीं होता। ऊपर जिस प्रकार से बताया गया है उस प्रकार से सेना को गाँवों में फैलाने से विभिन्न मार्गों की रक्षा की जाती है। वहाँ से शत्रु किस दिशा से आ रहा है—इस बात का पता लगाने के लिए सैनिकों की छोटी-छोटी टुकड़ियों को आगे भेज करके पता लगाया जाता है कि शत्रु की सेना यदि आ रही है तो किस दिशा से आ रही है। सूचना मिलने पर अपने पीछे स्थित मुख्यालय से बेतार के सन्देश द्वारा अथवा जासूसों को भेजकर जल्दी ही सेना मँगवाई जा सकती है। इस प्रकार शत्रु के आक्रमण की सम्भावना जिस ओर से दिखाई दे, उस ओर अपनी सेना भेजकर उस भूमि की रक्षा की जाती है।

ऊपर भारतीय स्वतन्त्रता सेना और जापानी सेना की सीमा पर स्थित मुख्य डेरों की रूपरेखा दी हुई है। इनकी दूसरी ओर पर्वतीय जंगली भाग को छोड़कर वायव्य तथा उत्तर दिशा में अंग्रेजों के मोर्चे थे। बुथेडांग, मांगड़ा—ये ब्रह्मदेश की दक्षिण सीमा के दो गाँव और काक्स बाजार, मणिपुर, इम्फाल, कोहिमा—ये अंग्रेजों के प्रमुख डेरे थे। अंग्रेजों की ओर से चीनी, अमेरिकन, कनेडियन तथा भारतीय आदि कई देशों की सेनाएँ थीं। इनमें भारतीय सेना ही सबसे अधिक थी। उसके बाद अफरीकन तथा चीनी, इस प्रकार से सारी एशिया की एवं अफरीका की सेना ही उस ओर से मुख्यतया युद्ध करनेवाली थी।

अंग्रेज, अमेरिकन तथा कनाडियन लोग तो केवल हुक्म चलाने, शान बघारने, राज्य चलाने आदि सरल कार्य करने के लिए ही थे। निर्णायक आक्रमण करने के लिए, तोपों के सम्मुख मरने के लिए एशिया-खण्ड के लोग होते थे और विजयोत्सव के समय मोर्चे पर भाग लेने और मजा मारने के लिए गोरे लोग रखने का सदा का रिवाज यहाँ पर चलता था।

एक ओर जापानी तथा भारतीय स्वतन्त्रता सैनिक तथा दूसरी ओर चीनी और अंग्रेजों के ओर की भारतीय सेना—कुल मिलाकर दोनों ओर एशिया के लोग ही थे। दोनों एक-दूसरे को मारकर अंग्रेज़ों का साम्राज्य फैलाते थे। इस सच्ची स्थिति का ज्ञान एशिया के लोगों को तभी होगा जब वे एक होंगे। उस समय तो चीन-जापान जैसे देशों की परस्पर शत्रुता के कारण दूसरे देशों को लाभ हो रहा था।

दोनों ओर के मोर्चों के बीच में जो मार्ग अथवा पगडण्डियाँ थीं, उनमें शत्रु

की सेना अपनी दिशा से न आ सके, इसके लिए रास्ते के किनारे पर स्थित पहाड़ियों के शिखरों पर तोपें, मशीनगन इत्यादि थोड़ी-थोड़ी दूरी पर लगा रखी थीं। सिपाहियों द्वारा गोलीबारी करने के लिए बीच-बीच में खन्दकें खोदी गई थीं। आसपास ऊँचे-ऊँचे जंगली वृक्ष थे ही। सैनिकों के रहने के लिए छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ बनाई हुई थीं। झोंपड़ियों के पास पेट्रोल के पीपे तथा बारूद के बक्से रखे होते थे।

3 फरवरी की रात को सीमा पर स्थित हर टुकड़ी के प्रमुख अधिकारी ने अपने-अपने सैनिकों को एकत्रित करके दूसरे दिन शत्रुओं पर आक्रमण के लिए तैयार रहने का आदेश दिया। चारों ओर उत्साह का वातावरण दिखाई दे रहा था। प्रत्येक स्वतन्त्रता सैनिक के चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही थी।

"कल हम भारत की, अपनी मातृभूमि की दिशा में शत्रु पर आक्रमण करेंगे; भारत में जल्दी ही प्रवेश करना सब-कुछ हमारी वीरता पर ही निर्भर करता है। अनिश्चितता तथा तैयारी का समय अब बीत चुका है, अब तो वास्तव में युद्ध का दिन आ गया है। इसके बाद हम अंग्रेजों के दास बनकर भारत में प्रविष्ट होनेवाले नहीं हैं, अपितु अपनी वीरता से अपने अधिकार की भूमि पर अपने पग रखेंगे। इस प्रकार हम स्वयं तो स्वतन्त्रता का उपभोग करेंगे ही, इसके साथ ही अपने करोड़ों बन्धुओं को भी दासता से मुक्ति दिलाएँगे। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जी की जय हो, जिन्होंने हममें यह जागृति उत्पन्न की तथा हमें ऐसा स्वर्ण अवसर दिलवाया। अब हम हैं और हमारे शत्रु हैं, हम देख लेंगे। अब सच्ची परीक्षा का समय है। मर जाएँगे परन्तु पीछे नहीं हटेंगे।" ऐसे ही उस दिन हर किसी के मन में विचार उठ रहे थे।

जब सचमुच का युद्ध आरम्भ हो जाता है तब परेड, पंक्तियों में चलना, सबको एक-साथ अनुशासन में पग बढ़ाना इत्यादि कुछ भी सम्भव नहीं होता। यह सब तो सैनिकों में अनुशासन की आदत डलवाने के लिए होता है। परन्तु सच्चे युद्ध का तथा इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वैसी ही बैंड की भी बात है। विजयोत्सव के जलूस में बैंड का प्रयोग होता है, परन्तु युद्ध के समय नहीं होता। इसके विपरीत इस प्रकार के गोरिल्ला आक्रमण तो किंचित् भी शोर मचाए बिना बड़े ही गुप्त रूप से किये जाते हैं।

3 फरवरी की रात को दस बजे पालेटावा छावनी में अचानक सीटी बजी। छावनी के आसपास पहरा देनेवाले सैनिक एकदम चौंके तथा उन्होंने अपने शस्त्र उठा लिये। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था। झाड़ियों में से बीच में ही हवा के झोंके की अथवा पेड़ हिलने की आवाज सुनाई पड़ रही थी। रात के कीड़ों

की किर्र-किर्र ध्वनि सुनाई दे रही थी। पहरेदार सचेत हो गए। अन्य पहरेदार भी एकदम अपने शिविरों से बाहर आकर तथा अपने शस्त्रों को हाथ में लेकर सन्नद्ध हो गए। कमरों में जो सैनिक जाग रहे थे उन्होंने अपने सोए हुए साथियों को जगाया। दो-तीन मिनटों में ही जब जागकर उठ बैठे थे।

सभी सैनिक अपना परिधान धारण कर अपने सेनानायक के सम्मुख जाकर विभिन्न पंक्तियों में खड़े हो गए। छावनी के प्रमुख ने अपने से निचले दर्जे के अधिकारी को आज्ञा दी, "अपनी-अपनी टुकड़ियों की उपस्थिति लेकर मुझे सूचित करें।" सबने अपने-अपने सैनिकों की उपस्थिति लानी आरम्भ कर दी। कुछ सैनिकों को ठण्ड के कारण ज्वर हो गया था। पिछले दिन के छोटे-से युद्ध में किसी को पैर में चोट आ गई थी अथवा सूजन आ गई थी, किसी को विषम ज्वर ने घेर लिया था, किसी को बवासीर हो गई थी।

केवल ऐसे रोगी ही अपने-अपने बिस्तर पर अपने कमरों में अपने डॉक्टरों की देखरेख में लेटे हुए थे। शेष सभी सैनिक बाहर पंक्तियों में खड़े थे। हर टुकड़ी के नायक ने अपने सैनिकों की पीठ पर रखी थैलियों का निरीक्षण किया। यदि किसी की थैली में आवश्यकता से अधिक सामग्री पाई गई तो उसको निकालकर फेंक दिया गया। हर किसी की बन्दूक, मशीनगन इत्यादि ठीक थी। हरेक को बन्दूकों की सौ-सौ गोलियाँ दी गई थीं। सब सेनानायकों ने छावनी के मुख्य अधिकारी को अपने पथक के कितने सैनिक स्वस्थ हैं, कितने रुग्ण हैं तथा सब शस्त्रों से सज्जित हैं—इस प्रकार सूचित कर दिया।

उसके बाद छावनी के मुख्य अधिकारी ने सबको अपने आसपास बिठाकर उन्हें उपदेश की दो बातें तथा वीरता की कहानियाँ सुनाईं। उसके बाद चेताया—"नेताजी का स्मरण करके हर कोई अपने देश का काम अच्छी प्रकार से निभाए, उसमें किसी बात की कोई कसर नहीं रहनी चाहिए। कोई जरा भी घबराहट या डर का प्रदर्शन न करे। शत्रुओं को लोहे के चने चबवाए। अब आपको किसी भी समय पर जाने का आदेश प्राप्त हो सकता है। इसके बाद आप किसी भी अवसर के लिए तैयार रहें।"

यह बताने के उपरान्त वह सभा समाप्त कर दी गई। प्रत्येक सैनिक अपने बिस्तर पर जाकर लेट गया। उस रात किसी भी सैनिक को नींद आना सम्भव नहीं था। प्रत्येक सैनिक उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था कि कब यह रात समाप्त हो और कब हम शत्रु पर आक्रमण करें।

छावनी के मुखिया अपने नायकों को अपनी झोंपड़ी में ले गए। एक जलती हुई मोमबत्ती के नीचे सिर झुकाकर सब लोग किसी बात का निरीक्षण कर रहे थे।

नीचे एक नक्शा था। दूसरे दिन आक्रमण के विषय में हर नायक को उसके काम के विषय में समझाया जा रहा था।

4 फरवरी के दिन प्रात:काल तीन बजे से ही छावनी में हलचल आरम्भ हो गई थी। हर कोई अपना सामान पीठ पर बाँधकर तथा शस्त्रास्त्र लेकर तैयार हो गया था। छावनी के रसोइये ने खाना बनाकर सबको खिचड़ी खिलाई तथा दो बार के भोजन के लिए पर्याप्त हो—इतनी डिब्बों में भर ली गई। सुबह के साढ़े चार बजे हर कोई पंक्ति में जाकर खड़ा हो गया। पिछली रात की भाँति सामान का निरीक्षण करके तथा वीरताभरी चार बातें बताकर छावनी के मुखिया ने हर नायक को, अपना-अपना पथक लेकर हर किसी को बताए गए काम के लिए निकलने का आदेश दिया।

अभी तक चारों ओर अँधेरा ही था। उस छावनी के आस-पास एक-दो मील के घेरे में विभिन्न जगहों पर तोपें रखी गई थीं। पक्का मार्ग नहीं था, परन्तु बुथेडांग और मांगड़ा की सीमा की ओर जानेवाले मार्गों की घाटी में कुछ पगडण्डियाँ जरूर बनी हुई थीं। जासूसों की टुकड़ी ने कुछ दिन पहले बताई खबर के अनुसार, चार मील की दूरी पर शत्रुओं की सेना का सीमा पर एक डेरा था। उस पर तोपों की बरसात आरम्भ हो गई। जासूसों द्वारा लाई गई खबर के अनुसार नक्शे पर इस स्थान को एक बिन्दु के रूप में दिखाया गया था। दिशा तथा दूरी को देखकर तोप-स्थित काँटे को लगाने पर जिस स्थान पर निशाना लगाया गया हो वहीं पर जाकर तोप का गोला गिरता है। तोप का गोला डेढ़ या दो फीट लम्बा होता है। वह साधारणतया चार-पाँच मील की दूरी तक वार करता है। तोप के मुँह से बाहर निकलकर आकाश के अर्द्धगोलाकार मार्ग से होते हुए निशान पर जाकर गिरता है।

बन्दूक की गोलियाँ अधिकाधिक दो हजार गज की दूरी पर गिरने के कारण तोप के गोलों की भाँति बहुत ऊँचाई से नहीं जातीं। तोप का गोला ठीक निशाने पर गिर रहा है या नहीं, यह देखने के लिए तथा शत्रुओं के ऊपर दृष्टि रखने के लिए, शत्रु के डेरे के निकट ही एक निरीक्षण-डेरा रखा जाता है।

4 फरवरी 1944 के दिन प्रात: स्वतन्त्रता-युद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध के पथक अपने-अपने नायक के साथ छिपते हुए निकले थे। सेकण्ड लेफ्टिनेन्ट केशवन सिंगापुर के एक तमिल व्यापारी का युवा पुत्र था। नेताजी को देखकर उसके मन में अपनी मातृभूमि के लिए कुछ कर गुजरने की इच्छा जागी। उसने सैनिक विद्यालय में प्रशिक्षण लिया और उसके उपरान्त उसको सैकिण्ड लेफ्टिनेन्ट के पद पर नियुक्त कर दिया गया।

सीमा पर 1943 के अक्टूबर-नवम्बर के करीब जो लड़ाकू टुकड़ियों भेजी गई थीं, उनमें वह भी था। भारत और ब्रह्मदेश की सीमा के दक्षिण भाग पर आराकान में उसकी टुकड़ी भेजी गई थी। इस टुकड़ी का विचार था कि वह पहले बुथेडांग, मांगड़ा आदि सीमा पर के गाँवों पर अधिकार करने के उपरान्त काक्स बाजार की ओर मोर्चा लेगा।

इस मार्ग के पहाड़ों पर शत्रुओं की कुल मिलाकर तेरह चौकियाँ थीं। इन चौकियों से शत्रुओं को हटाए बिना उस मार्ग से अपनी सेना को ले-जाना सम्भव नहीं था। शत्रु की चौकियों से निरन्तर गोलाबारी हो रही थी। उन लोगों के पास पर्याप्त युद्धसामग्री विद्यमान थी। ठीक इसके विपरीत स्वतन्त्रता सैनिकों की संख्या तो कम थी ही, युद्धसामग्री भी अधिक नहीं थी। केशवन को 1185 नम्बर की पहाड़ी पर स्थित शत्रुओं की चौकी पर आक्रमण करके उन्हें वहाँ से खदेड़ने का काम सौंपा गया था। उसने प्रातःकाल चार बजे अपने 25 सैनिकों की टोली को जमा किया। उसके पास एक हवलदार, दो नायक तथा शेष सिपाही थे। सबको उसने अपना उद्देश्य समझा दिया था। उधर शत्रुओं की सेना में 70-75 सैनिक होंगे। केशवन ने शत्रु की चौकी से एक हजार गज दूर स्थित एक ऊँची जगह चुनी। हवलदार चरणसिंह को एक मशीनगन देकर एक नायक और तीन सिपाहियों के साथ उस पहाड़ी पर जाकर शत्रु पर आक्रमण करने के लिए कहा।

अपने वरिष्ठ अधिकारी की आज्ञा मिलते ही हवलदार चरणसिंह अपने साथियों के साथ उस स्थान के लिए चल पड़ा और छिपते-छिपाते वह उस पहाड़ी पर पहुँच गया। स्थान का ठीक प्रकार से निरीक्षण-परीक्षण किया और फिर अपनी मशीनगन को एक स्थान पर रखकर अपने साथियों को अपने आसपास तैनात कर दिया। सबने मिलकर दो-तीन खन्दकें खोदकर शत्रुओं की गोलीबारी से बचने के लिए अपने लिए स्थान बना लिया।

उधर सैकिण्ड लेफ्टिनेन्ट केशवन अपने बचे हुए उन्नीस सैनिकों के साथ छिपते-छिपाते शत्रु की चौकी की ओर बढ़ने लगे। किसी प्रकार इधर-उधर से घूम-घामकर वे लोग निश्चित स्थान पर पहुँचे। सैनिकों को अपनी बन्दूकें तैयार रखकर जमीन पर लेटे रहने के लिए आदेश दिया। स्वयं वह एक पेड़ पर चढ़ गया और वहाँ से उसने हवलदार की उस टुकड़ी को देखा और उस समय के लिए निर्धारित संकेत दे दिया। हवलदार इस बात की प्रतीक्षा में ही था। उसने तुरन्त गोलीबारी आरम्भ कर दी।

अनपेक्षित रूप से एकदम से गोलीबारी आरम्भ होने के कारण शत्रु की चौकी में हड़बड़ी मच गई। किसी प्रकार अपने को सँभालकर उन्होंने भी उत्तर में

गोलीबारी आरम्भ की। इस प्रकार आधे घंटे तक गोलीबारी करने के उपरान्त हवलदार चरणसिंह ने सहसा गोलीबारी बन्द कर दी। केशवन ने अपने सैनिकों को चुपचाप आगे बढ़ने का संकेत किया। हर सैनिक की बन्दूक पर संगीन जुड़ी हुई थी। जिस दिशा से गोलीबारी हुई थी उसी दिशा की ओर ये बढ़ रहे थे। शत्रु के सैनिक इस सन्देह में अपने-अपने स्थान पर ही डटे रहे कि न जाने कब गोलीबारी फिर से आरम्भ हो जाय। केशवन अपने उन्नीस सैनिकों को लेकर शत्रुओं के पीछे की ओर पचास गज के अन्तर पर पहुँच गया।

इतने निकट पहुँचने पर केशवन के बारह सैनिकों ने बम के गोलों की कीलें खोलीं और शत्रु सैनिकों की ओर फेंक दीं। इसके साथ ही 'चलो दिल्ली' का घोष करते हुए केशवन ने हाथ में तलवार लिये और उसके सैनिकों ने संगीनें तानके चारों ओर से शत्रु पर धावा बोल दिया। विस्फोटक गोलों का फटना और केशवन की गर्जना, दोनों एक-साथ ही हुए। गोलों की बौछार से शत्रु की मशीनगनें टूटकर दूर जाकर गिरीं। शत्रु-सैनिकों को कुछ सुझाई नहीं दे रहा था, क्योंकि सारा-कुछ अचानक ही हुआ था। कुछ मिनटों के लिए आमने-सामने का युद्ध हुआ। कुछ शत्रु-सैनिक आहत हुए और शेष ने हाथ ऊपर उठा लिये।

केशवन ने उनके शस्त्र ले लिये और उनको अलग बिठाकर उन पर पहरा बैठा दिया गया। इस युद्ध में एक स्वतन्त्रता सैनिक को प्राणों से हाथ धोना पड़ा था तथा चार घायल हो गए थे। शत्रुओं के पन्द्रह सैनिक मरे, तैंतीस घायल हुए तथा बारह शरण में आ गए थे। केशवन को भी थोड़ी चोट लगी थी। उस चौकी पर उसने अपने सैनिकों को तैनात कर दिया। हवलदार को संकेत से बुला लिया गया तो वह भी अपने सैनिकों को लेकर वापस पहुँच गया। युद्धबन्दियों को मुख्य छावनी के अधिकारी के पास ले-जाया गया और उन्हीं के साथ घायल सैनिकों को भी भेज दिया गया। एक विशिष्ट सन्देश के माध्यम से इस युद्ध की और उस पर प्राप्त विजय की सूचना भी वरिष्ठ अधिकारियों को दे दी गई।

इस प्रकार 10 फरवरी तक जीत पर जीत प्राप्त करते हुए पहाड़ों पर स्थित शत्रु की अनेक चौकियाँ भारतीय स्वतन्त्रता सेना के अधिकार में आ गईं।

इस विजय के लिए नेताजी ने वहाँ पर स्थित सब टुकड़ियों का अभिनन्दन किया। इसी प्रकार हाका, फालम, कालेवा इत्यादि विभिन्न विभाग में भी इसी प्रकार के आक्रमण आरम्भ कर दिए गए। नित्यप्रति ही स्वतन्त्रता सैनिकों की वीरता के किस्से सुनाई देने लगे थे। जापानी सैनिक भी भारतीय सैनिकों की वीरता को देखकर आश्चर्यचकित हो रहे थे। नेताजी को भी अपने सैनिकों पर गर्व था।

1944 के मार्च मास की ग्यारह तारीख तक स्वतन्त्रता सेना तथा जापानी सेना भी आगे कूच करते हुए टिड्डिम तक पहुँच गई थी। टिड्डिम गाँव को चारों ओर से घेरकर शत्रु के राशन पहुँचाने के सब मार्गों को अवरुद्ध कर दिया गया था। चारों ओर से घिरे होने के कारण शत्रुओं को अपनी रक्षा करना कठिन हो गया था। इनकी चौकियों पर दिनभर विमानों तथा तोपों से आक्रमण होते रहे थे। इस प्रकार शत्रु का खाद्यान्न और युद्धसामग्री समाप्त होने लगे थे।

एक दु:खद स्थिति यह बनती जा रही थी कि जापानी अधिकारी और भारतीय स्वतन्त्रता सैनिकों में परस्पर का वैमनस्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। जिन-जिन जापानी सेना की टुकड़ियों को भारतीय स्वतन्त्रता सेना की छोटी-छोटी टुकड़ियों से जोड़ा गया था, उन-उन जापानी टुकड़ियों के अधिकारी भारतीय सैनिकों को युद्ध करने का अवसर न देकर उन्हें केवल बोझा ढोने का काम ही सौंपने लगे थे।

एक बार एक भारतीय अधिकारी ने जब जंगल में किसी जापानी अधिकारी को कहा, "हम यहाँ पर आपकी मजदूरी करने के लिए नहीं आए हैं; सामान ले जाने का काम सब सैनिकों का होता है। आपके जापानी सैनिकों को भी यह सामान उठाकर ले जाना चाहिए। अपनी मातृभूमि के लिए लड़ने का हमारे सैनिकों का अधिकार पहले है।"

यह सुनकर वह अधिकारी क्रोध में आ गया और उसने तलवार निकालकर उसे ललकारा। भारतीय अधिकारी को उसके इस व्यवहार से क्रोध आ गया। उसने भी अपनी बन्दूक निकालकर जब उस पर निशाना साधा तो, तभी दूर से एक जापानी अधिकारी ने यह सब देख लिया। वह दौड़ता हुआ आया और उसने दोनों को समझाया कि वे परस्पर ही युद्ध क्यों करने लग गए? इस प्रकार की कई घटनाएँ हुईं।

रेलगाड़ियों अथवा मोटरगाड़ियों में प्राथमिकता जापानी सैनिकों को दी जाती थी। भारतीय सैनिकों को कई दिनों तक वाहनों की प्रतीक्षा में एक ही स्थान पर डेरा डालकर पड़े रहना पड़ता था। अन्यान्य प्रकार के सभी मामलों में ऐसा ही अन्यायपूर्ण व्यवहार जापानियों की ओर से किया जाता था। फलत: परस्पर मनमुटाव बढ़ता जा रहा था।

ऐसी परस्पर-विरोधी स्थिति में जापानी तथा भारतीय सेनाएँ आगे बढ़ रही थीं। टिड्डिम पर जब घेरा डाला गया तो उसको अपने अधिकार में लेने में पाँच दिन लगे। 18 मार्च को टिड्डिम में बचे हुए अंग्रेज तथा भारतीय सैनिकों ने शरणागति स्वीकार कर ली। अन्य टुकड़ियाँ आगे की ओर कूच करती हुई भारत

की सीमा पर अन्दर तक चली गई थीं। उनके पीछे जाकर उसी दिन भारतीय स्वतन्त्रता सैनिकों ने पहली बार भारत की भूमि पर तिरंगा झण्डा फहराया था।

स्वतन्त्रता युद्ध 4 फरवरी को आरम्भ हुआ था। उसके डेढ़ मास के भीतर भारतीय स्वतन्त्रता सेना ने भारत की सीमा के भीतर प्रवेश कर लिया था। यह बड़े गर्व की बात थी।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना ने 18 मार्च के दिन भारतीय सीमा के पहले गाँव में पहुँचकर स्वतन्त्र भारत का झण्डा फहराया था। उस समय नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के एक बड़े चित्र को सामने रखकर एक बड़ा जुलूस निकाला गया। सब नागरिकों की आँखों में से प्रसन्नता के आँसू टपक रहे थे। भारतीय स्वतन्त्रता सेना के कार्य पर सबके चेहरों पर कृतज्ञता की भावना साफ दिखाई दे रही थी। जयजयकार से सारा वातावरण गूँज उठा था।

स्वतन्त्रता सेना ने जिस दिन भारतीय भूमि पर पैर रखा था, उसकी सूचना मिलते ही जापानी सरकार की ओर से जनरल काबाबे तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की ओर से दो अलग-अलग घोषणाएँ प्रसारित की गई थीं जिनमें कहा गया था, "भारतभूमि पर आक्रमण करने के उपरान्त यदि उस भूमि का कोई भी भाग जापान के अधिकार में आता है तो उसे तुरन्त स्वतन्त्र भारत की भूमि के रूप में, भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को सौंप दिया जाएगा। उसका सारा प्रबन्ध भारतीय स्वतन्त्रता सरकार ही करेगी। वहाँ पर भारतीय स्वतन्त्रता सरकार का शासन स्थापित होगा।"

सिंगापुर के एक सार्वजनिक भाषण में नेताजी ने कहा था कि सन् 1944 आने से पूर्व ही भारतीय स्वतन्त्रता सेना भारतभूमि पर पहुँचकर वहाँ पर तिरंगा झण्डा फहराएगी। परन्तु यह बात 18 मार्च 1944 से पूर्व सम्भव नहीं हो सकी थी। तदपि इसे चमत्कार ही मानना होगा। 6 नवम्बर 1943 के दिन जनरल तोजो ने अण्डमान-निकोबार द्वीप भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को सौंपने का वचन दिया था। स्वतन्त्रता सरकार की उस स्वतन्त्र भूमि पर नेताजी 30-31 दिसम्बर 1943 को स्वयं उपस्थित थे। यह सन् 1944 के आगमन से पूर्व हो गया था। पोर्ट ब्लेयर में कमिश्नर के बँगले पर तिरंगा झण्डा फहरा रहा था। अतः कहा जा सकता है कि इस या उस, किसी भी प्रकार से नेताजी का कथन सत्य ही सिद्ध हुआ था।

भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की ओर से जीती हुई भूमि का राज्य-शासन चलाने के लिए कर्नल चटर्जी को नियुक्त किया गया था। उनके सहायक के रूप में 'रिकन्सट्रक्शन (पुनर्निर्माण) विभाग के लोग उनके साथ थे। यह विभाग सिंगापुर में स्थापित किया गया था। आवश्यकता पड़ने पर इन लोगों को भी सीमा

पर भेजा गया था। स्वतन्त्रता सेना द्वारा एक प्रदेश हस्तगत कर लेने पर उसे इस पुनर्निर्माण विभाग को सौंप दिया जाता था। उसके बाद अगले प्रदेश पर अधिकार के लिए आगे बढ़ते जाते थे।

पुनर्निर्माण विभाग की ओर से स्वतन्त्र भारत में प्रचार करने के लिए डाक के टिकट, तार के फार्म, रेलगाड़ियों की मरम्मत के लिए आवश्यक सामग्री, इस प्रकार से सारी व्यवस्था की जाती थी।

स्वतन्त्रता सरकार की अपनी स्वयं की मुद्रा हो, अतः नेताजी ने दिल्ली के लाल किले का चित्र जिसमें था, ऐसे कुछ नमूने तैयार करवाकर नोट छापने के लिए जापानी नोट छापनेवालों को कहा था। उन नोटों से भरा हुआ जहाज लगभग इसी रंगून बन्दरगाह पर पहुँचते हुए पानी में डूब गया। ऐसा जापानी अधिकारियों ने स्वतन्त्रता सरकार को बताया। जापानियों ने इस काम में बहुत विलम्ब कर दिया था। इन नोटों को छापने के लिए कहने के बाद कितने ही मास तक ये नोट छपकर आए ही नहीं थे।

कुछ जापानी अधिकारियों के मन में व्यर्थ का ईर्ष्या-भाव जागृत हो रहा था। उन्होंने यह ठान लिया था कि स्वतन्त्रता सरकार की ओर से नोट न छापे जाएँ। अतः इस काम में टालमटोल करते रहे और अन्त में जहाज डूबने का बहाना बनाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। विश्वासघात के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो जापानियों की नीयत पर सन्देह उत्पन्न करने लगे थे।

कालेवा से टम्मू गाँव भारत की सीमा पर उत्तर दिशा से करीब 105 मील की दूरी पर स्थित है। यहीं से घाट की पक्की तारकोल की सड़क पलेल गाँव से होकर इम्फाल अथवा मणिपुर नगर को जाती है। त्रिंदविन नदी के किनारे कालेवा ग्राम में भारतीय स्वतन्त्रता सेना का एक बड़ा डेरा था। यहाँ से युद्ध के लिए निकाली हुई कई टुकड़ियों ने शत्रुओं की पहाड़ों पर स्थित अनेक चौकियों पर अधिकार करते हुए, अप्रैल मास के अन्त में टम्मू गाँव से भी शत्रुओं को खदेड़ दिया।

पहले जब मैदानों पर युद्ध किये जाते थे, उस समय की भाँति युद्ध में शत्रु के शरण में आने तक हर पग पर उसे पीछे हटाते हुए आजकल के युद्ध में नहीं लड़ना पड़ता। एक स्थान पर से शत्रु को भगाने पर उसको अपने बचाव के लिए कई-कई मील पीछे भागना पड़ जाता है। पीछा करनेवाली सेना भी शत्रु के पीछे-पीछे नहीं भागती।

अतः दोनों ओर की सीमा की छावनी के मध्य किसी के भी अधिकार में न रहनेवाली ऐसी कितनी ही भूमि मीलों दूर तक पड़ी रहती है। टम्मू गाँव पर

अधिकार करने के बाद स्वतन्त्रता सेना का डेरा टम्मू में तथा अंग्रेजों की सेनाओं का डेरा इम्फाल में पहुँच गया था। इनके मध्य का 116 मील का लम्बा घाट का मार्ग किसी के भी अधिकार में नहीं था।

इम्फाल से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित पलेल गाँव शत्रुओं की सेना के अधिकार में था। टम्मू से लेकर पलेल के मार्ग में, रास्ते के एक ओर गहरी खाई तथा दूसरी ओर ऊँचे पर्वत हैं। जहाँ पर भी निगाह डाली जाय वहाँ खाइयाँ तथा ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों की मालाएँ दिखाई देती हैं।

इन्हीं मार्गों के आसपास 115 मील की पहाड़ियों पर कितने ही हवाई आक्रमण तथा दोनों ओर की सेनाओं के मध्य परस्पर युद्ध हुए। लगभग एक मास के युद्ध के उपरान्त मई मास के अन्त में पलेल पर तिरंगा झण्डा फहराने लगा था। भारत की सीमा पर इस मार्ग का यही पहला गाँव था। अंग्रेजी साम्राज्य की फौजें वहाँ से हटकर पन्द्रह मील दूरी पर स्थित इम्फाल में चली गई थीं। मणिपुर के महाराजा तथा अंग्रेजों के रेजिडेन्ट, दोनों ही दिल्ली में आ बैठे थे।

ब्रह्मदेश के पदच्युत गवर्नर ने भी दिल्ली में ही शरण ले ली थी, क्योंकि उन लोगों को लगने लगा था कि अब शीघ्र ही मणिपुर भी हाथ से जानेवाला है, क्योंकि इम्फाल पर बार-बार हवाई आक्रमण होने लगे थे। ये विमान जापानियों के थे। किन्तु उनमें भारतीय सेना अधिकारी भी विद्यमान होते थे। उनके मार्गदर्शन पर ही ये हवाई आक्रमण होते थे।

पलेल में स्वतन्त्रता सेना आगे की ओर बढ़ी। इम्फाल से केवल सात मील की दूरी पर तिरंगा झण्डा फहराने लगा था। इम्फाल-स्थित भारतीय तथा अंग्रेज सैनिकों ने उसको लहराते हुए देखा भी था। इम्फाल में अंग्रेजी सेना का बहुत बड़ा डेरा था। यहाँ पर अथाह युद्धसामग्री और सैनिक थे। इम्फाल को चारों ओर से घेरकर वहाँ की सेना को शरण में आने के लिए विवश करने का भारतीय एवं जापानी सैनिक परामर्शदाताओं का विचार था। इस बात के अनुसार पलेल-इम्फाल मार्ग पर आठ मील आगे बढ़कर, इम्फाल से सात मील की दूरी पर अपनी चौकियाँ स्थापित करके, ये दोनों सेनाएँ उत्तर दिशा की ओर मुड़ीं। इम्फाल के उत्तर में लगभग 77 मील की दूरी पर कोहिमा नगर स्थित है। कोहिमा से पश्चिम दिशा की ओर पैंतीस मील पर असम-बंगाल रेलवे का दीमापुर रेलवे स्टेशन है। कोहिमा से होकर इम्फाल से दीमापुर तक का यह मार्ग तारकोल से न बना होने पर भी पक्का है। दीमापुर की ओर जानेवाला यह मार्ग यदि खुला छोड़ दिया होता तो अंग्रेजी साम्राज्य की सेनाएँ कब की दीमापुर की ओर भाग गई होतीं, परन्तु अंग्रेजों की सेना को पीछे भागने का अवसर देकर फिर से उनसे ही

युद्ध तो करना ही पड़ेगा, इससे अच्छा तो यही होगा कि एक बार उन्हें घेरकर उन्हें शरण में आने के लिए विवश करके बन्दी बनाने पर उनके भारतीय सैनिक हमारी ओर से युद्ध करने के लिए उपयुक्त सिद्ध होंगे—कुछ इस प्रकार की बात स्वतन्त्रता सेना तथा जापानी अधिकारियों ने सोची थी।

इस बात से दूसरा लाभ यह होता कि इम्फाल में स्थित अन्न, युद्धसामग्री, इत्यादि उन्हें प्राप्त हो जाती। इस प्रकार के अनेक कारणों से अंग्रेजी साम्राज्य की सेना को भागने के लिए एक भी मार्ग न देकर, उन्हें चारों ओर से घेरा डालकर शरण में आने के लिए विवश करने की बात निश्चित की गई थी।

कोहिमा की दिशा की ओर चलना आरम्भ हो गया। बीच के 77 मील लम्बे अनेक पर्वत-शिखरों से तोपें बरसने लगीं, बन्दूकों की गोलियों की बौछार होने लगी। मई मास के अन्त की बात है—स्वतन्त्रता सैनिकों की एक टुकड़ी जिसमें सौ सैनिक थे, छिपते हुए जंगलों में से मार्ग बनाते हुए आगे के लिए चल पड़े थे। उनका विचार कोहिमा तक जाकर वहाँ की स्थिति भाँपने का था। इस प्रकार रातभर में वह पन्द्रह मील दूर तक निकल गई थी, परन्तु कहीं शत्रु की कोई चौकी दिखाई नहीं दी।

प्रातः 7 बजे के लगभग यह टुकड़ी कोहिमा के निकट पहुँच गई। एक छोटी-सी खाई के पास खड़े होकर ऊँची पहाड़ी पर से वे कोहिमा नगर का प्रात:काल का दृश्य निहार रहे थे। सब लोग उठकर अपने-अपने काम में जुटे हुए थे। शान्त वातावरण था। इस बात का तनिक भी किसी को भान नहीं था कि अपने शत्रु की टुकड़ी बिल्कुल उनके समीप आ पहुँची है, अन्यथा सब लोगों में सहसा हड़बड़ी मच जाती।

एक मैदान पर अंग्रेजों की सेना प्रात:कालीन व्यायाम कर रही थी। स्वतन्त्रता सेना के वीर अधिकारी का ध्यान उस ओर चला गया। उसने अपने सैनिकों से कहा, ''मित्रो! अब जब हम यहाँ तक आ ही गए हैं तो हमें कुछ अपनी वीरता का भी प्रदर्शन करना ही चाहिए। केवल यहाँ का विवरण लेकर जाने से तो यही अच्छा होगा कि शत्रु के कुछ सैनिकों को मारकर जाया जाए।''

उसके कहने पर एक-एक, दो-दो सैनिक उस जंगल में चारों ओर बिखर गए। सूर्य उनके पीछे की ओर से अभी-अभी ही उदित हुआ था। इस प्रकार छिपते-छिपते चलते हुए, कहीं-कहीं रेंगते हुए भी चलकर यह टुकड़ी अंग्रेजों की उस टुकड़ी से लगभग आठ सौ गज की दूरी पर स्थित एक पहाड़ी पर जा पहुँची। नायक की आज्ञानुसार सारे सैनिक पेड़ों पर चढ़ गए। सब सैनिकों में से केवल तीस सैनिक ही गोलियाँ चलाएँगे—ऐसी मुख्य अधिकारी की आज्ञा हुई।

जो सैनिक बन्दूकों से गोलियाँ नहीं चला रहे थे, उन सबको एक छोटा-सा खिलौना चलाने के लिए दिया गया था। युद्ध में जब बन्दूकों से सचमुच ही गोलियाँ दागी जाती हैं, तब बीच-बीच में कई सैनिक ऐसे खिलौनों को हाथ में लेकर घुमाते हैं। उस समय लगता है कि अनेक गोलियाँ और मशीनगनें चल रही हैं। शत्रु समझने लगता है कि भयानक गोलीबारी हो रही है, हम लोग कदाचित् बच नहीं पाएँगे, अतः उचित यही होगा कि हम यहाँ से पलायन कर जाएँ।

मलय के युद्ध में जापानियों ने पहली बार इस प्रक्रिया का परीक्षण किया था। उनसे ही स्वतन्त्रता सेना ने इसको सीखा था। अंग्रेज सैनिकों पर सहसा गोलियाँ बरसने लगीं। कोहिमा नगर में भगदड़ मच गई। स्वतन्त्रता सेना अचानक और इतनी समीप आ पहुँची है—इस बात की उन्हें भनक तक नहीं थी। स्वतन्त्रता सेना कितनी विशाल है, वे लोग कहाँ से गोलियाँ बरसा रहे हैं, इन सब बातों की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया।

एकदम से हड़बड़ी मच गई और हर कोई दीमापुर के मार्ग की ओर भागने लगा। वहाँ पर जिसको जो कुछ भी मिला—बैलगाड़ी, घोड़ा गाड़ी, मोटरकार, लारी, बस, टैक्सी आदि, उसी को लेकर वहाँ से लोग भागने लगे। जिसे कुछ नहीं मिला वह पैदल ही भाग लिया।

सैनिक भी अपनी-अपनी लारियों में बैठकर वहाँ से भाग गए। सारा गाँव लगभग खाली हो गया। बैंक और पोस्ट ऑफिस आदि सब-कुछ खुले ही छोड़ वे लोग वहाँ से पलायन कर गए थे। जब यह पता चल गया कि गाँव लगभग खाली हो गया है तो सेनानायक ने आधी टुकड़ी को गाँव में जाकर देखने के लिए भेज दिया। उस टुकड़ी ने वहाँ जाकर तबाही मचा दी। सारे महत्त्वपूर्ण कागज-पत्र, बैंक की सम्पत्ति, सोना-चाँदी, आभूषण जो कुछ मिला उसे लेकर शेष युद्धसामग्री को नष्ट करके वह टुकड़ी वापस आ गई। इसके बाद अनेक टुकड़ियाँ इस प्रकार से नित्य ही जाने लगी थीं।

अंग्रेजी सेना दिन-प्रतिदिन उनसे डरती जा रही थी। कुछ दिनों बाद वहाँ पर निर्णायक युद्ध हुआ और अंग्रेजों को कोहिमा खाली करना पड़ गया। कोहिमा नगर पर तिरंगा झण्डा फहरा दिया गया। कोहिमा पर अधिकार कर लेने के उपरान्त इम्फाल में स्थित अंग्रेज सेना के लिए दीमापुर जाने का मार्ग भी अवरुद्ध कर दिया गया।

दूसरी ओर इसी प्रकार से घूमकर जून मास के आरम्भ में विष्णुपुर पर भी भारतीय स्वतन्त्रता सेना का अधिकार हो गया। इस प्रकार इम्फाल में स्थित अंग्रेजों की सेनाओं को चारों ओर से घेर लिया गया था। कहीं सात, कहीं चार तो

कहीं तीन मील की दूरी पर स्वतन्त्रता सेना की चौकियाँ स्थापित कर दी गई थीं।

सन् 1857 के बाद उतना ही तीव्र एवं उतनी ही बड़ी मात्रा में अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय लोगों की यही पहली विजय थी।

इस स्वतन्त्रता युद्ध में जापानी अधिकारियों ने भारतीय स्वतन्त्रता सेना से विश्वासघातपूर्ण व्यवहार किया था। जापान के मन्त्रिमण्डल की ओर से नेताजी को एक प्रकार का आश्वासन मिलता था, परन्तु मलय, ब्रह्मदेश इत्यादि विभिन्न देशों में जापानी अधिकारियों द्वारा अलग ही प्रकार का—एक प्रकार से सर्वथा विपरीत, आचरण किया गया था।

या तो मन्त्रिमण्डल की ही ओर से उन्हें इस प्रकार का आचरण करने का निर्देश होगा अथवा भारत के विषय में जापानी सैनिक अधिकारियों में कुछ गलतफहमी हो गई थी। कुछ सैनिक अधिकारी द्वारा बार-बार इस प्रकार से अड़ंगा लगाने के उदाहरण सम्मुख आए थे।

भारतीय स्वतन्त्रता सरकार एवं जापानी सरकार के मध्य समझौता हुआ था कि भारतभूमि पर भारत की ही सरकार प्रमुख रूप से रहेगी तथा उस प्रदेश को तिरंगे झण्डे के अन्तर्गत ही समझा जाएगा। जापानी झण्डा केवल वहाँ पर फहराया जाएगा जहाँ पर अधिकतर जापानी सेना होगी। परन्तु इन आक्रमणों के मध्य में अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं कि जब कोई नया प्रदेश जीता जाता और वहाँ भारतीय स्वतन्त्रता सेना अपना झण्डा फहराती थी तो उसे जापानी अधिकारी उतार देते थे। वहाँ पर वे अपना झण्डा लहरा देते थे। जापानी मन्त्रिमण्डल ने भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध की अपनी जिम्मेदारी पहचानकर यदि अच्छा आचरण रखने के लिए सारी जापानी सेनाओं को बताया होता तो इस प्रकार की घटनाएँ कभी न होतीं। उन्होंने उसे वैसा कहा हो—ऐसा इन घटनाओं को देखते हुए दिखाई नहीं देता था।

परस्पर यह भी निश्चय हुआ था कि अंग्रेजों की ओर से लड़नेवाले, शरण में आनेवाले अथवा युद्धबन्दी के रूप में पकड़े गए भारतीय सैनिकों को स्वतन्त्रता सेना के आधीन कर दिया जाएगा, परन्तु जापानियों ने इस नियम का भी पालन नहीं किया। भारतीय सैनिकों को युद्धबन्दी बनाने पर उन्हें जापानी सैनिक पीटते थे और उनको बहुत तंग करते थे। जापानियों के उत्पीड़न से व्यथित होकर ये लोग अवसर मिलते ही अंग्रेजों की सेना में जाकर मिल जाते थे। तब उनके बुरे अनुभव के प्रभाव के कारण कई सैनिक स्वतन्त्रता सेना के कट्टर विरोधी बन गए थे, जबकि इसमें स्वतन्त्रता सेना का किंचित् भी दोष नहीं था। स्वतन्त्रता सेना संख्या और शक्ति में जापानी सेना से बहुत कम थी। परिणामस्वरूप उसको दबकर रहना पड़ता था। क्रोध से काम लेने पर सारा बना-बनाया खेल बिगड़

जाने का भय था। उससे नेताजी के किये-कराए काम पर पानी फिर जाने की सम्भावना थी। ऐसे समय में मन को स्थिर रखकर शान्ति से काम चलाना ही उचित होता था।

भारत के एक गाँव में जापानी और भारतीय सैनिक दोनों ही पहुँचे। उस समय अन्न की कमी हो रही थी, अतः जापानी सैनिकों ने सब लोगों की गउएँ, बछड़े, बकरियाँ आदि एकत्रित किये और जैसे ही वे उनकी हत्या करनेवाले थे, यह सूचना स्वतन्त्रता सेना के एक अधिकारी के पास पहुँच गई। उसने जापानी अधिकारी को ऐसा करने से रोकने का बड़ा यत्न किया। भारत में ऐसा करने से बहुत बुरे परिणामों का सामना करना पड़ेगा, इस बात को वे जानते नहीं थे। भारत में सूअर, मुर्गियाँ, बत्तख आदि पशुओं को पालने की प्रथा नहीं थी। परिणामस्वरूप गाएँ, बकरियाँ और भेड़ें आदि ही अधिकतर दिखाई देती थीं। उनकी हत्या करना भारतीय खराब बात समझते थे। किन्तु जापानी सैनिकों को इसे समझना सहज नहीं था। उस दिन बड़ी कठिनाई से उन पशुओं को वापस किया गया, किन्तु कुछ शरारती सैनिकों ने उनमें से कुछ को फिर भी चुरा लिया और इसके बाद भी गाँववालों के साथ और जबरदस्ती भी करने लगे थे जिससे उनके प्रति गाँववाले क्रुद्ध हो गए थे।

भारत में प्रविष्ट होते ही भारतीय स्वतन्त्रता सेना ही वास्तव में यहाँ की अधिकारी है। हम तो केवल मित्र के रूप में उनकी सहायता करने के लिए आए हैं, तथा हमें उनके परामर्शानुसार ही चलना चाहिए—यदि जापानी सेना इस प्रकार का व्यवहार करती तो सब-कुछ ठीकठाक चलता रहता। परन्तु जापानियों के मन में भी ऐसी भावना रही ही नहीं।

सन् 1944 के जून मास के आरम्भ में इम्फाल शहर को चारों ओर से घेर लेने के बाद वहाँ स्थित अंग्रेजी सेनाओं को राशन मिलना बन्द हो गया, परन्तु यहाँ पर जापानी सैनिकों को मिलनेवाला राशन भी बन्द हो गया था। इम्फाल को घेरनेवाली सेना के पास बारूद भी समाप्त हो गया था। पीछे से कोई सामग्री आ नहीं रही थी। अंग्रेजों एवं अमेरिकनों के गोदाम भरे पड़े हैं, अतः हमें इस मोर्चे पर सब सामग्री ले-जाने की आवश्यकता नहीं है; शत्रु को जीतकर उसकी सामग्री पर अपना काम चलाना जितना आवश्यक सामान हो उतना रखकर बाकी का बचा हुआ सामान अपने देश को वापस भेज देना—ऐसा जापानी अधिकारी सोचते थे।

अब पेसिफिक महासागर में भी अमेरिकी हमलों का जोर बढ़ने लगा था। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में अपने हर नागरिक को बहुत ही कंजूसी से रहने के लिए समझाकर जापानी सरकार ने उनसे अधिक-से-अधिक काम कम-से-कम

वेतन देकर करवा लिया था जिससे विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन से देश की सम्पत्ति को बहुत ही बढ़ा लिया था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उन वस्तुओं को दूसरे देशों को देकर उनके बदले में जापान ने लोहा, रबड़, टीन इत्यादि युद्धोपयोगी सामग्री क्रय कर ली थी। इस कच्चे माल से उन्होंने तोपें, हवाई जहाज, मोटर-कारें इत्यादि युद्धसामग्री तैयार कर ली थी।

विशाल प्रदेशों में आक्रमण के कारण दो-तीन वर्षों में ही उनकी यह युद्ध-सामग्री समाप्त होने लगी थी, विशेषतया हवाई जहाज, मोटरकारें, तोपें, जहाज, पेट्रोल, टायर आदि वस्तुओं की बहुत ही कमी अनुभव की जाने लगी थी। इन सबके उत्पादन के लिए उनके पास अब न कच्चा माल बचा था और न सामग्री की तकनीक जाननेवाले लोग ही बचे थे। इसके साथ ही जापान पर हवाई आक्रमण होने के कारण जो भी कारखाने थे, उनके भी नष्ट होने का भय बना रहता था। इसके विपरीत अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, चीन, भारत जैसे विशाल प्रदेशों में किसी भी बात की कमी नहीं थी। काम करने के लिए श्रमिक थे तथा सामग्री तैयार करने के लिए कच्चा माल भी था।

पैसिफिक महासागर की घटनाओं की ओर जापानियों का अधिक ध्यान था, क्योंकि उस दिशा की ओर से अमेरिका धीरे-धीरे जापान की ओर बढ़ रहा था। युद्धसामग्री एवं सैनिकों की तो कमी हो ही गई थी तथा अमेरिका धीरे-धीरे अपना एक-एक पग जापान की ओर बढ़ा ही रहा था। ऐसे समय में भारत और ब्रह्मदेश की सीमा की ओर कम ध्यान देकर, अपने बचाव की ओर अधिक ध्यान दिया जाए—ऐसा जापान के युद्ध-मण्डल ने निश्चय किया। उन्होंने भारतवर्ष में मोर्चों पर गई भारतीय तथा जापानी सेनाओं को सामग्री भेजना बन्द कर दिया। परिणामस्वरूप इन दोनों के पास का अनाज समाप्त होने के कारण वे भूखों तो मरने ही लगे थे, साथ ही बारूद इत्यादि के अभाव में वे निर्णायक युद्ध भी नहीं कर सकते थे। स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई थी कि यदि पीछे हटते हैं तो शत्रु उनका पीछा करके उन्हें समाप्त कर देता है, मानो मुख तक पहुँचा हुआ निवाला किसी ने छीन लिया हो। जीत के कगार पर जब खड़े हों तब दुर्भाग्य से मानो किसी ने गहरी खाई में डाल दिया हो।

बारूद के बिना तोपें और गोलियों के बिना बन्दूकें निरर्थक थीं। स्वतन्त्रता सैनिकों को पहले केवल चावल और दाल प्राप्त होती थी; अब तो उतना भी खाना मिलना बन्द हो गया था। ऐसे समय में इम्फाल पर अधिकार करने का एक उपाय भारतीय अधिकारियों ने जापानी अधिकारियों को सुझाया था। इम्फाल शहर के चारों ओर जो घेरा डाल रखा था उसमें से अंग्रेजी सेना के पीछे हटने के लिए

एक-दो मार्ग छोड़ देने चाहिएँ, जिससे कि वे स्वयं ही वहाँ से पलायन कर जाएँगे। परन्तु जापानी युद्धविशेषज्ञों को यह सुझाव भाया नहीं। उनका हठ था, 'यदि इम्फाल को हम जीतेंगे तो सारी सेना एवं युद्धसामग्री के साथ ही जीतेंगे।'

भारतीयों ने ज्यों ही कोहिमा पर अधिकार किया था, वैसे ही नेताजी ने भारतीय स्वतन्त्रता संघ एवं सेना के मुख्य कार्यालयों को मेमियों से हटाकर वहाँ स्थापित किया था। जब स्वतन्त्रता युद्ध आरम्भ हुआ तब युद्ध की सीमा के जितना सम्भव हो उतना पास रहा जाय—ऐसा सोचकर संघ एवं सेना के कार्यालय मेमियों लाए गए थे। जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी भारत के भीतर अपनी प्रिय मातृभूमि पर इन कार्यालयों को स्थापित किया जाय—यह नेताजी की बहुत पहले से ही इच्छा थी।

1944 के मई और जून इन दो महीनों में उन्होंने सीमा-प्रदेशों का दौरा किया था। विभिन्न टुकड़ियों एवं सैनिकों को उनके काम के लिए सराहा था। विभिन्न पदकों, पुरस्कारों एवं पदवियों से उन्हें सम्मानित किया था। जून मास में कोहिमा भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का मुख्य स्थान बन गया था।

स्वतन्त्रता-युद्ध में वीरता दिखानेवालों को प्रोत्साहन के रूप में शहीदे-भारत, शेरे-हिन्द, सरदारे-जंग, वीरे-हिन्द, तमगाए-बहादुरी—इस प्रकार से हर किसी को वीरता के अनुपात से पदक देना तय किया गया था।

इसमें दो प्रकार के दोष थे। एक तो ब्रिटिश सैनिक कागज-पत्रों में जो इस प्रकार के पदकों की भाषा अथवा शब्द थे, उन्हीं को इन पदकों में भी दोहराया गया था। यह काम जिनको सौंपा गया था उन्होंने अपना अलग से कोई अस्तित्व न रखते हुए, जिनके विरुद्ध लड़ रहे थे, उन्हीं की परम्परा को आगे चालू रखा था।

इनमें दूसरा दोष यह था कि ये पदक भारतीय शैली के न होकर ईरानी अथवा अरबी शैली में थे। भारतीय लोग ऐसी शब्दावली से न तो परिचित थे और न ही ईरानी अथवा अरबी शैली को पसन्द ही करते थे। वे चाहते थे कि इनकी भाषा भारतीय होनी चाहिए।

स्वतन्त्रता-युद्ध में विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य करने तथा वीरता से युद्ध करने के लिए लगभग दो सौ सैनिकों को विभिन्न प्रकार के पदक प्रदान किए गए थे। लेफ्टिनेन्ट कर्नल मिश्रा जैसे वीर अधिकारी को आराकान सीमा पर वीरोचित काम करने के कारण इस प्रकार के प्रथम पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। उनके इस काम की सराहना करके नेताजी ने स्वयं, उनके सम्मान के लिए आयोजित एक बड़े समारोह में उनके वक्षस्थल पर यह पदक लगाया था।

इस कार्यवाही के समय भारत का डेढ़ लाख चौरस मील क्षेत्रफल का भाग भारतीय स्वतन्त्रता सरकार के अधिकार में केवल चार-पाँच मास के अन्दर आ गया था। इसके साथ-साथ अण्डमान-निकोबार द्वीप तथा ब्रह्मदेश के पिनमिना स्टेशन के पास का शियावदी गाँव का पचास चौरस मील का प्रदेश भी अब भारतीय स्वतन्त्रता सरकार के अधीन था। भारतवर्ष के पिछले सवा सौ वर्ष के इतिहास में यह कितना बड़ा काम था! ब्रह्मदेश के शियावदी ग्राम के पचास मील की चौरस भूमि पर गन्ने के खेत तथा चीनी के कारखाने हैं। इम्फाल भी आज परास्त हुआ कि कल परास्त हुआ, ऐसी स्थिति में था। सुदूरपूर्व की भारतीय स्वतन्त्रता संघ की सब शाखाओं को इम्फाल-विजय की प्रसन्नता मनाने के उत्सव की तैयारी करने के लिए सरकार की ओर से आदेश पहुँच चुके थे। जहाँ-तहाँ इस विजय-महोत्सव की तैयारियाँ आरम्भ कर दी गई थीं। इम्फाल पर अधिकार होने का समाचार आज आएगा, कल आएगा, इस प्रकार की उत्सुकता जताई जा रही थी।

अंग्रेजों की ओर से इम्फाल में चारों ओर से घिरी अंग्रेज़ों की सेनाओं को हवाई जहाजों के माध्यम से किसी प्रकार थोड़ा-बहुत राशन-पानी उपलब्ध हो रहा था। इम्फाल में अंग्रेजी सेना के वरिष्ठ अधिकारी ने दिल्ली में वायरलेस सन्देश भेजा, "भूखों मरने की नौबत आ गई है''''अब शरण में जाना पड़ेगा'''' आपकी क्या आज्ञा है?" इस संवाद का उत्तर भी सकारात्मक ही आया था। किसी भी प्रकार की सहायता की सम्भावना नहीं थी। घिरी हुई सेना की स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। समाचार मिलना भी कठिन हो गया था। घिरी हुई सेना के वरिष्ठ अधिकारी ने शरणागति स्वीकार करने की सब तैयारी आरम्भ कर दी थी। एक या दो दिन बाद ही हमें पराजय स्वीकार करनी पड़ जाएगी— अप्रत्यक्ष रूप से सब सैनिकों को इस प्रकार बता भी दिया गया था। यही इस द्वितीय स्वातन्त्र्य युद्ध का अत्युत्कर्ष-बिन्दु सिद्ध हुआ। इसके बाद तो सारी बाजी ही उलट गई। हर समय एक-एक पग पीछे हटना पड़ा था और होंठों तक पहुँचा हुआ यह विजयरूपी अमृत का प्याला दुर्भाग्य ने सहसा खींचकर दूर फेंक दिया गया था।

स्वतन्त्रता सेना जब पहली बार भारत में प्रविष्ट हुई थी तथा कालान्तर में अनेक स्थानों पर उसकी विजय भी होने लगी थी, तब स्वतन्त्र भारत को किस प्रकार के विभागों में विभक्त किया जाए तथा स्वतन्त्र भारत का राज्य-शासन किस प्रकार से चलाया जाय—इस विषय में मैंने एक योजना बनाकर राष्ट्रपति नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को सौंपी थी। कुछ दिनों के बाद ही उनके ए०डी०सी०

कैप्टन रावत मुझसे आकर मिले और उन्होंने कहा, "आपकी योजना पूर्णरूपेण स्वीकार कर ली गई है और उसे विजित प्रदेश के राज्यपाल ले०क० चटर्जी के पास भेज दिया गया है।"

इम्फाल आज नहीं तो कल, कभी भी हमारे अधिकार में आ सकता है, ऐसा कहते-कहते कई दिन बीत गए। परन्तु इम्फाल में अंग्रेजों ने पराजय स्वीकार नहीं की। स्थिति कहाँ पर अटक गई है इसे ज्ञात करना बड़ा कठिन हो गया था। वास्तविक स्थिति अब ऐसी हो गई थी कि घोड़ों के खाने का चारा तो दूर ही रहा, सैनिकों को अनाज के लाले पड़ने लगे थे।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना के संख्या में कम होने से आपूर्ति की व्यवस्था स्वयं ही कर लेना सर्वथा असम्भव था। जापानी आपूर्ति विभाग ही दोनों सेनाओं की युद्धसामग्री तथा खाद्यान्न की व्यवस्था करता था। यह व्यवस्था घातक सिद्ध हुई। सीमा पर युद्ध न करनेवाली एवं आपूर्ति आदि अन्य प्रकार का कार्य करनेवाली सेना को जापानी वरिष्ठ कार्यालय से एक सन्देश प्राप्त हुआ, "आपको जो भी काम सौंपा गया हो तथा आप जहाँ भी हों, जितनी शीघ्रता से सम्भव हो उतनी शीघ्र सैनिकों के साथ मोटरकार, हवाई जहाज, युद्धसामग्री आदि सब-कुछ लेकर सैगाँव वापस आ जाएँ।" अनेक पैसिफिक द्वीपों पर अमेरिका का आक्रमण रोकने के लिए यहाँ की सारी सामग्री वहाँ भेजी जानी थी।

सारे विमान भेज दिए गए। बारूद तो पहले से ही समाप्त था। राह तकते-तकते अट्ठाइस दिन बीत गए थे परन्तु पिछले डेरे से खाद्यान्न की व्यवस्था हो नहीं पाई थी। यदि दो दिन और तोपों से गोले बरसाए गए होते तथा वायुयान से आक्रमण करने के लिए कुछ विमान उपलब्ध हुए होते, तब इम्फाल पर अधिकार कर लिया गया होता। यहाँ पर यह सब हो जाने पर भी स्वतन्त्रता सैनिकों की सहनशीलता की भी हद हो गई थी। निर्णायक आक्रमण करने के लिए बन्दूकों में गोलियाँ नहीं थीं, बारूद की कमी के कारण उसकी राह में निश्चयपूर्वक घेरा डालकर बैठने पर उनके पेट को कई दिनों तक अन्न प्राप्त नहीं हुआ था।

हर टुकड़ी के कुछ सैनिकों को भोजन खोजने के लिए इधर-उधर भेजा जाने लगा था। उस जंगल में कन्दमूल भी नहीं मिल रहे थे। कुछ वृक्षों की पत्तियों को खाकर जीवित रहने का नया प्रयोग करने का समय भी नहीं था तथा वैसी स्थिति भी नहीं थी। सबके शरीर भूख, हिमज्वर और अन्यान्य रोगों के कारण इतने दुर्बल हो गए थे कि यदि नये प्रयोग करने पर कुछ गलत पत्तियाँ आदि खाई गईं तो शरीर की प्रतिकार-क्षमता तथा औषधियों के अभाव के कारण विभिन्न रोगों के प्रसार से सब सैनिकों की जान ही खतरे में पड़ जाती।

केले के पेड़ों के तने के अन्दर का भाग, बाँस के पेड़ों के कोमल पत्ते, तथा घास को ही पकाकर सैनिकों ने खाना आरम्भ कर दिया था। उसमें डालने को नमक-मिर्च भी नहीं था! जापानी सैनिकों की भी ऐसी ही स्थिति हो गई थी। उस स्थान पर भारी सामान को लाने-लेजाने के लिए अन्य वाहनों के अभाव के कारण हाथियों से खींची जानेवाली छोटी गाड़ियाँ सैनिकों के प्रयोग के लिए प्राप्त की गईं। भूख से व्याकुल होकर कुछ जापानियों ने इन हाथियों को मारकर उनका मांस भक्षण किया। परन्तु उस मांस को न पचा पाने के कारण पेट खराब होने से उन लोगों की मृत्यु हो गई।

स्वतन्त्रता सेना में भूख के कारण जून मास की 27 तारीख को चार गढ़वाली सैनिक अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। उसके बाद तो नित्य ही भूख से मरने की दुर्घटनाएँ होनी लगीं। इतना होने पर भी कोई भी सैनिक पीछे हटने के लिए तैयार नहीं था। जब इतने प्रदेश को जीत ही लिया है तो अब उसे हम व्यर्थ में नहीं गँवाएँगे—ऐसा निश्चय प्रत्येक सैनिक ने कर लिया था। यदि प्राण न्यौछावर करने ही हैं तो यहीं भारतभूमि पर ही क्यों न न्यौछावर किए जाएँ! जब तक तन में प्राण हैं तब तक, फिर से अन्न प्राप्त हो जाएगा तथा फिर से कार्यक्षम होने पर यहीं से अगला हमला बोल देंगे, अन्यथा 'जय हिन्द', 'जय नेताजी' के नारे लगाते हुए यहीं पर अपने प्राणों को अर्पण कर देंगे। ऐसा ही सारे सैनिक कह रहे थे।

बरसात आरम्भ हो चुकी थी। नदी-नाले सब भर गए थे। खाइयाँ इत्यादि पानी से भर गई थीं। सीलन, वर्षा, दुर्बलता, औषधियों का अभाव, अन्न की कमी, हिमज्वर, हैजा, पेचिश, तपेदिक, खून के उल्टी-दस्त इत्यादि रोग बढ़ गए थे। सैनिक फट-फट मर रहे थे। मरते समय भी सबके मुखों पर कर्त्तव्यपूर्ति का सन्तोष स्पष्ट झलकता दिखाई देता था।

वैसी विकट घड़ी में भी स्वतन्त्रता सरकार के विरुद्ध किसी भी सैनिक के मुख पर भाव नहीं आए थे। जापानियों की दृष्टि से ऐसी स्थिति उत्पन्न होना कोई बड़ी बात नहीं थी। 'अपने देश की रक्षा के लिए लड़ते हुए युद्ध के मैदान पर मृत्यु का वरण करना बहुत वीरता की बात थी। हमारे सैनिक युद्ध करते हुए नहीं अपितु भूख के कारण मर रहे हैं, यह बात तो वरिष्ठ अधिकारियों के सोचने की है। सैनिक उस विषय में नहीं सोचता। वीरता से स्थिति का सामना करना ही अपना कर्त्तव्य है।' ऐसी ही सब सैनिकों के मन की भावना थी। जापानी युद्धतन्त्र के हिसाब से यह बात उचित ही थी।

भारतीय सैनिकों की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। उनका लक्ष्य अपने

देश की स्वतन्त्रता था। उस लक्ष्य तक पहुँचने का अब कहीं थोड़ा आरम्भ हुआ था तो जापानी लोगों के आपूर्ति विभाग ने खाद्यान्न भेजना बन्द कर दिया, परिणामस्वरूप सैनिकों के मरने की नौबत आ गई।

उस समय जापानी सरकार के भीतर क्या चल रहा था, उनका भावी कार्यक्रम क्या है, जापानी युद्धविभाग की ओर से जापानी सैनिकों के लिए कब क्या आदेश आएगा तथा कब वह अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर चल पड़ेंगे, यह बात किसी को भी विदित नहीं थी और न ही इसे विदित कर पाने का कोई साधन था। उनकी सारी व्यवस्था बड़ी गुप्त रहती थी। युद्ध के रंग-ढंग बदलते देखकर जाने कब उनकी युद्ध-नीति क्या पलटा खाए! ब्रह्मदेश की सीमा पर चल रहे युद्ध की उन्हें कोई परवाह नहीं थी। इसके विपरीत भारतीय स्वतन्त्रता सेना की वह एक ही युद्ध की सीमा थी।

अन्त में यह सब वैसे ही छोड़कर जापानी सेनाओं ने पीछे हटना आरम्भ कर दिया। ऐसे संकट के समय कोहिमा ले-जाए गए भारतीय स्वतन्त्रता सरकार के, स्वतन्त्रता संघ के तथा सेना के कार्यालय फिर से वापस मेमियों के मार्ग से रंगून में लाए गए।

जापानियों ने अपनी सेनाएँ वापस ले-जाना आरम्भ कर दिया था। परन्तु भारतीय स्वतन्त्रता सेना के अधिकारियों को उन्होंने कुछ भी साफ-साफ नहीं बताया। किन्हीं-किन्हीं भारतीय टुकड़ियों को तो उन्होंने आगे बढ़ने के लिए भी कहा था। आगे जा तो सकते थे किन्तु किसके बल पर? इस बात का उन्होंने जरा भी विचार नहीं किया। ऐसा स्पष्ट दिखाई देने लगा था कि भूख से व्याकुल अनेक लोग मरणशैय्या पर पहुँचेंगे। इस समय नेताजी ने भारतीय स्वतन्त्रता सेना को पीछे हटने की आज्ञा दी।

''नेताजी तो ऐसी आज्ञा कभी नहीं देंगे।'' ऐसा कहते हुए स्वतन्त्रता सैनिक पीछे हटने से मना करते थे। अन्त में नेताजी को स्वयं सबको अपना आदेश लिखित रूप में देना पड़ा। उसे देखकर बड़ी खिन्नता से भारतीय सैनिकों ने पीछे हटना स्वीकार किया।

1944 के जुलाई मास के अन्त में स्वतन्त्रता सेना ने पीछे हटना आरम्भ किया था। उनका पीछा करने के लिए अंग्रेजी सेनाएँ आई ही नहीं, क्योंकि वे स्वयं ही शरण में आने की तैयारी से चुपचाप बैठी थीं। बरसात के मौसम में टैंटों से बाहर निकलना उन्हें किसी ने सिखाया ही नहीं था।

अंग्रेजों की ओर से लड़नेवाले भारतीय सैनिक स्वतन्त्रता सेना के सैनिकों से युद्ध की सीमावर्ती पहाड़ियों पर अथवा नदी के तट पर अक्सर मिलते थे।

कभी-कभी तो दोनों ओर के सैनिक एक ही झरने पर पानी भरने के लिए भी आते थे। वहाँ पर वे खुलकर आपस में बातचीत करते थे। ऐसे समय में अनेक सैनिक तो आकर अपने-आप ही स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित हो जाते थे। अंग्रेजों की हर टुकड़ी में सिख, हिन्दू, मुसलमान, तमिल, पंजाबी इस प्रकार के विभिन्न सम्प्रदायों एवं प्रान्तों को मिला-जुलाकर रखा गया था।

पीछे हटने के दौरान स्वतन्त्रता सेना की बहुत बड़ी हानि हुई। कई अनेक रोगों से ग्रस्त होकर तो कुछ भूख से पीड़ित होकर मृत्यु के ग्रास बने। किसी-किसी को तो जंगली जानवर ने ही खा लिया था। कैप्टन गौड़ जैसे कुछ सैनिक नदी-नाले पार करते हुए ही बह गए थे।

अगस्त मास की 21 तारीख को नेताजी ने एक विशेष आदेशपत्र जारी करके इस आक्रमण को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया। अपने आदेश में उन्होंने कहा था, ''मेरे वीर सैनिको! फरवरी मास की 4 तारीख से भारत पर आक्रमण आरम्भ करने के बाद आप लोग एक के बाद एक जीत प्राप्त करते हुए इम्फाल नगर तक पहुँच गए थे। उसके बाद खाद्य-सामग्री एवं युद्ध-सामग्री जैसी आवश्यक वस्तुओं के अभाव में उस वन्य प्रदेश में और अधिक समय तक रह पाना ठीक नहीं था। इम्फाल पर तो बरसात की समाप्ति के बाद हम आक्रमण करेंगे ही, परन्तु तब तक पीछे आकर अपनी सेना को और सुदृढ़ करना यह सारी युद्धनीति की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण है। अतः आप लोग किंचित् भी निराश न हों।''

अध्याय तेईस

विजय-कालीन अन्य कार्य

सन् 1944 के पूर्वार्द्ध में जब भारतीय स्वतन्त्रता सेना विजय पर विजय प्राप्त करती जा रही थी, उस समय सीमा के पीछे क्या-क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे थे, उस विषय में कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। ले०क० लोकनाथन को नेताजी ने अण्डमान-निकोबार द्वीप का शासन सँभालने के लिए चुना था। श्री लोकनाथन प्रौढ़ावस्था के अनुभवी और विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने ऐलोपैथी में अनेक उपाधियाँ प्राप्त की थीं। जब वे सेना के डॉक्टर के रूप में सिंगापुर पहुँचे थे तब उन्हें जापानियों ने बन्दी बना लिया था। बाद में वे स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित हो गए थे।

डॉ० लोकनाथन इण्डियन मेडिकल सर्विसेज के तत्कालीन अंग्रेज सरकार के चिकित्सा-विभाग के प्रमुख अधिकारी थे। इसी विभाग में ले०क० तक के ऊँचे पद तक पहुँचे थे। उनका स्वास्थ्य अच्छा न होते हुए भी अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह पर शासन के दायित्व का कार्य उन्होंने प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया था। उनके उदर में एक व्रण हो गया था, वही उनका मुख्य रोग था।

अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूहों को नेताजी ने क्रमशः 'शहीद द्वीप' तथा 'स्वराज द्वीप' नाम दे दिए थे। फरवरी 1944 के द्वितीय सप्ताह में श्री लोकनाथन अपने पाँच अन्य सहयोगियों के साथ वायुयान से पोर्ट ब्लेयर पहुँचे। सिंगापुर में उन्हें विदाई-भोज दिया गया था। उसी प्रकार अण्डमान द्वीप पर भी उनका भव्य स्वागत किया गया था। वहाँ के ब्रिटिश कमिश्नर का बँगला तथा उसके आसपास के अन्य बँगले इन पाँचों अधिकारियों और लोकनाथन को निवास के लिए दिए गए। जहाँ पहले यूनियन जैक लहराता था, उसके स्थान पर तिरंगा लहराने लगा था।

17 फरवरी सन् 1944 के दिन एक बड़े समारोह में जापानी नौ-सेना के अधिकारियों ने अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह को भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को

सौंपा था। उस दिन से स्वतन्त्रता सरकार की ओर से ले०क० लोकनाथन उस प्रदेश की शासन-व्यवस्था देखने लगे थे। भारतीय स्वतन्त्रता सेना क्योंकि कम थी तथा उनकी अपनी नौ-सेना और वायुसेना न होने के कारण उस प्रदेश की रक्षा का दायित्व जापानियों के पास ही था। नागरिकों की रक्षा और शिक्षा-विभाग स्वतन्त्रता सरकार को सौंप दिए गए थे।

अन्य स्थानों की ही भाँति अण्डमान द्वीप पर भी जापानी लोगों ने भारतीयों को बहुत सताया था। वहाँ पर जापानियों और भारतीयों के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश का कोई व्यक्ति नहीं था। एक अंग्रेज अधिकारी के अतिरिक्त वहाँ पर अन्य कोई अंग्रेज भी नहीं था। जब उन्हें विदित हुआ कि सिंगापुर पर जापानियों ने अधिकार कर लिया है, तब सारे ही अंग्रेज लोग वहाँ से भाग गए थे। यहाँ पर स्थित जापानी अधिकारी अन्य स्थानों पर स्थित जापानी अधिकारियों की अपेक्षा अधिक शंकालु प्रकृति के थे।

उनकी धारणा बन गई थी कि अण्डमान के भारतीय नागरिक अंग्रेजों के जासूस हैं। इस धारणा के आधार पर उन्होंने उनको बन्दी बनाकर उनको सताना आरम्भ कर दिया। यहाँ तक कि अनेक लोगों को तो इस अपराध में प्राणदण्ड तक दे डाला था। कोई भी व्यक्ति जिसकी परस्पर किसी प्रकार की शत्रुता होती थी, जब जापानी अधिकारियों के पास जाकर उसकी चुगली कर देता था तो जापानी लोग उसे जासूसी के अपराध में फाँसी पर लटका देते थे। इस प्रकार अण्डमान में जासूसी के अपराध में कितने ही लोग मारे गए थे। वे सब निरपराध थे। स्त्रियों और बालकों पर भी इन अत्याचारों का प्रकोप चला था।

परिणामस्वरूप अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह के वासी जापानियों से रुष्ट रहने लगे थे। वे रात-दिन यही कामना करते थे कि इस विश्वयुद्ध में जापान की पराजय हो जाय। उनके मुख से सहसा निकल जाता था कि इससे तो अंग्रेज ही अच्छे थे। अंग्रेजों के जासूस न होते हुए भी विवश होकर उनको अंग्रेजों का जासूस बनना पड़ गया था।

ले०क० लोकनाथन एवं उनके सहकारी जब उन द्वीपों पर पहुँचे तो वहाँ के वासियों ने इस प्रकार की अनेक करुण गाथाएँ उन लोगों को सुनाईं। वे स्वयं भी इस बात को अनुभव कर रहे थे। कुछ के प्रत्यक्ष प्रमाण अभी-अभी अवशिष्ट थे। इन सब बातों की सूचना नेताजी को देने का कोई साधन नहीं था। यातायात-व्यवस्था थी नहीं, बेतार के तारों से यह सूचना न तो दी जा सकती थी और न ही इसके लिए उनका उपयोग ही किया जा सकता था, क्योंकि यह सब-कुछ जापानियों के ही नियन्त्रण में था।

लोकनाथन आदि ने अण्डमान पहुँचकर जहाँ एक ओर जापानी अधिकारियों को समझाया कि उनका सन्देह निर्मूल है, ये भारतीय नागरिक शुद्ध मन से अंग्रेजों के विरुद्ध हैं, उनके जासूस नहीं हैं, दूसरी ओर वे भारतीयों को भी समझाते कि भ्रान्ति के कारण उनपर सन्देह किया गया है, जो भविष्य में कभी नहीं किया जाएगा। इस प्रकार उनके कुछ कष्ट और यातनाएँ कम हुई थीं। तदपि यह पूर्णतया समाप्त नहीं हो पाया था, क्योंकि जापानी कहा करते थे कि इस प्रदेश की रक्षा का भार तो हम पर ही है, अत: हमें जो उचित प्रतीत होगा वह हम अवश्य करेंगे। उनके इस बहाने के सम्मुख कोई दलील चल पाना सम्भव नहीं था।

ले०क० लोकनाथन सात-आठ मास तक वहाँ की व्यवस्था देखते रहे थे, किन्तु स्वास्थ्य अत्यन्त खराब हो जाने के कारण उन्हें सिंगापुर वापस जाना पड़ा। उनके साथ जो लोग अण्डमान गए थे वे युद्ध के अन्त तक वहीं रहे थे।

सिंगापुर आने पर ले०क० लोकनाथन ने अण्डमान की सारी स्थिति और वहाँ की व्यवस्था के विषय में एक विस्तृत विवरण तैयार किया और नेताजी के सम्मुख उसे प्रस्तुत किया। जापानियों के अत्याचारों का भी उसमें यथावत् उल्लेख किया गया था।

जापानियों ने एक विचित्र परम्परा अपना ली थी। 1 जनवरी को उन्होंने 'वर्ष का प्रथम दिन' अथवा कहें कि 'वर्षगाँठ' के रूप में मनाना स्वीकार कर लिया था। वर्षगाँठ के अवसर पर विगत का लेखा-जोखा तथा आगत का कार्यक्रम तय करना उनका नियम बन गया था।

1 जनवरी 1944 के दिन, वर्ष-दिन के उपलक्ष्य में 'हिकारी किकान' के सिंगापुर-स्थित कार्यालय में मध्याह्न तीन बजे एक अल्पाहार का कार्यक्रम आयोजित किया गया था। कर्नल भोंसले, मैं, स्वतन्त्रता सेना के एक-दो अन्य अधिकारी, तीन-चार जापानी अधिकारी तथा दो जर्मन अधिकारी आदि उस समय उपस्थित थे। इस अवसर पर स्वतन्त्रता सेना के कुछ मराठा सैनिकों ने 'मल्लखाम्भ' आदि कुछ करतब दिखाए थे, जिन्हें दर्शकों ने बहुत पसन्द किया था।

सिंगापुर में स्थित जर्मनी के जहाजी बेड़े के प्रतिनिधि 'कपितान यरहार्ट' तथा उनके सहायक 'डॉक्टर पिप्पान' जहाँ पर बैठे थे, उनके ठीक सामने कर्नल भोंसले तथा एक अन्य भारतीय अधिकारी बैठे हुए थे। चावलों से बनाई गई 'साके' नामक जापानी मदिरा के साथ-साथ अनेकानेक जापानी स्वादिष्ट व्यंजन परोसे गए थे और सब उनका आनन्द ले रहे थे। व्यंजनों की अपेक्षा मदिरा अधिक

परोसी जाने के कारण लगभग सभी पर मदिरा का कुछ अधिक ही प्रभाव हो गया था। जापानियों की यह विशेषता है कि ऐसे अवसरों पर वे किसी भी प्रकार की राजनैतिक चर्चा नहीं करते हैं, और यदि किसी प्रकार इस पर चर्चा आरम्भ हो भी जाय तो वे उसे टाल देते हैं।

अल्पाहार करते हुए चर्चा चल पड़ी कि संसार के किस देश में कौन-सा व्यक्ति सबसे बहादुर है, अथवा उस देश में प्रथम श्रेणी का सैनिक कौन है। कप्तान यारहार्ट ने कहा, ''यदि आप जर्मनी के विषय में पूछें तो हिटलर को ही इस विषय में सर्वोत्तम कहा जाएगा।''

उसके बाद उसने अपने बराबर में बैठे भारतीय लेफ्टिनेन्ट कर्नल से पूछा, ''बताइए, आपकी स्वतन्त्रता सेना में प्रथम श्रेंणी का सैनिक कौन है?''

उसने कहा, ''अभी हम यह बताने में असमर्थ हैं, क्योंकि अभी तक इस प्रकार का कोई उदाहरण सम्मुख आया नहीं है।''

कपितान यारहार्ट ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, ''क्या इसका अभिप्राय यह हुआ कि आपके नेताजी सुभाषचन्द्र बोस प्रथम श्रेणी के सैनिक नहीं हैं? क्या आप यही सिद्ध करना चाह रहे हैं?''

भारतीय ले०क० बोला, ''वे सैनिक कहाँ हैं? वे तो सिविलियन हैं।''

इसी के बाद उन दोनों में इस विषय पर अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर होते रहे। उस वार्ता में उस जर्मन अधिकारी के मुख से बार-बार यह निकल रहा था, ''नहीं''''नहीं''''। ऐसा कैसे हो सकता है''''नेताजी ही इस समय सबसे बड़े भारतीय सैनिक हैं।''

वास्तव में जिस बात को भारतीय ले०क० कर्नल को स्वयं बड़े गर्व से कहना चाहिए था, वह उसने नहीं कहा और अब उसे ही वह जर्मन अधिकारी बड़े आत्मविश्वास से कह रहा था।

जनरल भोंसले और मुझे भी अपने उस भारतीय अधिकारी पर एक प्रकार से क्रोध आ रहा था। हम दोनों को उसके इस आचरण पर आश्चर्य भी हो रहा था। भारतीयों के रोम-रोम में जो दासता की वृत्ति बसी हुई है, उसी का वह ले०क० परिचय दे रहा था। वह सैनिक का अर्थ उतना ही समझता था कि जो रिक्रूटिंग अधिकारी द्वारा सैनिक के रूप में सेना में प्रविष्ट किया गया है। यह उस अधिकारी की बुद्धिहीनता का लक्षण था। सामान्यतया उस काल में सभी भारतीयों की यह मन:स्थिति बन गई थी।

बात बढ़ रही थी किन्तु किसी निर्णायक स्थिति पर तो वह पहुँच नहीं सकती थी। किसी प्रकार से हमने उस विषय को ही बदल दिया और बात का

रुख दूसरी ओर मोड़ दिया। परन्तु जो बात हो चुकी थी और वह भी विशेषतया विदेशियों के सम्मुख हुई थी, वह बड़ी ही लज्जास्पद बात थी, मानो दूध में नमक की डली डाल दी गई हो। इस प्रकार वह आनन्द का समारोह बेस्वाद हो गया था। वहाँ बैठना कठिन हो रहा था। किसी कार्य का बहाना बनाकर हम लोग वहाँ से जल्दी ही उठ आए थे।

सन् 1944 में एक महत्त्वपूर्ण जो घटना हुई थी वह थी नेताजी की सुवर्ण तुला। रंगून में स्थित सब भारतीय लोगों ने स्वयं प्रेरणा से उनकी स्वर्ण तुला करने का निश्चय किया था। इस प्रसंग में सभी वर्गों के भारतीयों से सम्पर्क किया गया और उसमें जिससे जो बन पड़ा उसने वह दिया। नेताजी के प्रति उनकी श्रद्धा और प्रेम के कारण ही यह सब सम्भव हो पाया था।

आधुनिक स्वतन्त्र देश के सारे लक्षण भारतीय स्वतन्त्रता सरकार में भी हों, अतः इस विचार से 'आजाद हिन्द बैंक' सन् 1944 के अप्रैल मास में रंगून में स्थापित किया गया। उसके पचास लाख रुपए के शेयर निकाले गए थे। उसमें से पच्चीस लाख रुपए जल्दी ही देने थे तथा अवशिष्ट पच्चीस लाख बैंक के माँगने पर देने की बात तय हुई। स्वतन्त्र ब्रह्मदेश के नियम-विधान के अनुसार इस बैंक को पंजीकृत किया गया था। इस बैंक के सरकारी खाते में बीस करोड़ रुपए स्वतन्त्रता सरकार की ओर से जमा किये गए थे। इनमें से पन्द्रह करोड़ रुपए ब्रह्मदेश में स्थित भारतीय नागरिकों द्वारा दान में दिए गए थे तथा पाँच करोड़ मलय के भारतीय लोगों ने जमा किये थे। लोगों के निजी बचत-पत्रों में रखी गई राशि चालीस लाख रुपए थी। स्वतन्त्रता सेना के व्यय के लिए इस बैंक से हर वर्ष सरकार की ओर से तीस लाख रुपए देने का निर्णय लिया गया था। स्वतन्त्रता सरकार के सारे अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन इसी बैंक द्वारा चलाए जाते थे। बैंक बहुत अच्छी प्रकार चल पड़ा था। ब्रह्मदेश के किसी भी बैंक की तुलना में इस बैंक का महत्त्व बहुत बढ़ गया था।

स्वतन्त्र ब्रह्मदेश के राष्ट्रपति डॉक्टर बा मा की कन्या के विवाह के समय ब्रह्मदेश ने भारतीय स्वतन्त्रता सरकार को दी हुई बहुत-सी छूट के लिए कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए नेताजी ने उन्हें पाँच लाख रुपए भेंट के रूप में दिए। जापानी जहाजी बेड़ों और जापानी सेना को भी कभी दस, कभी बीस, इस प्रकार से हवाई जहाज भी इन्होंने भेंट में दिए थे। भारतीय स्वतन्त्रता सरकार के अपने कारखाने न होते हुए भी यह हवाई जहाज नेताजी ने जापानियों को कब दिए इसके विपरीत भारतीय स्वतन्त्र सरकार ही जापानियों से सदा हवाई जहाज लेती थी, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था। जापानी हवाई जहाज के मूल्य के विषय में

पता लगाकर हर समय पर जब–जब जितने जहाज भेंट में देने होते थे, उतनी राशि इस बैंक में से निकालकर दी जाती थी। एक समय नेताजी ने जापानी जहाजी बेड़े एवं जापानी सेना को कभी दस, कभी बीस हवाई जहाज भेंट के रूप में दिए थे।

दो मास तक सीमा–प्रदेश का दौरा करके नेताजी जुलाई मास की दो तारीख को रंगून वापस आ गए। दिन–प्रतिदिन सीमा के समाचार उन्हें मिलते रहते थे। स्वतन्त्रता सैनिकों के कष्टों तथा उनकी भुखमरी के समाचार सुनकर उन्हें दुःख होता था, फिर भी धैर्य से काम करना और अपने ध्येय–मार्ग से बिल्कुल न डगमगाना यह उनके जीवन का मुख्य तत्त्व होने के कारण उन्होंने इस प्रकार के दुःख के चिन्तन में कभी एक मिनट का भी समय नहीं गँवाया होगा। वे तुरन्त ही अगले काम पर जुट जाया करते थे।

सन् 1944 के फरवरी मास के अन्त में श्रीमती कस्तूरबा गांधी का अंग्रेजों के कारागार में ही निधन हो गया। उनकी मृत्यु के कारण दूर पूर्व में स्थित सारे भारतीय नागरिकों में अंग्रेजों के प्रति क्रोध की मात्रा द्विगुणित हो गई। भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की ओर से इसे राष्ट्रीय दुःख के दिन के रूप में मनाया गया। जापान देश में भी यह दिन सरकार के शिष्टाचार के अनुसार मनाया गया। उसमें सारी जापानी जनता ने भाग लिया।

इस घटना के पश्चात् अंग्रेजों ने गांधी जी को कारागार से मुक्त कर दिया। भारत के वायसराय लॉर्ड वेवल ने उनसे कोई हल निकालने की दृष्टि से पत्र लिखना आरम्भ किया। परन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता दिए बिना कोई और समझौता नहीं किया जाएगा, महात्मा गांधी ने उन्हें स्पष्ट शब्दों में यह लिख दिया। नेताजी को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई।

6 जुलाई 1944 के दिन रंगून रेडियो से उन्होंने महात्मा गांधी को सम्बोधित करके एक भाषण दिया। उन्होंने महात्मा गांधी के द्वारा स्वतन्त्रता के लिए चलाए जा रहे आन्दोलन के लिए धन्यवाद देते हुए यह भी कहा, "अंग्रेज को हिन्दुस्तान से भगाने के लिए ही हमने हाथ में शस्त्र उठाए हैं तथा उस ध्येय की प्राप्ति तक शस्त्रों को नीचे न रखने की हमने शपथ ली है।" इस काम में उन्होंने महात्मा गांधी से आशीर्वाद की भी याचना की थी।

सुदूरपूर्व की भारतीय जनता ने 2 जुलाई से लेकर 9 जुलाई तक 'नेताजी सप्ताह' मनाया, क्योंकि 2 जुलाई सन् 1943 के दिन नेताजी का सिंगापुर में आगमन हुआ था तथा उसी दिन से उनके इस सुदूरपूर्व के कार्य का आरम्भ हुआ था। इस सप्ताह को बड़े उत्साह के साथ मनाया गया था। सन् 1944 के जुलाई मास में भारतीय स्वतन्त्रता सेना ने इम्फाल से पीछे हटना आरम्भ किया था। इससे

अगला यत्न पहले भी अधिक जोरों से हो—इसके लिए नेताजी ने इस सप्ताह से 'करो सब निछावर और बनो सब फकीर' यह स्फूर्तिप्रद नारा भारतवासियों को दिया। इसका अनुसरण करते हुए ब्रह्मदेश के एक धनवान् भारतीय व्यापारी श्री हबीब ने अपनी एक करोड़ तीस लाख रुपए की सारी सम्पत्ति नेताजी के चरणों में अर्पित कर दी थी।

इस बात के लिए 9 जुलाई को अर्थात् 'नेताजी सप्ताह' के अन्तिम दिन बड़ा समारोह हुआ, जिसमें श्री हबीब को 'सेवक-ए-हिन्द' का पदक प्रदान किया गया। श्री हबीब के महान् त्याग का उदाहरण देखकर जो कोई व्यक्ति अपनी सारी सम्पत्ति का त्याग करेगा उसे यह पदक दिया जाएगा, ऐसा निश्चय किया गया। नेताजी ने श्री हबीब का सम्मान करते हुए उनके जैसा करने के लिए सबको प्रोत्साहित किया।

नेताजी की स्वर्ण तुला भी इसी सप्ताह में हुई थी। थोड़े दिनों के बाद एक गुजराती महिला श्रीमती बेताई ने भी अपनी तीस लाख रुपए की सारी पूँजी नेताजी को अर्पित कर दी। उनका भी सम्मान किया गया और उन्हें भी वह उपाधि प्रदान की गई।

10 जुलाई के दिन रंगून की एक सार्वजनिक सभा में नेताजी ने भाषण दिया। उन्होंने कहा, "यह समय आगे-पीछे देखने का नहीं है। भारत की अड़तीस करोड़ जनता के सवाल को देखते हुए हम उनके सम्मुख कुछ भी नहीं हैं। श्रीमती बेताई तथा श्री हबीब जैसा त्याग करना सीखिए। हमें एक बलवान् शत्रु से युद्ध करना पड़ रहा है। इस कार्य के लिए जितना भी त्याग किया जाए वह कम ही होगा...."

मुगल बादशाह की परम्परा के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र को 1857 के स्वतन्त्रता-युद्ध के बाद अंग्रेजों ने पकड़कर दिल्ली के लाल किले में उस पर मुकद्दमा चलाकर, उसे रंगून भेज दिया था। वहाँ पर बड़ी ही दयनीय स्थिति में उसका, उसकी बेगम का तथा उसकी पुत्री का देहान्त हुआ था। वे सब जिस स्थान पर रह रहे थे उस झोंपड़ी से कुछ दूर पर ही उन तीनों की कब्रें पास-पास बनाई गई थीं। उन कब्रों की देख-रेख के लिए वहाँ पर एक-दो सेवक रखे हुए हैं। कुछ फकीर भी वहाँ रहते हैं।

नेताजी ने स्वतन्त्रता सरकार की ओर से इन कब्रों का जीर्णोद्धार करवाया था। 11 जुलाई बहादुरशाह का मृत्यु-दिवस होने के कारण उन कब्रों के सम्मुख भारतीय सेना का एक कार्यक्रम आयोजित किया गया। उस समय हर किसी ने शपथ ली कि वह बहादुरशाह ज़फ़र के साथ हुए अन्याय का बदला लेगा।

पैसिफिक महासागर की स्थिति दैनन्दिन गम्भीर होती जा रही थी। अमेरिका इस ओर से बढ़ने लगा था। सैकड़ों वायुयान, नावें, विनाशिकाएँ, पनडुब्बियाँ, युद्धपोत, सेना को ले-जानेवाले जहाज, इस प्रकार से बड़े-बड़े काफिले भेजकर अमेरिका ने पैसिफिक महासागर में जापान देश के पास स्थित सभी छोटे द्वीपों पर जल्दी-जल्दी अपनी सेना भेजनी आरम्भ कर दी।

जून मास के अन्त में जापान देश के आधे मार्ग में स्थित सायपान नामक महत्त्वपूर्ण द्वीप पर अमेरिका ने अपना अधिकार जमा लिया था। जुलाई मास में ग्वाम द्वीप पर सेना उतार दी थी। यह द्वीप भी हाथ से जा रहा था।

अन्तिम विजय अपनी ही होगी, ऐसी तोजो-मन्त्रिमण्डल बार-बार घोषणा करता था। फिर भी सायपान जैसा महत्त्वपूर्ण द्वीप खो देने के कारण सारा जापान हड़बड़ाकर जाग गया। लगभग सभी वृद्ध जापानी राजनीतिक अब यह अनुभव करने लग गए थे कि स्थिति अब तोजो-मन्त्रिमण्डल के वश में नहीं रह गई है। अमेरिका के हवाई जहाज तथा जलपोत दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ते जा रहे थे और स्थान-स्थान पर आक्रमण करते जा रहे थे। विभिन्न द्वीपों पर उन्होंने अपनी सेनाएँ तैनात कर दी थीं। इतने बड़े काफिले का सामना करना कोई आसान काम नहीं था। जापानियों से दस गुनी सेना हर द्वीप के निकट लाई जा रही थी।

युद्ध के समय जापान देश के प्रत्येक घर से जितने भी व्यक्ति युद्ध के काम पर बाहर गए होते थे, उनके हरेक के नाम का एक-एक झण्डा उस घर पर लगाया जाता था। इस प्रकार बाहर से झण्डे गिनकर ही यह अनुमान लगाया जा सकता था कि इस परिवार के कितने व्यक्ति युद्धक्षेत्र में गए हैं। हर परिवार में इस कार्य में प्रतिस्पर्द्धा-सी होती थी। यहाँ तक कि महिलाएँ भी अपना घर का काम समाप्त कर विभिन्न कल-कारखानों में काम करती थीं। उसके साथ ही घंटों राशन की पंक्ति में भी उनको खड़ी देखा जा सकता था। दुकानें सब बन्द करके उन सबको कल-कारखानों में काम करने के लिए लगा दिया गया था। नाई-धोबी आदि अपने-अपने कार्य के लिए सप्ताह में एक नियत दिन पर अपनी दुकानें खोला करते थे, शेष छः दिन कारखानों में काम करते थे।

सेना में भर्ती होने की आयु भी घटती गई। चौदह वर्ष की आयु के किशोरों को भी सेना में भर्ती किया जाने लगा था।

जनरल तोजो को कहा जाने लगा था कि अब महिलाओं को भी युद्धक्षेत्र में भेज देना चाहिए। तोजो इस बात के पक्ष में नहीं थे। तोजो-मन्त्रिमण्डल की दशा दिन-प्रतिदिन चिन्ताजनक होती जा रही थी। उधर ब्रह्मदेश की सीमा पर से पीछे हटने की स्थिति आ जाने के कारण वहाँ से कब शत्रु की बाढ़ आ जाय, कुछ

कहा नहीं जा सकता था। परिस्थिति की भयंकरता और मन्त्रिमण्डल की अकर्मण्यता को देखते हुए जनरल तोजो के मन्त्रिमण्डल ने जुलाई 1944 में जापान के सम्राट को अपना त्यागपत्र सौंप दिया।

प्रश्न यह था कि अब ऐसे संकट के समय में कौन आगे आकर मन्त्रिमण्डल का गठन करे? क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि नये मन्त्रिमण्डल के सिर पर पराजय का ठीकरा फूटेगा। तदपि ऐसे समय में जनरल कुनियाकी कोइसो आगे बढ़े और सम्राट से कहा कि सम्राट यदि सारा दायित्व अपने सिर पर ले लें तो फिर वे सम्राट की आज्ञानुसार प्रधानमन्त्री का पद स्वीकार करने को उद्यत हैं। परिणामस्वरूप सम्राट को यह स्वीकार करना पड़ा और उन्होंने ज़नरल कोइसो को राज्य-शासन चलाने के लिए नियुक्त कर दिया।

निरुत्साहित जापानी फिर उत्साह से अपने काम में जुट गए। तोजो-मन्त्रिमण्डल के स्थान पर अब कोइसो-मन्त्रिमण्डल आ गया था।

उस समय विभिन्न देशों के नागरिकों में इस युद्ध में जापान की अन्तिम जीत के विषय में सन्देह तो उत्पन्न हो ही गया था। जापान के मित्र देशों ने इस विषय में अपने-अपने प्रकार से खोजबीन भी की थी।

जापानी मन्त्रिमण्डल के इस परिवर्तन के विषय में भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की ओर से जुलाई मास की 27 तारीख को एक विशेष पत्रक निकाला गया और उसमें नए मन्त्रिमण्डल से सहयोग करने और उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्धरत रहने का संकल्प दोहराया गया और नेताजी तथा कोइसो की ओर से परस्पर सन्देशों का आदान-प्रदान हुआ।

नेताजी अगस्त 1944 में टोकियो गए। नये मन्त्रिमण्डल से वार्तालाप करके वह यह जानना चाहते थे कि भारतीय स्वतन्त्रता सरकार की सहायता के लिए वे कितने अंश में तत्पर हैं। विभिन्न अधिकारियों से चर्चा करने के उपरान्त तथा स्वयं भी अनुमान लगाकर उन्हें लगने लगा कि अब जापान पराजय के कगार पर खड़ा है। ब्रह्मदेश और भारत की ओर अधिक ध्यान देना अब जापान के लिए सम्भव नहीं होगा—यह भी उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रहा था। तदपि नये मन्त्रिमण्डल ने सब प्रकार की सहायता करने का आश्वासन दिया था।

नेताजी के सम्मुख अब दो मार्ग थे। यह बात तो उनकी समझ में आ गई थी कि अब केवल जापान देश की सहायता से हमें अपने उद्देश्य में सफलता मिलना सम्भव नहीं है। अब यह देखना था कि प्रत्यक्ष में जो देश जापान के मित्र देश हैं और अंग्रेजों के प्रति जिनका शत्रुभाव है, ऐसे देशों से सहायता प्राप्त हो सकती है अथवा नहीं, और यदि सहायता प्राप्त होती भी है तो क्या उससे अपने उद्देश्य में

सफलता प्राप्त हो सकती है? या फिर भारतीय स्वतन्त्रता सेना की शक्ति को बढ़ाया जाए और जापानियों से अधिकाधिक जितनी युद्धसामग्री प्राप्त हो सकती है, उसे प्राप्त किया जाय और फिर अपनी शक्ति के बल पर भारत और ब्रह्मदेश की सीमा पर युद्ध करके भारत में प्रवेश किया जाय।

उपरिलिखित दोनों मार्गों में पहला मार्ग अपनाने का यह समय उपयुक्त नहीं था, क्योंकि निश्चित तो किसी भी देश के विषय में कुछ जाना नहीं जा सकता था; सन्देह की स्थिति में कोई पग बढ़ाना बुद्धिमत्ता नहीं थी। अब रहा दूसरा मार्ग। उसको अपनाने से कुछ लाभ सम्भव है या नहीं—पहले तो यही बात सन्देहास्पद थी, और यदि लाभ हुआ भी तो यह निश्चित नहीं कहा जा सकता था कि उसे प्राप्त करने में कितना समय लगेगा। इन सब बातों पर गम्भीर विचार-विनिमय के उपरान्त नेताजी ने यही निश्चय किया कि फिलहाल जापान देश की सहायता से ही आगे का मार्ग निर्धारित किया जाए।

अपने भाषणों में अनेक बार नेताजी कहते रहे थे, "भारतीय स्वतन्त्रता सेना तो केवल भारत में प्रवेश-भर के लिए है। हम लोग मात्र इस सेना पर अथवा जापानियों की सहायता पर निर्भर नहीं हैं। समस्त भारतीय जनता अंग्रेजों के विरुद्ध है, वह उनके बन्धन से छूटने के लिए छटपटा रही है, ऐसा यदि मुझे पक्का विश्वास न होता तो मैंने यह सारा प्रयास ही न किया होता।"'

"अब तो केवल अपनी स्वतन्त्रता सेना को लेकर भारतीय जनता के समक्ष पहुँचने-भर की ही देर है, फिर तो भारतीय जनता स्वयमेव अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर उठेगी। उन्हें जिन शस्त्रों की आवश्यकता होगी, उसकी पूर्ति हम करेंगे। जिस सरकार की प्रेरणा और आधार से वह संगठित होकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध कर सके, ऐसी स्वयं की एक स्वतन्त्र सरकार उनको चाहिए। उस सरकार की भी स्थापना हमने कर ली है। अब केवल भारत में प्रविष्ट होना ही अवशिष्ट है।"

'प्रविष्ट' होने का अभिप्राय था कम से कम आधे बंगाल पर स्वतन्त्रता सेना का अधिकार होना आवश्यक है। यदि यह सम्भव हुआ होता तो अंग्रेजों की ओर की अधिकतर सेना कई स्थानों पर रुकी रहती तथा अन्त में स्वतन्त्रता सेना से जाकर मिल गई होती। बहुत-से बंगाली युवक उत्साह से स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित हो गए होते तथा पूर्व बंगाल (जापानियों के अधिकार में) वास्तव में स्वतन्त्र हो गया है यह जानकर सारी भारतीय जनता ईर्ष्या से एवं स्वप्रेरणा से अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए तैयार हो गई होती—इसमें किसी बात का सन्देह नहीं था।

अपने बल पर युद्ध करने के लिए आवश्यक सैन्य शक्ति होना अनिवार्य था, अतः उन्होंने नये मन्त्रिमण्डल से स्वतन्त्रता सेना की संख्या बढ़ाने की चर्चा आरम्भ कर दी। वास्तव में स्वतन्त्रता सेना की वृद्धि करना अथवा न करना, और यदि वृद्धि की तो कितनी वृद्धि करना, यह स्वतन्त्रता सरकार की व्यक्तिगत समस्या थी। जापान को उसमें रोड़ा अटकाने की आवश्यकता नहीं थी।

यदि नेताजी की इच्छा के अनुसार स्वतन्त्रता सेना की संख्या तीन लाख तक हुई होती तो उससे जापान देश को लाभ ही हुआ होता, क्योंकि भारत स्वतन्त्र हो गया होता, जिससे अंग्रेजों की शक्ति क्षीण हो गई होती, परिणामस्वरूप वह युद्ध से पूर्णतया बाहर हो गया होता।

इस प्रकार योरोप में रशिया एवं जर्मनी तथा पैसिफिक में जापान तथा अमेरिका कुछ-कुछ इस प्रकार की जोड़ियाँ बन गई होतीं। उसमें विजय प्राप्त करने की जापान एवं जर्मनी की बहुत ही सम्भावना थी। स्वतन्त्रता सेना की बड़ी संख्या में वृद्धि होने से उन्हें कम से कम भारत-ब्रह्मदेश की सीमा के बारे में फिर कोई चिन्ता न रहती। परन्तु जापान का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में बड़ा ही संकुचित रहा था। यह कहना गलत होगा कि बढ़ती हुई स्वतन्त्रता सेना को सुसज्जित करने के लिए उनके पास पर्याप्त युद्धसामग्री उपलब्ध नहीं थी।

नेताजी ने जब जापान के नये मन्त्रिमण्डल से सेना-वृद्धि की चर्चा की तो उनको आभास मिल गया कि मन्त्रिमण्डल सेना में वृद्धि नहीं चाहता। 'हिकारी किकान' के अधिकारी भी इस प्रकार की चर्चाओं में सम्मिलित रहते ही थे और उनका रवैया आरम्भ से ही कैसा रहा था इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर किया जा चुका है। अन्त में समझौते के रूप में यह निश्चय हुआ कि आरम्भ में स्वतन्त्रता सेना 50,000 तक बढ़ाई जाए। जब इतनी वृद्धि हो जाय, तब और अधिक वृद्धि पर पुनः चर्चा की जा सकती है। उस समझौते की मुख्य बातें निम्न थीं—

1. भारतीय स्वतन्त्रता सेना को 50,000 तक बढ़ाने में भी जापानी सरकार को कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु उसे किस प्रकार बढ़ने दिया जाय—इस विषय में 'हिकारी किकान' के अधिकारियों से मिलकर निर्णय लिया जाय।

2. स्वतन्त्रता सेना की तीसरी डिविजन मलय देश की रक्षा के लिए मलय में ही रहने दी जाए।

3. यदि शत्रु मलय अथवा सिंगापुर द्वीप पर आक्रमण करे, तब मलय की स्वतन्त्रता सेना युद्धतन्त्र की दृष्टि से थोड़े समय के लिए दक्षिण प्रदेश के जापानी सेनापति के आदेशानुसार कार्य करेगी।

4. मलय सिंगापुर के किसी भी भाग में दोनों के सैनिक अधिकारी यदि

एक ही ओहदे के हों, तब जापानी अधिकारी को ही दोनों ओर की से ओं का मुखिया माना जाए तथा उसके आदेशानुसार ही सारा संचालन हो, अन ा दोनों ओर की सेना के वरिष्ठतम अधिकारी के आदेश का पालन दोनों ओर क सेनाओं द्वारा किया जाय।

इस प्रकार समझौता होने के बाद नेताजी रंगून वापस आ गए। र्षा ऋतु समाप्ति पर थी। भारत और ब्रह्मदेश की सीमा पर बरसात के मौसम वे बाद के आक्रमण में जापान देश अधिक उत्साह से भाग लेगा—ऐसा रंग-ढंग दीख नहीं रहा था। अब सारा भार स्वतन्त्रता सेना के ऊपर ही होगा—यह जानकर नए आक्रमण की रूपरेखा बनाने के लिए एक युद्धमण्डल का गठन करना नेताजी ने उपयुक्त समझा।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना के मुख्य सेनापति बनने के बाद अन्य निचले दर्जे के सेना के अधिकारियों की तो बढ़ती होती थी, परन्तु अंग्रेजों के समय से लेफ्टिनेन्ट कर्नल के पद पर स्थित अथवा स्वतन्त्रता सेना में इस पद पर पहुँचे हुए अधिकारियों की अभी ऊपर के पद पर पदोन्नति नहीं हुई थी। अत: नेताजी ने इस समय पहली बार श्री जगन्नाथराव भोंसले, श्री मुहम्मद अमान क्यानी, श्री चटर्जी तथा श्री लोकनाथन इन चारों को कर्नल का पद प्रदान किया। सिंगापुर जब जापान के अधिकार में आया था तो श्री इमान क्यानी मेजर के पद पर थे। स्वतन्त्रता सेना में ही वह मेजर से ले०क० के पद तक पहुँचे थे।

30 अक्टूबर 1944 के भारतीय स्वतन्त्रता सरकार के सरकारी पत्रक में युद्धमण्डल-गठन की घोषणा की गई। इसके निम्न अधिकारी नियुक्त किये गए थे—

कर्नल जगन्नाथराव भोंसले, कर्नल मुहम्मद अमान क्यानी, ले०क० अहसान कादर, अजीज अहमद, ले०क० हबीबुर्रहमान, ले०क० गुलजार सिंह, कर्नल ए०सी० चटर्जी, एन० राघवन, एस०ए० अय्यर, परमानन्द, येलप्पा। इनमें अन्तिम चार व्यक्ति सैनिक अधिकारी नहीं थे। क्योंकि कर्नल क्यानी को युद्धमण्डल का सदस्य नियुक्त कर लिया गया था, अत: उनके स्थान पर सेना के प्रथम डिविजन के मुख्य अधिकारी के रूप में ले०क० शाहनवाज को नियुक्त कर दिया गया।

सन् 1944 के आरम्भ में कैप्टन लक्ष्मी के ब्रह्मदेश जाने के कारण लेफ्टिनेन्ट श्रीमती सत्यवती थेवर को सिंगापुर-स्थित झाँसी की रानी पथक का प्रमुख अधिकारी नियुक्त किया गया था। कैप्टन लक्ष्मी कुछ मास तक रंगून-स्थित झाँसी रानी पथक के प्रमुख के रूप में भी काम देखती रही थीं। आगे चलकर

उन्हें मोमियो में स्थित भारतीय स्वतन्त्रता सेना के अस्पताल में डॉक्टर के रूप में नियुक्त किया गया। वह कैप्टन से मेजर और बाद में ले०क० बनी थीं। झाँसी रानी पथक के प्रमुख के रूप में तथा डॉक्टर के रूप में उनके सम्पर्क जो भी व्यक्ति आए, उन सबके मनों को उन्होंने आकर्षित कर लिया। वे उन सबके प्रेम की पात्र बनीं।

लेफ्टिनेन्ट थेवर बाद में कैप्टन तथा अन्त में मेजर के पद पर पहुँची थीं। डॉ० लक्ष्मी को मोमियो के अस्पताल का काम देखने के लिए भेजा गया था। झाँसी रानी पथक में 500 के लगभग महिलाएँ थीं। रंगून में गई हुई उनकी छावनी में स्थित सिंगापुर से गई हुई महिला सैनिकों को गिनकर इस पथक की संख्या 150 के लगभग थी। रंगून में स्थित उनकी छावनी हेलपिन मार्ग पर एक बँगले में थी।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के विषय में भारतीयों को अधिक जानकारी नहीं थी—यदि यह कहा जाए तो गलत न होगा। वह एक महाराष्ट्रियन वीरांगना थीं और उन्होंने 1857 के स्वतन्त्रता-युद्ध में युद्धभूमि पर कई आमने-सामने के युद्ध में अंग्रेजी सेना के विरुद्ध विजय प्राप्त की थी तथा अंग्रेजों के छक्के छुड़ाए थे। यह बात बहुत-से लोगों को ज्ञात ही नहीं थी। 22 अक्टूबर 1944 के दिन झाँसी रानी पथक की स्थापना का पहला वार्षिकोत्सव था। उस समय सब लोगों को उसके चरित्र के विषय में ज्ञान कराने के लिए इस पुस्तक के लेखक ने हिन्दी भाषा में 'झाँसी की रानी' नामक एक नाटक लिखा था। तमिल, अंग्रेजी एवं हिन्दी, इन तीन भाषाओं में इसकी एक-एक हजार प्रतियाँ छापी गई थीं तथा वे दूर पूर्व विशेषतया मलय और सिंगापुर में हाथोंहाथ बिक गई थीं। रानी झाँसी पथक की महिला सैनिकों ने इस नाटक का मंचन किया था। कई बाधाओं के कारण वार्षिकोत्सव के दिन तक वह नाटक प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो पाया था।

सिंगापुर में स्थित विक्टोरिया सभागृह में इस नाटक का 27, 28 एवं 29 नवम्बर को प्रतिदिन एक-एक बार मंचन हुआ। मलय तथा सिंगापुर के विभिन्न समाचारपत्रों में इसकी प्रशंसा प्रकाशित हुई। पुस्तक-बिक्री तथा तीन बार मंचन किये गए नाटक के टिकटों की बिक्री से लगभग 50,000 डालर की प्राप्ति हुई थी।

यह नाटक नेताजी को ही समर्पित है। इस नाटक के मंचन तथा पुस्तक की बिक्री से प्राप्त सारा धन स्वतन्त्रता-युद्ध के निमित्त, नेताजी के फण्ड को दान देने का लेखक का संकल्प था, अतः वह पचास हजार डालर की राशि जैसे-जैसे प्राप्त हुई, वैसे-वैसे भारतीय स्वतन्त्रता संघ के मुख्य कार्यालय को भेज दी गई।

यह नाटक जब मंच पर प्रस्तुत किया गया था उस समय नेताजी रंगून में थे। जनता के आग्रह पर विक्टोरिया सभागृह में ही इस नाटक का 11 से 14 दिसम्बर तक प्रतिदिन एक-एक शो दिखाया गया था। 14 दिसम्बर के दिन शाम को छ: बजे नेताजी हवाई जहाज से सिंगापुर के हवाई अड्डे पर उतरे थे। उस दिन शाम के साढ़े सात बजे इस नाटक का अन्तिम खेल होना था। केवल डेढ़ घंटा समय बचा था। नेताजी उससे कुछ ही समय पहले टोकियो होकर आए थे।

वे आठ बजे पहुँचे थे, अत: उस दिन नाटक 8 से 10 तक चला। इन चार खेलों से लगभग 20 हजार डालर प्राप्त हुए थे, जिन्हें स्वतन्त्रता संघ के मुख्य कार्यालय में नेताजी फण्ड में जमा करवा दिया गया।

नेताजी को ही वह नाटक अर्पित किया गया था। अत: जब इस लेखक की उनसे भेंट हुई तो उन्हें तमिल, अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा में एक-एक प्रति दी गई। झाँसी रानी पथक की यह नाटक की टुकड़ी दूर पूर्व के सब स्थ्लों पर जाकर इस नाटक का प्रदर्शन करें और इसके साथ ही अपने सैनिक प्रशिक्षण का भी प्रदर्शन करें जिससे स्वतन्त्रता-संग्राम को एक प्रोत्साहन मिलेगा—ऐसा नेताजी का विचार था। किन्तु अनेक बाधाओं के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया।

जर्मनी देश के अधिकारियों से भी घनिष्ठता बढ़ रही थी। इन नाटकों तथा अन्यान्य कार्यक्रमों के अवसर पर हम उन्हें आमन्त्रित किया करते थे। वे बड़े ही मिलनसार थे। उनमें घमण्ड बिल्कुल नहीं था।

एक बार एक जर्मन पनडुब्बी का एक मुख्य अधिकारी दूसरे दिन सिंगापुर से निकलकर न्यूजीलैण्ड तक शत्रु के जहाजों को डुबाने के लिए जानेवाला था। यह बात उसने पिछले दिन चाय-पान के समय हमें बताई थी। दो-तीन मास बाद जब वह अपने काम पर से वापस लौटा, तब भी उसने अपने वहाँ पर किए गए कार्य के विषय में विस्तार से बताया था। अभिप्राय यह कि वह मित्रों से हिलमिलकर रहते थे। एक बार हमने जर्मन पनडुब्बियों का कार्य देखने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने हमें इसका अवसर प्रदान कर दिया था।

जापानियों का स्वभाव इसके विपरीत था। सिंगापुर बन्दरगाह के परिसर में जहाजी बेड़ों के विभाग की मोटरकारों के अलावा अन्य किसी भी मोटरकार के अन्दर प्रवेश न दिया जाए—ऐसा उनका आदेश था। क्योंकि सिंगापुर बन्दरगाह जापानियों के कब्जे में थी। अत: उनके नियमों का पालन जर्मन बेड़ों के अधिकारियों को भी करना पड़ता था।

इतना सब-कुछ होते हुए भी उस जर्मन अधिकारी ने हमारे लिए सारी व्यवस्था की और हमें अपने करतब दिखाए थे।

अध्याय चौबीस

पासा ही पलट गया

14 दिसम्बर को नेताजी के टोकियो से सिंगापुर लौटने पर टोकियो में हुए करार के अनुसार आने के कुछ दिनों बाद दक्षिण प्रदेश के जापानी सेनाध्यक्ष से उन्होंने भेंट की। बाद में जापानी सेनाध्यक्ष भी आकर उनसे मिले थे। यह जापानी अधिकारी जनरल-स्तर का था। अपनी राजनीतिक पटुता के कारण ही उसने यह उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। मंचूरिया जैसे समृद्ध देश को जापान में मिलाने के लिए उसने प्रयत्न किये थे।

कुछ दिनों बाद नेताजी ने दक्षिण प्रदेश के जापानी जहाजी बेड़े के प्रमुख से भी भेंट की। यह व्यक्ति धीर-गम्भीर स्वभाव का था।

फिलिपीन द्वीप पर अंग्रेजी सेना उतरी थी। वहाँ पर भीषण युद्ध चल रहा था। मलय के पश्चिमी तट तक आकर शत्रु की पनडुब्बियाँ हलचल मचा रही थीं। मलय सिंगापुर द्वीप पर वह सेना कब आ जाय—इसका कोई अनुमान नहीं लग पा रहा था। नेताजी ने भारतीय स्वतन्त्रता सेना के लिए आदेश किया—"इसके पश्चात् हम भारत-ब्रह्मदेश की सीमा पर ही युद्ध करें, ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अब नहीं है, जहाँ पर भी सम्भव हो वहीं पर शत्रु से लड़ने के लिए तैयार रहें।"

मलय में स्थित तीन नम्बर की डिविजन आवश्यकता पड़ने पर जापानी सेनाध्यक्ष को सौंपी जाय—इस दृष्टि से जापानी सेनाध्यक्ष ने एक दिन सिंगापुर आकर भारतीय स्वतन्त्रता सेना की टुकड़ियों का निरीक्षण किया। इस समय नेताजी फिर से रंगून चले गए थे।

योरोप में जर्मनी अधिक समय तक युद्ध नहीं कर पाएगा, ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा था। भारत में विजित सारा प्रदेश 1944 के बरसात के मौसम में स्वतन्त्रता सेना तथा जापानियों ने छोड़ दिया था। इम्फाल में घिरी हुई अंग्रेजी सेना के बन्धन ढीले हो गए थे। कोहिमा के मार्ग से दीमापुर से उन्हें राशन प्राप्त होने लग गया

था। बरसात की समाप्ति पर उन्होंने चारों ओर दृष्टिपात किया। उन्होंने जापानी और भारतीय स्वतन्त्रता सेना की टोह लेने के लिए अपने गश्ती सैनिकों को क्षेत्र में भेजा। उनका अनुमान था कि कम से कम शत्रु सामने की ओर तो होगा ही। किन्तु उनको आश्चर्य हुआ कि सारा मैदान साफ था। उनकी यन्त्रणा तो समाप्त हो गई थी, किन्तु इसके साथ ही भारत का जो क्षेत्र स्वतन्त्र हो गया था, वह भी स्वयमेव उनके अधिकार में आ गया।

इतने समय में अंग्रेजों ने पर्याप्त सेना और युद्धसामग्री एकत्रित कर ली थी। यह सब इस क्षेत्र में भेज दी गई। उनके हाथों से सहसा छूटा हुआ भारत का वह क्षेत्र अब सब उनके अधिकार में आ गया था। सीमा पर उन्होंने अपनी चौकियाँ स्थापित कर लीं। इसके बाद उन्होंने ब्रह्मदेश की ओर अपनी दृष्टि घुमाई।

जापानियों की योजना थी कि भारत-ब्रह्मदेश की सीमा से जितनी सम्भव हो उतनी सेना तथा युद्धसामग्री निकालकर स्याम, इण्डोचीन के मार्ग से पैसिफिक द्वीप की ओर भेजी जाए। ब्रह्मदेश में अनेक स्थानों पर थोड़ी-थोड़ी जापानी सेना ही थी। बर्मीज डिफेन्स आर्मी, ब्रह्मदेश के संरक्षक दल ने युद्ध-समय की बिगड़ती स्थिति तथा जापानियों के दुर्व्यवहार से तंग आकर उनके ही विरुद्ध आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था।

सैनिक विद्यालयों में प्रशिक्षत होकर ब्रह्मदेश के जवान अपना प्रशिक्षण समाप्त होते ही एक दिन शस्त्रास्त्रों के साथ वहाँ से चलते बने। गाँवों, कस्बों, जंगलों से तथा हवाई आक्रमण के कारण वीरान नगरों से ब्रह्मी सैनिक टुकड़ियों ने जापानियों के विरुद्ध चोरी-छिपे आक्रमण आरम्भ कर दिए थे। यहाँ तक कि वे जापानी हवाई अड्डों पर आक्रमण करके विमानों तथा अन्यान्य सामग्री को नष्ट कर लूटपाट करते हुए भागने लगे थे।

इसी समय जापानियों के विरुद्ध रुष्ट हुई जनता के कारण ब्रह्मदेश में जासूस बहुत संख्या में एकत्रित हो गए थे। इनमें से कुछ तो अपने-आप ही जासूस बन गए थे तथा लालच में आकर कुछ अंग्रेजों के लिए यह काम करने लगे थे। इनमें भारतीय और ब्रह्मी दोनों ही सम्मिलित थे। उपहारगृह में किसी से भी बातचीत करना सम्भव नहीं था। एक बार स्वतन्त्रता सेना की एक टुकड़ी जब रेलगाड़ी में रंगून से उत्तर ब्रह्मदेश को जा रही थी, तब स्वतन्त्रता सैनिकों जैसी ही वर्दी पहने हुए एक व्यक्ति इस रेलगाड़ी के अन्य सैनिकों के साथ मिलजुलकर स्वतन्त्रता सेना की सीमा की टुकड़ियों के विषय में जो मुख में आया वह बड़बड़ा रहा था। इसके साथ ही उसने अन्य अनेक बातें पूछना आरम्भ कर दिया था। उसने अपना नाम नारायण बताया था। कुछ सैनिकों को उस पर सन्देह हुआ तो

उन्होंने अपने मुख्य अधिकारी को इसकी सूचना दी। नारायण को पकड़ा गया और जब उससे पूछताछ की गई तो पता चला कि वह अनेक नाम धारण करनेवाला जासूस था।

ब्रह्मदेश में सूर्योदय से सूर्यास्त तक हवाई आक्रमण होने लग गए थे। इनमें बी29, बी24, पी38 अमेरिकन हवाई जहाज ही अधिकतर भाग लिया करते थे। कभी-कभी अंग्रेजों का मोस्किटो नामक छोटा हवाई जहाज भी आता था। जब एक या दो ही हवाई जहाज आते थे तब अधिकतर वे जाँच करने के लिए ही आते थे। सौ-सवा सौ हवाई जहाज जब आते थे तब वे तीन-तीन अथवा छः-छः के गुट में एक के बाद एक आते थे।

अंग्रेज और अमेरिकन पायलटों का निशाना कभी भी ठीक से न लगने के कारण वह 'कारपेट बॉम्बिंग' का सहारा लेते थे। 'कारपेट बॉम्बिंग' का अभिप्राय होता है नगर का एक-एक विभाग लेकर, उसे एक छोर से दूसरे छोर तक पूर्णरूपेण नष्ट कर देना। नगर का कोई तल, महत्त्वपूर्ण केन्द्र और युद्धसामग्री के भण्डार नष्ट होने से बचे नहीं—इस आशा से सब स्थानों को नष्ट करने के लिए वे आगे-पीछे नहीं देखते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि शत्रुत्व की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने मानवता का सर्वथा परित्याग कर दिया था, अतः वह कहाँ गिरता है, किसको मारता है, किसको नष्ट करता है इसकी उनको चिन्ता नहीं होती थी। उनका काम था नष्ट करना।

यही कारण है कि दक्षिण-ब्रह्मदेश की बन्दरगाह मार्ताबान को पूर्णतया तहस-नहस करके उसे श्मशान-भूमि में परिणत कर दिया गया था। रेलगाड़ी की पटरियों के मुड़े हुए टुकड़े टूटकर आसपास के पेड़ों पर लटक रहे थे। रेलगाड़ी के डिब्बे कहाँ थे इसका कुछ अता-पता ही नहीं था। समुद्र के आस-पास की बस्ती नष्ट कर दी गई थी। मार्ताबान के सामने सालबीन नदी के दूसरी ओर स्थित नगर मोलमीन ध्वस्त हो गया था। उत्तरी ब्रह्मदेश के अधिकांश घर नष्ट कर दिए गए थे।

बैंकाक से रंगून तक के नये रेलमार्ग पर स्थित प्रत्येक पुल ध्वस्त कर दिया गया था। उनके निकट रहनेवाले जापानी सैनिकों एवं श्रमिकों की टुकड़ियाँ इन पुलों को पाँच-छः दिन में फिर यथावत् कर देती थीं। जंगल के बड़े-बड़े मोटे पेड़ों को काटकर शीघ्रता से यह कार्य सम्पन्न किया जाता था। जहाँ इस प्रकार पुनः पुल बनाना सम्भव न हो वहाँ तक रेलगाड़ी को लाकर, उसमें से सामग्री उतारकर दूसरी ओर खड़ी रेलगाड़ी के माध्यम से उसे यथास्थान पहुँचा दिया जाता था। दिन में हवाई आक्रमण के कारण रात को ही ये गाड़ियाँ चुपचाप चलाई

जाती थीं। ऐसा कई दिनों तक करना पड़ा था।

इसके साथ ही शत्रु ने अपने जासूसों का एक जाल-सा ब्रह्मदेश में बिछा दिया था, उससे उसे बड़ी सहायता मिल रही थी। 1944 की बरसात के बाद ब्रह्मदेश की स्थिति ऐसी हो गई थी।

पीछे से राशन आना बन्द हो गया था, अत: अब उन छावनियों में रहना न उचित था और न ही सम्भव। ब्रह्मदेश में भारत तथा जापान की सेनाएँ सीमा पार कर भारतभूमि में प्रविष्ट हो गई थीं, किन्तु बरसात आरम्भ हो जाने के कारण भारतभूमि का अधिग्रहीत भाग भी यों ही छोड़ देना पड़ा था। अंग्रेजों के जासूस चारों ओर विचरण करने लगे थे, अत: वहाँ टिक पाना अत्यन्त कठिन हो गया था।

1944 के नवम्बर मास में स्वतन्त्रता सेना तथा जापानी सेना टिड्डिम छोड़कर वापस आ गईं। अगले दो महीनों में चिन घाट के सभी स्थानों को छोड़कर उन्हें चिंदविन नदी के पूर्वी किनारे पर आना पड़ा था। दक्षिण दिशा में अधिकृत किये गए क्षेत्र भी अब साम्राज्यवादी सेना ने अपने अधिकार में ले लिये थे। कालेवा नामक स्थान पर जापानियों का एक बड़ा डेरा था। उस पर अंग्रेजों के हवाई आक्रमण होते रहते थे। चिंदविन नदी में आनेवाले छोटे जहाजों को डुबो दिया गया था और टम्मू शहर भी हाथ से निकल गया था। यह सब अमेरिकन सेना कर रही थी। उस क्षेत्र में अमेरिकन सैनिकों ने घने जंगलों में भी मंगल मनाना आरम्भ कर दिया था, जिसे देखकर कभी-कभी अंग्रेज अधिकारी तक लज्जा का अनुभव करते थे।

सन् 1944 के अन्त में नेताजी फिर से ब्रह्मदेश आए। सीमा पर स्थित अनुभवी भारतीय अधिकारियों को रंगून, सिंगापुर आदि प्रमुख स्थानों पर नियुक्त किया जाय तथा इतने दिन इन जगहों पर जो कार्यरत थे उन्हें सीमा पर भेजा जाय, इस उद्देश्य से नेताजी ने प्रमुख अधिकारियों के स्थानान्तरण किये। उनमें से एक थे श्रीमान् सहगल। एक रेजिमेन्ट के प्रमुख अधिकारी के रूप में सीमा पर उनकी नियुक्ति की गई थी।

जापानियों ने बड़ी संख्या में अपने सैनिकों को पीछे बुलाना आरम्भ कर दिया था। इण्डोचीन के फ्रैंच अधिकारी अंग्रेजों तथा अमेरिकनों के साथ मिल गए थे। उनकी सेनाएँ पैसिफिक में जितनी पास-पास आने लगी थीं, उतना ही उनका शत्रुपक्ष के साथ यातायात बढ़ने लगा था। जापानियों को इस बात का पता पहले ही चल चुका था। परन्तु अब स्थिति अधिक गम्भीर बन जाने के कारण इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया था।

उन्होंने इण्डोचीन में स्थित फ्रैंच अधिकारियों को बन्दी बनाकर राज्य-शासन को अपने हाथ में लेने का निश्चय किया। कहीं फ्रैंच अधिकारी इसका प्रतिकार न करें, इस उद्देश्य से अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए जापानियों ने ब्रह्मदेश की सीमा पर स्थित डिविजन को वहाँ से बुला लिया। परिणामस्वरूप ब्रह्मदेश की उत्तरी सीमा पर बहुत ही कम सेना रह गई थी।

श्री शाहनवाज सन् 1945 की जनवरी 15 को माण्डले में आ पहुँचे। अंग्रेजों की सेनाओं का जोर बहुत ही बढ़ गया था। उन्हें रोकनेवाला कोई था ही नहीं, ऐसी स्थिति आ गई थी।

नेताजी ने फरवरी 1945 को एक विशेष पत्रक द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता सेना के चार अधिकारियों को मेजर जनरल के पद पर नियुक्त किया। सर्वश्री जगन्नाथराव भोंसले, मुहम्मद अमान क्यानी, चटर्जी तथा लोकनाथन्। दिन पर दिन उत्तर ब्रह्मदेश की स्थिति अति विकट होने लगी थी। 1945 में युद्ध का अन्त हो जाएगा, ऐसा सब लोग समझने लगे थे। किन्तु जापानी सदा यही कहते रहे कि वे ब्रह्मदेश कभी भी नहीं छोड़ेंगे।

नेताजी फरवरी 1945 के मध्य में रंगून से पोपा चोक पाडांग विभाग के एकदम समीप जा पहुँचे। उधर अंग्रेजी सेना भी इस विभाग के एकदम समीप आ चुकी थी। परन्तु संकटों की चिन्ता किये बिना सीमा पर स्थित प्रदेशों की स्थिति का आकलन करने के लिए नेताजी स्वयं इन प्रदेशों में आए थे।

नेताजी के सहयोगियों तथा जापानी अधिकारियों ने भी उनको सुझाव दिया कि यहाँ पर आपका रहना भयावह है, शत्रु तेजी से आगे बढ़ रहा है, अतः आपको यहाँ से अन्यत्र जाना चाहिए। किन्तु नेताजी का कहना था कि मृत्यु को आना होगा तो वह कहीं भी आ सकती है। उससे डरकर भागने से वह टलेगी नहीं।

26 फरवरी को अंग्रेजों की सेना 'माहलेग' मेक्टिला से केवल दस मील की दूरी पर आ पहुँची थी। बीच में कोई भी सेना नहीं थी। नेताजी यहाँ पर घिर गए। फिर भी अपने लोगों की सहायता से बैलगाड़ी में बैठकर सिर पर कपड़ा बाँधकर किसान के रूप में गन्ने तथा धान के खेतों से निकलकर शत्रु के घेरे से बाहर हो गए।

28 फरवरी को स्वतन्त्रता सेना के क्रमांक दो डिविजन के चार मुख्य अधिकारी तथा उनके कुछ सहयोगी सीमा से भागकर सफेद रूमालों को हाथ में लेकर अंग्रेजों से जा मिले। कुछ ही दिनों के पश्चात् उनके हस्ताक्षर किये हुए पत्रक साम्राज्य सेना की ओर से हवाई जहाज से स्वतन्त्रता सेना की छावनियों पर डाले गए।

नेताजी ने जब यह समाचार सुना तो उनके क्रोध का पारावार नहीं रहा। उन्होंने स्वतन्त्रता सैनिकों को आदेश दे दिया कि यदि आज के बाद आप लोगों को सन्देह हो कि अमुक व्यक्ति इस प्रकार से विश्वासघात करनेवाला है तो उसे तुरन्त गोली मार दी जाए।

दिन-प्रतिदिन शत्रु-सेना निकट से निकट आती जा रही थी। यह देखते हुए रानी झाँसी पथक की 65 महिला सेनानियों को रंगून से बैंकाक भेज दिया गया। उनमें से बची हुई 45 महिलाओं को भी भेजने के विषय में जापानियों ने आश्वासन दिया था कि जब दूसरी गाड़ी आएगी, उसमें स्थान होने पर उनको उसके द्वारा भेज दिया जाएगा। उन दिनों रेलगाड़ियों से भी रंगून से बैंकाक की यात्रा 12 से 15 दिन में पूरी हो पाती थी, क्योंकि केवल रात को रुक-रुककर ही गाड़ी चलाई जाती थी।

उधर ब्रह्मदेश संरक्षक दल ने रात्रि के समय जंगलों में चोरी-छिपे जापानी सेना पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था। वह दल अंग्रेजों से जा मिला था। उन्होंने एक दिन इस रेलगाड़ी पर भी आक्रमण कर दिया। पथक की नायिका ने सबको वहीं डिब्बे में ही लेट जाने का आदेश दिया। गाड़ी के चारों ओर गोलियाँ बरसने लगी थीं। चालक ने गाड़ी की गति थोड़ी तीव्र कर दी। अब गोलियाँ डिब्बों को छेदकर भीतर पहुँचने लगी थीं। एक महिला सैनिक की आह निकल गई। दो मिनट के अन्तर पर एक अन्य की आह निकली। कुछ समय बाद गाड़ी जब आगे बढ़ गई तो गोलाबारी पीछे रह गई। तब अवसर जान महिला पथक की नायिका उसी प्रकार पेट के बल घिसटकर एक स्त्री सैनिक के समीप पहुँची और उसके सिर पर हाथ रखकर पूछा, ''ठीक हो ?'' उसने कहा वह ठीक है तो फिर सरककर आगे बढ़ी। दूसरी से पूछा। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते वह सबसे प्रश्न करती आगे बढ़ती रही और जब एक से प्रश्न का उत्तर नहीं मिला तो उसने इधर-उधर हाथ फेरा। उसका हाथ गरम रक्त से सन गया। उसके मुख से निकल गया, ''अरे रे!'' उधर एक अन्य सैनिक कराह रही थी। उसके कन्धे से गोली आरपार हो गई थी और कन्धे की हड्डी टूट गई थी।

जब उसको पता चला कि अब वे जंगल से निकल आए हैं और चारों ओर कोई खतरा नहीं है, तब गाड़ी को रोका गया। दो-तीन जापानी सैनिक भी घायल हो गए थे। रानी झाँसी पथक की एक सैनिक तो प्राणों से हाथ धो ही बैठी थी। कन्धे पर चोटवाली अब बेहोश होने लगी थी। गाड़ी रुकने पर सब लोग जंगलों में जाकर छिप गए। दोपहर होते-होते दूसरी स्त्री सैनिक भी मृत्यु का ग्रास बन गई। दोनों का उस जंगल में ही अन्तिम संस्कार कर दिया गया।

2 मार्च 1945 को नेताजी ने मुझे और जनरल भोंसले को बुलवाया। हम प्रातःकाल नेताजी के हवाई जहाज से टायपिंग विमानपत्तन पर आए। हमारे साथ जनरल लोकनाथन, ले०क० रोड्रिग्ज, श्री सरकार तथा सिपाही शिवसिंह भी थे। टायपिंग से निकलकर शाम तक बैंकाक पहुँचने का कार्यक्रम निश्चित हुआ था। किन्तु टायपिंग विमानपत्तन पर विमान में कुछ खराबी आ गई। उसके पहिए नीचे को खुल ही नहीं रहे थे। दस मिनट से सवा घंटा बीत गया, हमारा विमान टायपिंग पर चक्कर लगाता रहा। स्पष्ट दिखाई दिया कि अब विमान नीचे गिरेगा। लोगों ने कुर्सी की पट्टियाँ बाँध ली थीं।

विमानचालक अभी भी पहियों को नीचे लाने का प्रयत्न कर रहा था। उसने विमानपत्तन के इंजीनियर को बेतार के तार से सन्देश भेजा कि विमान में अमुक अड़चन आ रही है। किसी प्रकार कोशिश चलती रही और उन पहियों को किसी प्रकार पूरा नहीं तो एक-चौथाई नीचे करके विमान धरती पर उतर ही गया। आश्चर्य कि किसी को कोई खरोंच भी नहीं आई।

भोजनोपरान्त विमानचालक ने बताया कि विमान को ठीक होने में एक या दो दिन लग सकते हैं। उस विभाग के जापानी तथा भारतीय सेना अधिकारियों को जब दूरभाष से इसकी सूचना दी तो वे लोग चार-पाँच मोटरगाड़ियाँ लेकर आए और हम वहाँ से सौ-सवा सौ मील दूर पेनांग के 'प्राय' नामक स्थान पर शाम को सात बजे पहुँच गए। फिर पेनांग में दूरभाष द्वारा सूचित किया गया और वहाँ से मोटर-बोट के आने पर छोटी-सी खाड़ी को पार करके हमें पेनांग ले-जाया गया, जहाँ एक आरक्षित और सज्जित बँगले पर हमारे निवास की व्यवस्था थी।

हमें आठ दिनों तक उस स्थान पर रुकना पड़ गया था। हवाई जहाज के पूर्णतया ठीक होने में ही यह सब समय बीता था। इन आठ दिनों में जनरल भोंसले ने निकटस्थ सभी स्वतन्त्रता सेना की टुकड़ियों का मोटर द्वारा आ-जाकर निरीक्षण-परीक्षण किया।

दस तारीख की प्रातःकाल 9 बजे हम विमान में बैठकर वहाँ से आगे के लिए निकले। निश्चय किया गया कि अब बैंकाक में न रुककर सीधे रंगून जाया जाए। हमारा विमान विक्टोरिया प्वाइँट तक पहुँचा ही था कि रंगून से 'वायरलैस' द्वारा सूचना मिली कि एक सौ से अधिक अमेरिकन 'बी-29' हवाई जहाज उस दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। विमानचालक ने तुरन्त अपना विमान वापस घुमा दिया। दोपहर तीन बजे के करीब हम पुनः पेनांग वापस आ गए। रात्रि को पुनः उसी विश्राम-स्थल पर रुकना पड़ा।

ग्यारह मार्च के दिन फिर से दस बजे के लगभग हम हवाई जहाज पर आ

गए और किसी प्रकार दोपहर दो बजे तक हम बैंकाक हवाई अड्डे पर पहुँचे। विमान ठीक से उतर गया। बैंकाक में हमें टोकेडो होटल में ठहराया गया। हमें वहाँ चार दिन तक रुकना पड़ा था। एक तो हवाई जहाज पूरी तरह ठीक नहीं हुआ था, और दूसरे--अमेरिकन हवाई आक्रमण का खतरा भी सिर पर बना रहने के कारण आगे निकलना कठिन हो रहा था। एक दिन तो विमान में बैठने के लिए मैदान में निकले ही थे कि हवाई आक्रमण का सायरन बज उठा। चारों ओर बम-गोलों के धमाकों की भयावह ध्वनि सुनाई देने लगी। हमारी आँखों के सामने हवाई अड्डे पर खड़े कुल 37 विमान अग्नि की भेंट चढ़ गए थे। हमारे हवाई जहाज पर मशीनगन की 17 गोलियाँ लगी थीं। वह सदा-सदा के लिए खराब हो गया था।

15 मार्च को मैं तथा ले०क० रोड्रिग्ज और शिवसिंह बैंकाक से रंगून के लिए नये तैयार किये गए रेलमार्ग से निकले। जनरल भोंसले एक बॉम्बर हवाई जहाज में बैठकर रंगून गए थे। हमें रेलगाड़ी से इस यात्रा में बारह दिन का समय लगा। मार्ग की स्थिति बड़ी खराब होने के साथ-साथ भयावह भी थी। अनेक स्थानों पर कई-कई मील पैदल भी चलना पड़ा था।

बारह दिन की यात्रा करने के उपरान्त किसी प्रकार हम रंगून पहुँच गए। मार्च मास की 27 तारीख हो गई थी। उसी दिन नेताजी के साथ भोजन का सुअवसर मिला। उस समय उन्होंने यात्रा की सारी जानकारी मुझसे प्राप्त की।

माण्डले, मेमियो, मेक्टिला इत्यादि नगरों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया था। भारतीय स्वतन्त्रता सेना की विभिन्न टुकड़ियाँ सीमा पर युद्ध कर रही थीं। जापानी सेना बहुत बड़ी संख्या में पूर्व की ओर कूच करते हुए वापस जा रही थी।

इतने दिनों तक ब्रह्मदेश की रक्षा का काम जापानी सेना के एक विभाग के हाथ में था। उसके सैनिक पीछे हटते हुए स्याम की ओर जाने लगे। उसके स्थान पर चीन की सीमा पर लड़नेवाली जापानी सेना की कुछ टुकड़ियाँ आ गई थीं।

डॉक्टर लक्ष्मी तथा उनके साथ के अन्य दो-तीन व्यक्तियों के साथ अनेक प्रकार की दुर्घटनाएँ हुई थीं। ये लोग अपने साथियों से अलग हो गए थे। एक बार तो उनको मार डालने का प्रयास किया गया, किन्तु उन्होंने किसी प्रकार उन सैनिकों को विश्वास दिलाया कि वे भारतीय स्वतन्त्रता सेना के सैनिक हैं। किसी के पास नेताजी के चित्रवाला बैज था, उसने वह दिखाया, तब कहीं जाकर स्थिति नियन्त्रण में आई और उन सबकी जान बची। उन लोगों ने बताया कि हमारे पीछे और भी टुकड़ियाँ आ रही हैं। यदि आप लोग उनके हाथ लग गए तो वे आपको छोड़ेंगे नहीं।

9 अप्रैल 1945 के दिन अचानक अंग्रेजी साम्राज्य की सेना यामेथीन नामक गाँव में आ पहुँची। यह गाँव रंगून-माण्डले मार्ग पर रंगून से लगभग 250-300 मील की दूरी पर था। यहाँ पर मार्च में ही इण्डोचीन की फ्रैंच सत्ता समाप्त हो गई थी। जापानियों ने सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली थी।

अंग्रेजों की सेना दिन-प्रतिदिन निरन्तर आगे बढ़ रही थी। पश्चिम दिशा से किनारों से होकर वह रंगून की ओर बढ़ती हुई आ रही थी। सन् 1945 के अप्रैल मास के तृतीय सप्ताह में 'हिकारी किकान' के मुख्य अधिकारी ने नेताजी को बताया कि वे लोग अब रंगून छोड़ देने का विचार कर रहे हैं। आप अपने विषय में क्या निर्णय लेना चाहते हैं, विचार कर लीजिए।

रानी झाँसी पथक की 45 महिला सैनिक तब तक रंगून में ही थीं। ब्रह्मदेश में ही जिनके घर थे उन्हें दो-दो तीन-तीन मास का अवकाश देकर अपने-अपने अथवा उनके रिश्तेदारों के घरों को भेज दिया गया था। शेष सब मलय देश की थीं। अनेक बार उनको रंगून स्टेशन पर जाकर वापस आना पड़ा था क्योंकि उनके लिए आरक्षित स्थान पर जापानी सैनिक भेज दिए गए थे।

नेताजी ने उस जापानी अधिकारी से पहले उन महिला सैनिकों के मलय भेजने की व्यवस्था के विषय में कहा। नेताजी का कहना था कि जब तक उन महिलाओं के जाने की ठीक व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक कोई भी पुरुष भारतीय स्वतन्त्रता सैनिक यहाँ से नहीं जाएगा।

इस प्रकार दिन बीतने लगे और अप्रैल की 22 तारीख आ पहुँची। रंगून नगर का एक-चौथाई भाग तो कभी का हवाई आक्रमण के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। हवाई आक्रमण के डर से दिनभर वहाँ किसी प्रकार की कोई हलचल नहीं होती थी। सूर्यास्त होने के बाद लोग बाहर निकलते थे। अनेक लोग रंगून छोड़कर चले गए थे।

22 तारीख की रात को नेताजी जनरल भोंसले के घर में भोजन करने के लिए आए। रात को दस बजे से लेकर बारह बजे तक वे वहाँ रहे। 23 तारीख को देखा गया कि सारे जापानी अपना-अपना सामान बाँधकर जाने की तैयारी कर रहे हैं। बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी अथवा पीठ पर ही सामान लादकर ये लोग वहाँ से जाने लगे थे।

जापानियों के विरोध में खड़े हुए ब्राह्मी सैनिक अब नगर में घुसकर वापस जानेवाले जापानी सैनिकों पर छिपकर गोलियाँ चलाने लगे थे।

23 तारीख की शाम को रंगून शहर की 'काली बस्ती' से, जहाँ पर भारतीय लोग रहते थे, वहाँ से मैं वापस आ रहा था। स्टेशन के पास के आम रास्ते पर

दिनभर मजदूरी करके शाम को वापस अपने घर को लौट रहे अनेक तमिल लोग मुझे दिखाई दिए। उनके सिरों पर कुछ-न-कुछ सामान लदा था। मुझे सैनिक वेश में देखकर डरते-डरते वे मेरे पास आए। उन्होंने मुझसे कहा, "दूर पर उस कोने में एक ब्राह्मी आदमी खड़ा है और वह आने-जानेवालों को लूट रहा है।"

मैं उस आदमी की ओर बढ़ा तो उनमें से कुछ लोग भी मेरे पीछे-पीछे आ गए। मोटे कपड़े का गरम कोट पहने एक ब्राह्मी आदमी वहाँ पर खड़ा था। उसके पास एक छोटी-सी बेंत की छड़ी थी। वहाँ जानेवाले मजदूरों की वह तलाशी ले रहा था। एक की तलाशी लेते हुए दूसरे मजदूर को अवसर मिलता था तो वह उसकी नजर बचाकर आगे निकलने का यत्न करता था। वह अकेला था और ये इतने होने पर भी उसको मार भगाने के लिए उद्यत नहीं हुए थे। किसी में यह साहस न हुआ।

मैं जब वहाँ पहुँचा तो अनेक तमिल श्रमिक मेरे पीछे आकर खड़े हो गए। सब लोग अपना-अपना दुखड़ा रोने लगे। सब उसकी शिकायत कर रहे थे। उन सब लोगों में केवल एक व्यक्ति के पास पाँच रुपए निकले थे जिन्हें उसने ले लिया था।

मैं ब्राह्मी के पास गया और उसको डाँटकर कहा कि वह उस व्यक्ति के रुपए वापस कर दे। पहले तो उसने हिन्दी भाषा न समझने का ढोंग रचा, किन्तु मैंने उसे फिर डाँटा और कहा कि वह उसके पैसे वापस कर दे।

उसने सिर से पैर तक मुझे देखा। जब उसने मेरी कमर में लटकती पिस्तौल देखी तो उसने रुपए निकालकर चुपचाप उसको दे दिए। बाद में जैसे ही मैं जाने लगा तो फिर वह आदमी उन सबके पीछे पड़ गया और वे लोग भी उसको भगाने की अपेक्षा मदद के लिए चिल्लाने लगे।

मैं वापस मुड़ा और उस गुण्डे के पास जा उसे डाँटकर कहा कि वह वहाँ से भाग जाए। उसे डर लगा और वह वहाँ से भाग गया। मुझे उन श्रमिकों पर बड़ी दया आ रही थी। हम भारतीय लोग इतने दुर्बल मन के हैं कि हम गिनती में चाहे कितने भी क्यों न हों, फिर भी किसी पराए व्यक्ति के सम्मुख बिल्कुल भीगी बिल्ली बन जाते हैं। वह चाहे हमें लूटे, खसोटे, मारे, फिर भी हम सहायता के लिए चिल्लाते रहेंगे। प्रतिकार-क्षमता, स्वाभिमान का अवशेष भी हममें नहीं रहा। इससे अधिक अध:पतन हमारा और क्या होना बचा था!

अध्याय पच्चीस

परावर्तन

ब्रह्मदेश में भारतीय स्वतन्त्रता सेना की दो डिविजन रह गई थीं। जितना आवश्यक था उतने सैनिकों की संख्या तथा आवश्यक युद्धसामग्री न होने के कारण ब्रह्मदेश से लौटना पड़ेगा—यद्यपि यह बात निश्चित की गई थी, फिर भी सीमा से वापस लौटने के लिए जितनी आवश्यक थीं उतनी मोटर गाड़ियाँ तथा अन्य वाहन उपलब्ध नहीं थे। अतः कोई भी रंगून नहीं पहुँच पाया। अंग्रेजों की सेना चारों ओर से आगे आ गई थी, इस कारण सीमा पर स्थित स्वतन्त्रता सेना की एक-एक टुकड़ी उनके घेरे में आ गई थी। अब केवल मलय में स्थित स्वतन्त्रता सेना की एक डिविजन बच गई थी।

अपनी इतनी सारी सेना ब्रह्मदेश में रह गई थी। अतः नेताजी के मन में था कि उनको भी साथ रंगून में ही रहना चाहिए तथा वैसा उन्होंने निश्चय भी कर लिया था। परन्तु उनके मन्त्रिमण्डल के सहकारियों ने, विशेषतया जगन्नाथराव भोंसले ने उनसे बार-बार कहा कि आप जहाँ कहीं भी सुरक्षित होंगे तो हम दूर पूर्व में स्थित अन्य भारतीय लोगों की सहायता से इस आन्दोलन को फिर जीवित कर लेंगे। यदि ब्रह्मदेश चला भी गया तो क्या हुआ! परन्तु यदि आप अंग्रेजों के हाथ पकड़े गए तो यह सारा आन्दोलन ही ठप हो जाएगा।

वास्तव में अप्रैल मास की 23 तारीख की रात को ही नेताजी को निकल जाना था, क्योंकि जापानी अधिकारियों ने बताया था कि शत्रु शीघ्रता से रंगून की ओर बढ़ रहा है। उसे मार्ग में ही रोकने अथवा रंगून की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं हो सका है। जापानियों का इस प्रकार का कोई विचार भी नहीं था। उन्होंने नेताजी को 24 घंटे के भीतर अपने जाने के विषय में बताने को कहा था, अन्यथा भविष्य में क्या होगा इस विषय में कोई कुछ नहीं कह सकता।

रंगून की उत्तर दिशा में पेगु नामक नगर है। रंगून से दक्षिणी ब्रह्मदेश में जाने के लिए इस नगर से होकर जाना होता था। अंग्रेज दक्षिण की ओर से ही

रंगून की ओर बढ़ रहे थे, अतः निश्चित ही उनके पहुँचने से पूर्व नेताजी आदि को वहाँ से निकल जाना आवश्यक हो गया था।

इस आग्रह के अन्तर्गत नेताजी ने रंगून छोड़कर स्याम की राजधानी बैंकाक जाने का निश्चय किया। किन्तु उनका कहना था कि झाँसी रानी पथिक के सैनिकों के जाने के उपरान्त ही वह यहाँ से जाएँगे। इस प्रकार 23 तारीख आ गई। रंगून नगर में स्वतन्त्रता सेना की संख्या मात्र पाँच हजार ही थी। इन सबको वहाँ से निकालने के लिए पर्याप्त वाहन भी नहीं थे। इसके साथ ही ब्रह्मदेश के जिन भारतीय नागरिकों ने अपने अभूतपूर्व त्याग से स्वतन्त्रता आन्दोलन को यह स्वरूप दिया था, उनकी रक्षा का दायित्व ऐसे संकट के समय में स्वतन्त्रता सेना पर ही था। जापानी सेना तो पलायन कर रही थी।

ब्रह्मी लोगों ने भारतीय और जापानी दोनों के विरुद्ध शस्त्र उठा लिये थे। ब्रह्मदेश का सारा व्यापार तथा वरिष्ठ नौकरियाँ भारतीय लोगों के पास ही होने के कारण ब्रह्मी लोग उनसे ईर्ष्या करते थे। वे जापानियों के विरुद्ध थे किन्तु भारतीय लोग जापानियों का साथ दे रहे थे, यह दोहरा कारण उनका भारतीयों के प्रति द्वेष का बन गया था।

सन् 1942 में जब जापानी लोग जीत रहे थे और जब अंग्रेज रंगून से पलायन कर गए थे, उन आठ दिनों तक रंगून में किसी का भी राज्य नहीं था। आठ दिन बाद जापानियों ने उस पर अधिकार किया था। उस युद्ध की अवधि में अनेक भारतीय लोग मारे गए और अनेक लोगों के घरबार नष्ट हो गए तथा वे निर्धनावस्था को पहुँच गए थे। इस सबका ध्यान करते हुए नेताजी ने जाते हुए जनरल लोकनाथन को रंगून का दायित्व सौंपते हुए कहा था कि ये पाँच हजार स्वतन्त्रता सेना के जवान आपके पास हैं। इनके सहारे यहाँ पर स्थित भारतीयों की रक्षा का दायित्व अब मैं आपको सौंपता हूँ।

झाँसी रानी पथक के सैनिकों के लिए जापानियों ने तीन मोटर लारियों की व्यवस्था की थी। उसमें पैट्रोल से भरे कुछ पीपे भी रख दिए गए थे। केवल आवश्यक सामान लेकर जाने का आदेश दिया गया।

24 तारीख की शाम को नेताजी के निवास-स्थान पर उनके साथ कौन-कौन जाएगा इस विषय पर विचार-विमर्श हुआ। लगभग साढ़े तीन बजे जनरल भोंसले ऊपर से नीचे आए और बोले, ''चलिए, हमें जल्दी ही निकलना है।''

हम अपने स्थान पर गए और समीप में चटर्जी के बँगले पर जाकर उनको तैयार होने को कहा। उनके साथ उनके दो सचिव भी थे। मैंने अपने स्थान पर जाकर कुछ आवश्यक सामान समेटा। प्रातःकाल करीब साढ़े चार-पाँच बजे हम

नेताजी के निवास-स्थान पर जाने के लिए निकलनेवाले ही थे कि तभी सन्देश आया—क्योंकि अब सूर्योदय होनेवाला है, अतः अब न निकलकर रात्रि में यहाँ से निकलेंगे।

शाम के छः बजे जनरल भोंसले, मैं, शिवसिंह, हमारा मोटर-चालक निकल पड़े। मुख्य कार्यालय में जाकर सब लोगों से विदा माँगी। शाम के सात बजे के लगभग हम लोग नेताजी के बँगले पर पहुँच गए। रानी झाँसी पथक के सैनिकों की मोटरगाड़ियाँ भी हमारे पीछे-पीछे चलनेवाली थीं। लोग नेताजी के बँगले पर एकत्रित होने लगे।

उस समय लगभग पच्चीस-तीस अधिकारी, तीन सौ सैनिक तथा रसोइए आदि मिलाकर हम कुल चार सौ के लगभग व्यक्ति हो गए थे। पाँच-छः कार्यकर्त्ता स्वतन्त्रता संघ के भी उसमें सम्मिलित थे। नेताजी ऊपर अपनी छत पर लोगों से विचार-विमर्श कर रहे थे। हम सब लोग नीचे प्रतीक्षा में थे कि तभी एक विमान आकर मशीनगनों की मार करता हुआ सर्र से आगे निकल गया। नेताजी आदि थोड़े-से अन्तर से ही उस आक्रमण में बच पाए थे। नेताजी चर्चा में लीन रहे।

24 अप्रैल 1945 के दिन आधी रात को नेताजी ने रंगून-स्थित अपना निवास-स्थान छोड़ा। रंगून में पीछे रहनेवाले सैनिकों, अधिकारियों, रोगियों आदि-आदि की सारी व्यवस्था के लिए अनेक लोगों को पीछे रख छोड़ा था। पीछे रहनेवाले लोगों से बड़े दुःखभरे हृदय से नेताजी ने विदा ली।

पाँच मोटरकारों और पाँच लारियों में सटकर बैठकर हम लोग निकले। हर लारी में 30-35 व्यक्ति बैठे थे। आधी रात का समय हो चला था। आगे के मार्ग में जहाँ पर तय हुआ था वहाँ रानी झाँसी पथक के सैनिकों की लारियाँ आदि हमारी प्रतीक्षा में रुकी हुई थीं। वहाँ से हम सब लोग साथ-साथ आगे बढ़े। सब लोग पेंगू नगर की ओर प्रस्थान कर रहे थे। रात्रि की निस्तब्धता में पदचाप, मोटरों की गति की ध्वनि, सेनानायकों के आदेश आदि फिर भी सुनाई पड़ ही जाते थे। नेताजी की मोटरकार काफिले के सबसे पीछे लगी हुई थी। वे चाहते थे कि उनके सामने ही सब आगे निकल जाएँ, कोई पीछे न रह जाए, इसलिए उन्होंने अपनी गाड़ी पीछे लगवा ली थी। बीच-बीच में गाड़ियाँ खराब होती रहती थीं, उससे मार्ग अवरुद्ध हो जाता था। नेताजी स्वयं उतरकर स्थिति का आकलन करते थे।

इस प्रकार चलते हुए प्रातःकाल तीन बजे हम लोग पेगू नगर पहुँचे। सारा शहर धू-धू कर जल रहा था। पेगू में तो औषधि मिलने की सम्भावना रही नहीं थी। दूसरे दिन पाँच बजे हम यागी नामक गाँव में पहुँचे। दिनभर चोरी-छिपे रहना

था, अतः लारियों को पेड़ों के झुरमुट में छिपाने की व्यवस्था की गई। उन्हें टहनियों और पत्तों से ढक दिया गया। गाँव के लोगों से मित्रता करके आँगनों में चूल्हे जलाकर हर टुकड़ी ने अपना-अपना खाना बनाया। जो खाद्य-सामग्री ऐसे स्थानों पर मिलती थी, उसे ले लेते थे और अपनी सामग्री को सुरक्षित रखने का हम यत्न करते।

दिनभर हवाई जहाज आते-जाते रहे, बमवर्षा भी करते रहे। नेताजी सहित सभी लोग झोंपड़ियों अथवा पेड़ों की आड़ में छिपे रहते थे।

रात को पुनः हम वहाँ से चले। दो बजे थे। अचानक हमारा काफिला रुक गया। सामने मैदान कीचड़ से भरा था और उसके पास नदी का पुल आक्रमण के कारण नष्ट हो गया था। किसी प्रकार कीचड़-भरे मैदान से लारियों को घसीटकर हम नदी-तट पर ले आए थे।

जिस नदी पर हम रुके थे वह 'बाव' नदी थी। शत्रु की सेना हमसे केवल चालीस मील की दूरी पर है, ऐसी सूचना मिली थी। घंटे-डेढ़ घंटे में शत्रु हमारे पास पहुँच सकता था। हमने निश्चय किया कि लारियाँ तथा उनमें रखा सामान उसी प्रकार छोड़कर हम नदी पार कर लें। नदी की धारा बीच में बहुत तीव्र दीख रही थी। हमारे जो लम्बे सैनिक थे उनको एक-एक किनारे पर तथा कुछ को बीच में नदी में खड़ा किया गया। पहले रानी झाँसी पथक की महिलाओं को एक-दूसरे को पकड़ते हुए उन्हें नदी पार कराया गया। यहाँ पर कुछ जापानी सैनिक भी अपने-आप नदी पार कर रहे थे। कपड़े उतारकर सिर पर रख लिये थे। मैं ज्वर तथा नदी के वेग के कारण नदी में पैर नहीं टिका पा रहा था। तदपि किसी प्रकार पार पहुँच ही गया।

लारियाँ तो उस पार रह गई थीं। केवल अपने शरीर के कपड़ों को लेकर हम आगे की यात्रा किस प्रकार पूर्ण कर पाएँगे यह विचार चिन्ताजनक था। तभी एक डॉक्टर ने कहा, "किसी में साहस है कि हम पुनः उस पार जाएँ और अपना कुछ सामान भी ले आएँ?"

मैं उस डॉक्टर के साथ नदी लाँघकर उस पार चला गया। कुछ समय तो अपनी लारी ढूँढने में ही लग गया। ज्वर तीव्र था, इससे मुझे अपनी वस्तुओं का भी होश नहीं रह पा रहा था। मेरा सामान बहुत अन्दर चला गया था। उसे ढूँढकर बाहर निकालने में मुझे बीस-पच्चीस मिनट लग गए। मेरे साथ आया अधिकारी अपना सामान कब का ले-जा चुका था। मैंने अपना कुछ हल्का-सा सामान फिर एक बार सिर पर रखा और नदी पार करने लगा। मैं डावाँडोल हो रहा था। सन्तुलन बनाए रखना कठिन हो रहा था।

तभी मेरे पीछे से कुछ जापानी सैनिक बैलगाड़ी हाँकते हुए आए। मैंने अपना सामान बैलगाड़ी पर रख दिया और उसको पकड़कर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। आगे एक स्थान पर नदी बहुत गहरी हो गई थी। मेरी पेटी उस पानी में भीग गई थी। गाड़ी के किनारे पर पहुँचकर अपनी पेटी को सिर पर रख पैदल आगे के लिए चल दिया।

यत्र-तत्र-सर्वत्र सैनिक ही सैनिक दिखाई दे रहे थे। कुछ काम कर रहे थे तो कुछ पहरा दे रहे थे। मैं उस स्थान पर आया जहाँ अपने कपड़े रख गया था। हमारे लोग कहीं भी दिखाई नहीं दिए। मेरे नदी पार वापस जाते समय उनको चलते हुए मैंने देखा था, किन्तु वे लोग किधर गए होंगे इसका अनुमान लगाना कठिन हो गया था। किसी प्रकार कपड़े पहने और पेटी उठाकर चलने लगा कि ठंड के कारण चलना दूभर हो गया।

प्रात:काल के तीन-चार बज रहे होंगे। मार्ग में पास ही कुछ झोंपड़ियाँ थीं। मैंने सोचा कि प्रात:काल होने तक यहीं रुका जाए और सूर्योदय होने पर अपने लोगों को ढूँढा जाए। मैं एक झोंपड़ी के समीप गया। मैं इतना थक चुका था कि मैंने यह देखने का भी साहस नहीं किया कि भीतर कोई है भी कि नहीं। रिमझिम वर्षा हो रही थी। मैं झोंपड़ी के चबूतरे पर लेट गया। इस प्रकार दो-तीन घंटे तक बेसुध पड़ा रहा। जब शरीर पर धूप पड़ने लगी तो मैं उठा। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो हममें से एक-दो सैनिक जाते हुए दिखाई दिए। तब विदित हुआ कि वे लोग भी आस-पास की झोंपड़ियों में टिक गए थे।

मेरी पेटी का सारा सामान भीग चुका था। उससे दुर्गन्ध आने लगी थी। मैंने सब-कुछ धूप में सूखने के लिए डाल दिया। जैसे ही नित्य कर्म से निवृत्त होकर आया कि शत्रुओं के दो-तीन विमान आते हुए दिखाई दिए। बाहर सुखाए कपड़े सबने अन्दर कर लिये। सब सैनिक झोंपड़ियों में आकर बैठ गए। सर्वत्र शान्ति छा गई।

विमानों के निकल जाने पर बाहर निकलकर मैंने देखा कि मेरी पास की झोंपड़ी में डॉक्टर महादेव रामचन्द वाम उपस्थित थे। दोपहर और शाम को उनके नौकर ने चावल-दाल बनाई, वही हम लोगों ने खाई। मैं जिस झोंपड़ी में था उसमें दो बोरे चावल रखे थे। मैंने गोदाम अधिकारी को इसकी सूचना दी। शाम को जाते समय एक लारी में हमने वे बोरे डाल लिये। आगे की नदी भी किसी प्रकार आधे टूटे पुल के सहारे पार कर ली। हमारी दो लारियाँ तो मशीनगनों की भेंट चढ़ चुकी थीं, शेष को किसी प्रकार नावों पर चढ़ाकर पार लगाने का यत्न किया। एक-एक लारी को पार लगाने में एक घंटे का समय लग जाता था। किसी

प्रकार रात के बारह बजे तक यह कार्य हो पाया। अब हमारे पास आठ की अपेक्षा पाँच लारियाँ बच पाई थीं। उनसे ही काम चलाया गया।

सब लोगों को चार-पाँच भागों में बाँटकर 35-40 मील परे सतांग नदी और ससी नाम के गाँव पर जाकर रुकने का निश्चय कर हम आगे बढ़े। एक-एक टुकड़ी को उतनी दूर छोड़कर लारी वापस आती थी, फिर दूसरी टुकड़ी को ले जाती थी।

सबकी व्यवस्था हो गई है, सब लोग आगे निकल गए हैं, जब नेताजी को इसका ज्ञान हुआ तो आगे जाने की हमारी बारी आई, किंतु तब तक प्रातःकाल के छः बज गए थे। दो घंटे तक हम आगे बढ़ते रहे। रास्ते में अनेक कठिनाइयाँ आईं। कहीं नाला तो कहीं गड्ढे। मार्ग की रुकावटों के कारण आगे गई अन्य लारियाँ वापस ही नहीं आ सकी थीं। हमारी ही लारी में नेताजी भी आगे चालक के समीप बैठे हुए थे। आगे के नाले को हमने पत्थरों से पहले भरा, फिर उसमें से लारी को निकाला।

आगे और बाधाएँ आने लगीं। धूप तेज हो गई थी। हम खुले मैदान में आ गए थे। हवाई आक्रमण से बचने को छिपने के लिए कोई पेड़ भी समीप नहीं था। आगे ज्यों-ज्यों रुकावटें आतीं, हम लारी से उतरकर पैदल चलने लगते। जब हवाई जहाज की आवाज सुनाई देती तो किसी प्रकार घास में औंधे लेटकर जान बचाने का यत्न किया जाता। चलने और लारी को धकेलने से हम लोग थकान से चूर और पसीने से तर हो गए थे।

नदी दो मील दूर रह गई थी। एक पेड़ के नीचे नेताजी के साथ हम एक-दो लोग लारी की प्रतीक्षा में बैठ गए। थोड़ी देर बाद जब लारी आई तो उसमें बैठकर सभी ने गाँव की ओर प्रस्थान किया। इस गाँव से दो फर्लांग पर सतांग नदी थी, जिसका पुल कभी का तोड़ दिया गया था। उस पुल पर से पहले रेलगाड़ी तथा अन्य वाहन आते-जाते थे। लारी को एक स्थान पर खड़ा करके उसमें आवश्यक सामग्री लेकर हम गाँव में गए। वहाँ एक झोंपड़ी में जाकर टिक गए।

झोंपड़ी में कुछ क्षण आराम करने के उपरान्त सब लोग अपने नित्य कर्म आदि में लग गए। मैंने भी कई दिनों से स्नान नहीं किया था। वहाँ पर कुएँ थे। एक कुएँ पर जाकर स्नान किया। दोपहर के समय नदी पर कपड़े धोने के लिए जाने लगा तो समीप दिखाई देनेवाली नदी उतनी समीप नहीं थी। मैं नदी के समीप कीचड़ में आगे बढ़ रहा था। मेरे ऊपर से दो-तीन हवाई जहाज निकल गए थे। उनका लक्ष्य नदी के उस पार हमारे तोपखाने पर था। मेरे लिए वहाँ पर छिपने

को न घास थी और पेड़। कीचड़ था। मैंने चारों ओर नजर दौड़ाई। मेरे पीछे करीब 50 गज की दूरी पर एक लकड़ी का टुकड़ा पड़ा हुआ था। मैं उसके समीप गया। मैं उसके पास जाकर आधा लेट गया। आधे घंटे बाद विमानों का आना-जाना रुक गया। मैंने नदी पर पहुँचकर जल्दी से कपड़े आदि धोकर वापस जाने का विचार किया।

मैं नदी में घुसा, किन्तु उसमें खड़ा रहना असम्भव हो गया। कीड़े और मछलियाँ पैर काटने लगीं। मैं डरकर यों ही बाहर निकल आया। नदी के समानान्तर सौ-डेढ़ सौ गज की दूरी पर एक धारा साफ पानी की दिखाई दी। जब मैं उसमें घुसा तो उसमें भी उसी प्रकार मेरे पैरों को कीड़े-मकोड़ों ने काट डाला।

किनारे पर दो नावें खड़ी थीं, मैंने उन पर अपने कपड़े रख दिए। मैं स्नान करने ही वाला था कि मुझे फिर से पीछे की ओर से हवाई आक्रमण की आवाजें आने लगीं। वे जहाज उस गाँव पर बम बरसाकर चले गए जिस गाँव में हम विश्राम करने के लिए रुके थे। मैं सोच रहा था कि कहीं कोई हममें से घायल न हो गया हो।

मैं स्नान करके तथा कपड़े धोकर वापस आया। नेताजी दोपहर की नींद के बाद अभी उठे थे। हमारे साथ की महिलाओं ने खाना बनाया था। उसे उन्होंने हमारे लिए परोस दिया।

नेताजी के पास जब थाली आई तो उन्होंने हम सबसे कहा, ''मैं प्रयास तो इसी बात का कर रहा हूँ कि महिलाओं को इसके बाद केवल चूल्हे के पास बैठकर सारा जीवन न बिताना पड़े। किन्तु फिर भी अन्त में खाना पकाने का काम उनके सिर पर ही मढ़ा जाता है।'' तीन बज गए थे, अतः हमने दोनों समय का भोजन एक ही समय कर लिया।

सूर्यास्त होने पर सैनिक दिखाई देने लगे थे। नदी के उस पार जाने के लिए केवल एक ही नाव थी। उस मोटरबोट से एक लकड़ी का तख्ता बाँधकर उसमें से सैनिकों को दूसरी ओर ले-जाया जाता था। सतांग नदी की दूसरी ओर इस तख्ते पर मोटरकारें, लारियाँ आदि चढ़ाकर पार ले-जाना सम्भव नहीं था। हजारों सैनिक पार जाने के लिए वहाँ पर खड़े थे। जापानी जनरल ने किसी हमारी टुकड़ी को पार करवाने की व्यवस्था के लिए कहा। वह रात हमने इस गड़बड़ी में उसी झोंपड़ी में गुजारी। उस रात को सन्देश आया कि प्रातःकाल तीन बजे निकला जाए। हमने अपना-अपना सामान कन्धे पर रखा और आगे के लिए चल दिए, क्योंकि किसी लॉरी के आने की कोई सम्भावना नहीं थी।

मोटरबोट लगभग डेढ़ मील के अन्तर पर थी। वहाँ पहुँच हमने नदी पार

कर ली और फिर अपने मार्ग पर चल पड़े। प्रातःकाल चार बजे से छः बजे तक सामान लादे हुए हम उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पर हमारी विमान-रोधक तोपों की छावनी थी। सब लोग थक गए थे।

इस छावनी में जिस ओर से प्रवेश किया जाता था, उसके आरम्भ में एक कुआँ था। छावनी एक बँगले में थी। उस बँगले में कमरे आदि नहीं थे। एक भण्डारगृह था। उसके समीप पहाड़ी पर एक-दो झोंपड़ियाँ थीं।

नेताजी आ रहे हैं—यह समाचार मिलने पर टुकड़ी का प्रमुख अधिकारी अपने सहायकों के साथ मोटरबोट के स्टेशन पर स्वागत के लिए पहुँचा हुआ था। बँगले के आँगन में एक गलीचा बिछाया गया। उस पर नेताजी को बैठाया गया। उनके आसपास हम लोग भी बैठ गए। नेताजी उस टुकड़ी के अधिकारियों के साथ वार्त्तालाप कर रहे थे। हम लोगों में कोई झपकियाँ ले रहा था तो कोई सो रहा था। उस टुकड़ी के अनेक लोग विषम ज्वर से भी पीड़ित थे। औषधि के नाम पर कुछ भी नहीं था।

दिन का उजाला होने पर हम सबको किसी झोंपड़ी अथवा पेड़ के नीचे आश्रय लेने के लिए कहा गया। पास की एक झोंपड़ी में नेताजी के रहने की व्यवस्था की गई थी। हम लोग नित्यकर्म आदि करने चले गए। वहाँ पर अनेक जापानी सैनिक चावल बीनने में लगे थे। मेरे मन में विचार कौंधा कि यदि किसी गश्त लगानेवाले विमान ने इतने जापानी सैनिकों को यहाँ पर देख लिया तो निश्चय ही मध्याह्न के समय वे बमवर्षा कर सकते हैं।

उस दिन वहाँ पर किसी प्रकार व्यवस्था करके चावल की खीर बनाई गई थी। थोड़ी-सी खीर खाकर मैं अपने बिस्तर पर आ गया। किन्तु उस पर तो कोई अन्य जवान लेटा हुआ था। उसने मुझसे उस पर लेटने के लिए क्षमा माँगी और मैं भी उसके साथ ही बराबर में लेट गया।

दोपहर डेढ़ बजे के करीब हवाई जहाजों की आवाजें सुनाई देने लगी थीं। हवाई जहाज एकदम नीचे आकर मशीनगनों और तोपों के गोलों से हम पर गोलीबारी करने लगे। वे छत के समीप आकर सर्र से निकल जाते थे। उनकी कर्कश ध्वनि और भी भयानक होती थी। गोलों के विस्फोट के साथ सारी धरती हिल उठती थी। ऐसा लगने लगा था कि जिस छप्पर के नीचे हम लेटे हुए थे वह अब गिरा कि तब गिरा। भयभीत मन से हम यह सब देख-सुन रहे थे। एक हवाई जहाज आता, अपना काम कर दूर निकल जाता। उसके पीछे दूसरा आता, इस प्रकार क्रम चलता रहा। हमें कुछ लोगों ने परामर्श दिया कि वहाँ से निकलकर सुरंग में चला जाए। किन्तु हमने इसे उचित नहीं समझा था। ऊपर सुनाई देनेवाली

आवाज़ से हमने यह अनुमान लगा लिया था कि यह छः हवाई जहाजों की टुकड़ी है।

जैसा कि मेरा अनुमान था, सुबह कुएँ के निकट फैले हुए जापानी सैनिकों को उन्होंने देखा होगा और उन्हीं की टोह में वे यह आक्रमण कर रहे थे। कदाचित् यह हमारा सौभाग्य ही था कि उस दिन हम आक्रमण से बच गए थे। यह भी सौभाग्य की बात थी कि उस दिन उन आक्रमणकर्त्ताओं के पास जो बम थे वे साधारण हथगोले थे, बम नहीं। एक हथगोला मेरे समीप लेटे व्यक्ति के पैर पर पड़ा। उसके मुख से ओह की ध्वनि निकली और फिर वह अपने पैर को पकड़कर बैठ गया।

हवाई जहाज आगे निकल गया। उसके वापस आने में दो-ढाई मिनट का समय लगा, उसमें हमारा साथी उठकर बैठ गया था। उस घाव से रक्त बहने लगा था। हमने शमशेर सिंह को डॉक्टर मेनन को बुलाने के लिए कहा। वह बाहर गया ही था कि हवाई जहाज ने फिर से आकर गोलीबारी आरम्भ कर दी। मेरे साथी की पीड़ा बढ़ती जा रही थी। उसने जिस स्थान पर कसकर पकड़ा हुआ था, उस स्थान पर मुझसे कसकर पकड़ने के लिए कहा। मैंने वैसा ही किया, किन्तु उसकी पीड़ा बढ़ती जा रही थी।

ऊपर आक्रमण चालू था। मैं उसकी जाँघ को कसकर पकड़े हुए था। गोलियाँ अन्दर आकर आसपास गिर रही थीं। इस प्रकार डेढ़ घंटे तक यह आक्रमण चलता रहा था। अन्त में पाँच मिनट बीत जाने पर भी जब विमान वापस नहीं आए तो सब लोग बाहर निकलकर आए। शमशेर सिंह ने घायल व्यक्ति को डॉक्टर के पास चलने के लिए कहा। उसने उसे अपनी बाहों पर उठा लिया। उस स्थिति में जो सम्भव था, उस प्रकार की चिकित्सा डॉक्टर मेनन ने की और फिर पट्टी बाँध दी।

उसके रक्त से मेरा बिस्तर सन गया था। नेताजी सबको सुरंग में भेजकर स्वयं अपनी झोंपड़ी में कार्य करते रहे थे। उनसे भी सुरंग में चलने का जब आग्रह किया गया तो उनके मुख से सहसा निकल गया, "आप लोग चिन्ता मत कीजिए। मुझे मार गिरानेवाला कोई हवाई जहाज अभी अंग्रेजों और अमेरिकनों द्वारा निर्माण नहीं किया गया है।" तदपि बहुत आग्रह करने पर कुछ देर बाद वे भी सुरंग में आ गए थे।

जब हवाई आक्रमण थम गए तो सबसे पहले बाहर आकर नेताजी ने सबका समाचार जानना चाहा। उस आक्रमण में केवल एक ही व्यक्ति घायल हुआ था, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। यात्रा के मध्य आनेवाली बार-

बार की रुकावटों के कारण उसका घाव लगातार बिगड़ता जा रहा था, क्योंकि चिकित्सा की कहीं समुचित व्यवस्था थी ही नहीं। किसी प्रकार मोलमीन पहुँचने पर उसको वहाँ सरकारी अस्पताल में प्रविष्ट कराया। वहाँ पर उसका पैर काटना पड़ा था। परन्तु वह ठीक नहीं हो पाया था क्योंकि कमर से ऊपर तक के रक्त में विकार आ गया था। परिणामस्वरूप उस घाव के कारण बहुत दिनों बाद उसका निधन हो गया। नेताजी को उसके निधन का समाचार सुन बड़ा दुःख हुआ। उस समय नेताजी बैंकाक में थे।

उस दिन जिस समय हवाई हमले बन्द हुए, तब तक मध्याह्न के साढ़े तीन बज चुके थे। हम सब बाहर निकले। मैं नदी पर चला गया। मैंने अपनी चादर धोकर सुखा दी थी। तब तक नेताजी ने सब लोगों को समीप ही विशाल सुरंगों में आराम करने के लिए भेज दिया। मेरे नदी से आने पर मुझे भी वहीं पर भेज दिया गया।

हवाई आक्रमण फिर से होने लगे थे। हमें वहाँ पहुँचे हुए आधा घंटा ही हुआ होगा कि तभी एक सिपाही भागा हुआ आया और कहने लगा, "आपको नेताजी ने अभी बुलाया है।"

यह सुनकर मुझे तो आश्चर्य हुआ ही, मेरे अन्य साथी भी आश्चर्य करने लगे। जब मैं उस सिपाही के साथ चल रहा था तो उसने कहा, "अभी-अभी एक घटना घटित हुई, आपको उसका पता चला कि नहीं ?"

"नहीं, मुझे तो कुछ भी पता नहीं है।"

"अभी-अभी एक जापानी व्यक्ति नदी पार करके आया। जहाँ पर हमारे तोपखाने की तोपें रखी थीं, वह वहीं पर गया। वहाँ पर पहरा देनेवाले सैनिकों से उसने पूछा, 'नेताजी कहाँ हैं ?'

"वह ऐसे प्रश्न बड़ी उतावली में कर रहा था। हमारे पहरेदारों ने उसे अंग्रेज अथवा अमेरिकन जासूस समझा। ज्यों ही वे सैनिक उसको पकड़ने लगे तो वह वहाँ से भागने लगा। हमारे सैनिक उसके पीछे दौड़े और उस पर तलवार से प्रहार किया। इससे वह घायल हो गया।....

"वह व्यक्ति कोई अंग्रेज अथवा अमेरिकन न होकर जापानी ही था। वह जापानी वकील हाचिया के साथियों में से था।"

उसकी बातें समाप्त नहीं हुई थीं कि हम उस स्थान पर पहुँच गए जहाँ पहले टिके हुए थे। मैंने देखा नेताजी एक पेड़ के नीचे खड़े हैं। उनके सामने पालकी पर वह जापानी व्यक्ति बैठा था। वह बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गया था। तदपि वह उस अवस्था में भी नेताजी से बड़ी शान्ति से बात कर रहा था।

डॉक्टर मेनन उसके उपचार में लगे हुए थे। उसके मुख से सहसा निकला, "यह सब छोड़िए। बस, आप कृपा करके ऊफू के अर्क को मेरे शरीर में चुभोकर मुझे मार डालिए। न तो मैं अब जीना चाहता हूँ और न ही इस अवस्था में अब मेरा जीवित रह पाना सम्भव ही है, क्योंकि अब मैं पूर्णतया कभी भी ठीक नहीं हो पाऊँगा।"

नेताजी ने उसकी छानबीन की और यह भी पता लगाया कि उसको किसने और क्यों घायल किया था। जिन लोगों ने उसको घायल किया था, वे दोनों स्वतन्त्रता सेना के सैनिक थे। छानबीन से यही विदित हुआ कि उन दोनों सैनिकों को उस पर सन्देह हो गया था। उनको उसे मारने का कोई इरादा नहीं था। यह सब विदित होने पर उन दोनों सैनिकों को बन्धनमुक्त कर दिया गया।

उसका निर्णय हो जाने के बाद नेताजी मेरी ओर मुड़े और बोले, "आज रात को झाँसी रानी पथक की एक टुकड़ी नदी पार करके इस ओर आएगी। लगभग दो बजे वह इस ओर पहुँचेगी। इस स्थान पर कदाचित् इसे अभी और दो-तीन दिन तक रहना पड़ जाए। परन्तु आज के आक्रमण को देखते हुए यह स्थान सुरक्षित नहीं लगता और न ही यहाँ पर सबके रहने की व्यवस्था हो सकती है। यदि यहाँ दो-तीन दिन तक रुकना पड़ा तो उन लड़कियों के रुकने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।...."

"यहाँ से करीब एक मील की दूरी पर एक गाँव है। वहाँ के स्वतन्त्रता संघ को चलानेवाले यहाँ पर आए हुए हैं।"

तदनन्तर उन्होंने उन लोगों से मेरा परिचय कराया गया और पुनः मुझसे कहने लगे, "आप तथा लेफ्टिनेन्ट डे, इनके साथ जाइये। लेफ्टिनेन्ट डे को मैंने इस पथक के भोजन की व्यवस्था के लिए कहा है। आप उस गाँव में जाकर इस पथक के रहने योग्य कोई सुरक्षित स्थान देखकर एक स्नानागार, रसोईघर आदि देखकर रात तक यह व्यवस्था पूरी कर लीजिए। यह छावनी जब तक यहाँ पर रहेगी, तब तक इस छावनी के प्रमुख अधिकारी के रूप में आपको नियुक्त कर रहा हूँ।...."

"आज रात का उस टुकड़ी का भोजन हम यहाँ पर बनवाकर रात को दो-ढाई बजे तक उनको उस स्थान पर भेजने की व्यवस्था कर देंगे। कल मध्याह्न से उनके खाने-पीने की सारी व्यवस्था आप लोगों पर होगी। लेफ्टिनेन्ट डे इस कार्य में आपकी सहायता करेंगे। कमरे आदि बनाने के लिए मोटा तम्बू बाँधने का कपड़ा, कीलें, कुदालें आदि सब सामग्री इन संघ-चालक की सहायता से आपको प्राप्त हो जाएँगी। उसके समीप ही हमारे अंगरक्षकों का डेरा है। उनमें से

जितने सैनिकों की आपको आवश्यकता हो उनको साथ लेकर आप कार्य सम्पन्न कीजिए।"

यह निर्देश पाकर मैं और लेफ्टिनेंट डे उस ग्राम के संघ-चालक के साथ उस ओर चल दिए। हमने अपना सामान सिर पर रखा हुआ था।

विगत रात्रि में नींद पूरी नहीं हो पाई थी। प्रात:काल नदी से छावनी तक पैदल चलने, दोपहर को हवाई आक्रमण के कारण विश्राम न मिलने तथा कपड़े आदि धोने में व्यस्त रहने के कारण मैं बहुत थक गया था। तदपि नेताजी के निर्देश का पालन करने के लिए जाते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। बीच-बीच में जो कोई भी जापानी मिलता उससे चर्चा करते हुए वे संघचालक महोदय दो-चार मिनट उस स्थान पर खड़े हो जाया करते थे। वह यह दिखाना चाह रहे थे कि जापानियों से उनकी कितनी जान-पहचान है तथा स्थानीय ब्रह्मी लोगों पर भी उनका दबदबा है।

मैं और लेफ्टिनेंट डे उनकी इस आदत से परेशान हो गए थे। गठरियों का बोझ सिर पर रखे खड़े रहना, रातभर का जगा होना और थका हुआ होने के कारण हम लोगों को कितना कष्ट हो रहा था, इस बात का वह बेचारा क्या अनुमान लगा पाता! परन्तु हम भी विवश थे। अत: उसके अनुसार ही चलते रहे।

नये स्थान पर छावनी के लिए उपयुक्त जगह ढूँढना और चार-पाँच घंटों में एक छावनी तैयार करवा लेना—यह सब किस प्रकार होगा, मैं तो यह सोच-सोचकर ही परेशान हो रहा था। ऊपर से शरीर की असमर्थता! किसी प्रकार चलते-चलते रात आठ-साढ़े आठ बजे हम उसके झोंपड़ीनुमा गाँव में पहुँच ही गए। आसपास कारीगरों की झोंपड़ियों थीं। उसके घर पर पहुँचकर अपने सिर का बोझ उतारकर हम कुर्सियाँ पर बैठे। तब कुछ शान्ति-सी मिली। उसके तुरन्त बाद हम अगले काम की तैयारी में जुट गए।

उसके पास से हमें क्या-क्या मिल सकता था, इसका जब हमने आकलन किया तो विदित हुआ कि नेताजी को जो कुछ उसने बताया था कि लगभग सब सामग्री मिल जाएगी, वह मात्र गप्प थी। उससे जब सामान दिलवाने की बात कही तो बोला, "यह सामान तो मैं आपको कल दिलवाऊँगा।"

मैंने कहा, "कल सूर्योदय होने पर तो हम भी यह सामान कहीं से भी ढूँढ-ढाँढकर ले आएँगे। परन्तु आज रात का काम कैसे चलेगा?"

अन्त में उसके पास से कुछ तम्बू लगाने के मोटे कपड़े, कीलें, कुदालें, फावड़े आदि प्राप्त कर एक-दो आदमियों को साथ लेकर हम स्थान ढूँढने निकले। एक व्यक्ति के हाथ में लालटेन भी थी। अंगरक्षक-छावनी में जाकर मैंने

उसके प्रमुख से कहा कि हमें बीस सैनिक तो पहरा देने के लिए और बीस सैनिक हमारे साथ काम करने के लिए चाहिएँ। गाँव के निकट एक मील की दूरी पर छावनी के लिए कुछ उपयुक्त-सा स्थान मिला। वहाँ पर एक झोंपड़ी बनी हुई थी। पास ही एक कुआँ भी था। चार-पाँच घंटे में एक लकड़ी का चबूतरा तैयार करके उसके आसपास तम्बू का मोटा कपड़ा लगाकर एक स्नानगृह बन गया था। इसी प्रकार तीन-चार शौचालय बनाए गए। एक पेड़ के नीचे एक रसोईघर बनाया गया। झोंपड़ी के आसपास दालान बनाए गए। कीलें समाप्त हो जाने पर बेंत के छिलकों से ही हमने रस्सियाँ बना डालीं।

इस प्रकार घंटों भाग-दौड़ करते हुए मेरी कमर तो टूट ही गई थी। रात को सवा दो बजे के लगभग 45 महिला सैनिकों की टुकड़ी वहाँ पहुँच गई। एक बाल्टी में चावल तथा दूसरी में दाल लेकर चार सैनिक भी साथ आए थे। किसी प्रकार दो-चार मोमबत्तियों की व्यवस्था की गई। सब लोगों ने भोजन किया। हमारी वहाँ की व्यवस्था देखकर उस पथक की प्रमुख ने कहा, ''इतने कम समय में आपने यह सुन्दर व्यवस्था कर डाली, यह देखकर आश्चर्य होता है!''

तीन बजे के करीब सारा काम समाप्त हो गया था। मैंने एक पेड़ के नीचे जगह को साफ करके अपना बिस्तर वहाँ पर लगाया। मैं आराम करने की सोच ही रहा था कि तभी सन्देश मिला, ''हमें अभी तुरन्त यहाँ से कूच करना है।''

इतना सारा परिश्रम, इतनी सारी व्यवस्था, यह सब व्यर्थ हो गई थी। आराम तो तनिक भी नहीं मिल पाया था। मुझे सन्देह होने लगा कि मैं चल भी पाऊँगा अथवा नहीं। उसके ऊपर गठरी का बोझा। मैंने बोझा कम करने के लिए अपना एक कम्बल निकालकर एक सैनिक को दे दिया। हमारे साथ कितने ही ऐसे सैनिक थे जिनके पास अधिक सामान नहीं था, क्योंकि कई सैनिकों का सामान हवाई आक्रमण में जल गया था तो कुछ का सामान लारियों में ही रह गया था।

कम्बल उसको देकर अपना सामान और हल्का करने के लिए मैंने कुछ कागजों को भी जला दिया था। उन्हें जलाते समय मुझे बड़ा दुःख हो रहा था क्योंकि उनमें नेताजी के हस्ताक्षरयुक्त अनेक पत्र और निर्देश-पत्रक भी थे, किन्तु असमर्थता थी। क्योंकि, यदि मैं ही बोझ को न सह सकने के कारण चक्कर खाकर गिर पड़ा तो उन महत्त्वपूर्ण कागजों को जंगल में फैंकना पड़ जाएगा और वे यदि किसी शत्रु के हाथ लग गए तो उससे जो भारी क्षति होगी, उसकी अपेक्षा उनका जलाया जाना अधिक श्रेयस्कर था।

हम लोग अगली यात्रा के लिए निकल पड़े। राह में हमें श्री भोंसले तथा अन्य अधिकारी भी मिल गए। जहाँ पर नेताजी रुके हुए थे, जब हम वहाँ पहुँचे

तो पता चला कि वे लोग वहाँ से आगे के लिए चल दिए हैं।

पाँच–छः मील चलने के बाद प्रात:काल पाँच बजे हमने एक मैदान में, रास्ते के किनारे पर ही, अपना डेरा डाल दिया। दो घंटे तक हम लोग वहाँ पर सो गए।

सात बजे उठने के बाद हम लोग फिर आगे बढ़ने लगे। धूप तेज होने लगी थी। पैर जलने लगे थे। हम ग्यारह मील आगे निकल गए। मार्ग में खाने के लिए कुछ भी नहीं मिला। दिन के ग्यारह बज गए थे। हमारे पीछे किसी अधिकारी का नौकर उसका सामान सिर पर रखे चल रहा था। उसके पास एक थर्मस था जिसमें चीनी रखी हुई थी। उसे रोककर हमने उसमें से कुछ चीनी खा ली।

आगे चलते हुए पता चला कि आगे जंगल में नेताजी रुके हुए हैं। हम सब लोग भी वहाँ पर पहुँच गए। एक गहरे स्थान पर एक छोटा–सा झरना बह रहा था। झाड़ियों और लता–कुंजों में हमने अपना डेरा डाला। मुझे ज्वर ने आ घेरा था। दोपहर को मैंने तथा डॉक्टर बाम ने दूध का एक डिब्बा खोलकर ले लिया था। शाम को पाँच बजे दाल–चावल बनकर तैयार हुए। खाना खाने के बाद करीब सात बजे फिर हम लोग आगे के लिए निकल पड़े। मोटरलारियाँ आदि सब–कुछ पीछे ही रह गई थीं।

नेताजी, जनरल भोंसले, एवं मैं, हम तीनों पंक्ति में सदा आगे रहते थे। हमारे पीछे हमारे साथ के सब अधिकारी और सैनिक आदि लम्बी कतारों में चलते हुए आ रहे थे। जापानी सैनिकों की कतारें भी इसी प्रकार चल रही थीं। नेताजी के पैरों को जूते ने काट लिया था तथा कई फोड़े भी निकल आए थे। परन्तु उन्हें उसकी चिन्ता नहीं थी। एक घंटा चलने के उपरान्त सबको दस–पन्द्रह मिनट का विश्राम दिया जाता था।

एक स्थान पर रात को हम लोग पन्द्रह मिनट के विश्राम के लिए रुके तो मुझे नींद आ गई। मेरी जब नींद खुली तो देखा कि रात का डेढ़ बजा हुआ था। मेरे आसपास कोई भी नहीं था। तब मुझे ध्यान आया कि केवल पन्द्रह मिनट का समय दिया गया था। मुझे तो सोए हुए डेढ़ घंटा हो गया है।

मैं अपनी गठरी उठाकर जल्दी–जल्दी चलने लगा। सब लोग बहुत आगे निकल गए थे। मन में एक बार सन्देह हुआ कि कहीं मैं उल्टी दिशा की ओर तो नहीं चल रहा हूँ? तब मैंने अनेक प्रकार से अनुमान लगाया और पाया कि मेरी दिशा ठीक ही है और मैं आगे चलता रहा। एक घंटा चलने के बाद एक स्थान पर अपने साथ के कुछ सैनिकों को रास्तों के दोनों ओर सोते हुए देखा। अवसर जानकर मैं भी उनके साथ थोड़ी देर के लिए लेट गया। प्रातः चार बजे हम उठे और फिर चलने लगे।

छः बजे एक गाँव के निकट पहुँचकर हम लोग रुक गए। वहाँ से खाद्य सामग्री खरीदकर भोजन बनाया। डॉक्टर मेनन ने मुझे विषम ज्वर का इंजेक्शन दिया। शाम तक हमारी तीन लारियाँ तथा तीन मोटरें भी वहाँ पहुँच गई थीं। आधे से अधिक लोग मोटरगाड़ियों में और लारियों में बैठकर आगे चले गए। नेताजी पैदल चलनेवालों के साथ थे। मैं पहली मोटर गाड़ी में जानेवाली टुकड़ी के साथ था।

मार्ताबान तक पहुँचने तक हमें मार्ग में अनेक स्थानों पर रुकना पड़ा था। एक रात को जब मोटरगाड़ियों में जा रहे थे तो राह में चलनेवाली बैलगाड़ियों पर जानेवाले लोगों में हमें भारतीयों की कुछ आवाजें सुनाई दीं। वे लोग भारतीय स्वतन्त्रता संघ के ही थे। मार्ताबान में प्रातः पहुँचने पर शाम तक हम वहीं के एक गाँव में रुके रहे। गाँव में पहली बार हमें ब्रह्मदेश में ताजा दूध पीने को मिला था। हमें सैनिक जानकर गाँववाले डरते-डरते हमारे साथ सहयोग कर रहे थे। वह उनकी विवशता थी। शाम को विदा होते समय हमसे जो कुछ बन पड़ा, उनको देकर और उन्हें धन्यवाद देकर आगे बढ़ गए।

मार्ताबान से हम लोग उस रात को एक बड़ी मोटरबोट में बैठकर आधे-पौन घंटे में मोलमीन तक पहुँच गए। वहाँ पर जियाभाई नामक मेरा एक गुजराती मित्र था। रंगून को आते समय उसका मेरा परिचय हुआ था। मैंने डॉक्टर बाम के साथ उसका परिचय करा दिया। जियाभाई ने हमारा स्वागत-सत्कार किया। सब लोग पहाड़ी के उस ओर स्थित एक तमिल मन्दिर में ठहरे हुए थे। दूसरे दिन ही 18-20 विमान आकाश में चक्कर काटने लगे थे और चारों ओर बम की बरसात होने लगी। मैं एक खम्भे का आश्रय लिये उकड़ू बैठा था कि मशीनगन की एक गोली लगभग मुझसे आधा फीट की दूरी पर आकर गिरी।

मोलमीन से बैंकाक तक रेलगाड़ी का मार्ग होने से जैसे-जैसे हमें डिब्बे मिलते गए, हमारे लोग उनके माध्यम से आगे बढ़ते गए। हम लोग पहली टुकड़ी में निकले थे, हमारे साथ 25-30 लोग थे। एक-दो और टुकड़ियों के निकलने के बाद सबसे अन्तिम टुकड़ी में नेताजी आए थे। बैंकाक में 13 मई 1945 के दिन पहुँचे थे। तीन सप्ताह तक हम जंगलों में भटकते रहे थे, अतः हमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय किसी भी समाचार का कुछ ज्ञान नहीं था।

यहाँ आकर विदित हुआ कि 2 मई को अंग्रेजों ने पेगू नगर पर अधिकार कर लिया था। 3 मई को रंगून उनके अधिकार में आ गया था। 7 तारीख को जर्मनी जैसे बलवान् देश को भी पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी।

इसी बीच भारत में नेताजी की माताजी के निधन का समाचार जापानियों

को आकाशवाणी के माध्यम से विदित हुआ था। नेताजी के बैंकाक पहुँचने पर उनको यह दुःखद समाचार दिया गया। नेताजी ने शोक-विह्वल मन से कहा, ''मैं एक बार उनके दर्शन करना चाहता था, वह इच्छा पूर्ण न हो सकी।''

बैंकाक के सिन्धी व्यापारी श्री मेहतानी ने नेताजी के लिए अपना बँगला खाली कर दिया था। अन्य लोगों के लिए आठ-दस बँगले किराये पर ले लिये गए थे। नेताजी रंगून से सकुशल निकल आए हैं—सुदूरपूर्व और स्वयं सिंगापुर में जब यह समाचार पहुँचा तो सबको बड़ी प्रसन्नता हुई।

अवशिष्ट स्वतन्त्रता सेना का पुनर्गठन करने के लिए नेताजी ने अपने सभी स्थानों के अधिकारियों को परामर्श के लिए बैंकाक बुलवा लिया। सबके आ जाने पर उनके साथ विचार-विमर्श होने लगा। ब्रह्मदेश से बचे हुए सैनिकों को स्याम की सीमा से आगे के लिए सकुशल लाने की व्यवस्था की गई। 'हिकारी किकान' के एक अधिकारी ने आकर सूचना दी कि डॉ० लक्ष्मी एक जापानी टुकड़ी के साथ आ रही हैं। वह टुकड़ी ब्रह्मदेश से निकलकर लारियों से स्याम के लिए निकलनेवाली थी—इतना ही उसने देखा था और वही उसने आकर बता दिया था। बैंकाक में नेताजी और हम लोग डॉ० लक्ष्मी के पहुँचने की प्रतीक्षा करने लगे।

अध्याय छब्बीस

हिकारी किकान

जापानी भाषा में 'हिकारी' शब्द का अर्थ होता है प्रकाश और 'किकान' का अर्थ इंजिन है। परन्तु इन शब्दों और उनके इन अर्थों का इस विभाग के विशेष काम से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा जापानी अधिकारी कहा करते थे। इस विभाग का ऐसा नाम कैसे और क्यों पड़ा, इसकी उनको भी कोई जानकारी नहीं थी।

परकीय लोगों पर दृष्टि रखना तथा विजित परकीय लोगों को अपने युद्ध के काम में लगा देना, ये दो प्रमुख कार्य इस विभाग के पास थे। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन तो एक प्रकार से मानो उनके हाथ की मैल हो अथवा ये लोग उनके हाथ की कठपुतली के समान हों, इस प्रकार का व्यवहार उस विभाग के अधिकारी सामान्यतया करते थे। उनके इस असभ्य व्यवहार के कारण भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन को ही नहीं, अपितु स्वयं उनके देश को भी हानि उठानी पड़ी थी।

कम से कम नेताजी के जापान और फिर सिंगापुर आ जाने के बाद भी 'हिकारी किकान' के अधिकारियों ने अपने व्यवहार में परिवर्तन कर लिया होता तो वह भारत तथा जापान, दोनों के लिए हितकर होता। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के विषय में इस विभाग ने जो धारणा बनाई थी, वह जापानी मन्त्रिमण्डल के निर्देश पर बनाई थी अथवा मन्त्रिमण्डल को बताये बिना स्वयं इस विषय में निर्णय कर लिया था, कहना कठिन है। इस पर भी जापानी मन्त्रिमण्डल की अनुमति से इस विभाग में भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के विषय में स्वार्थपरक धारणा अपनाई गई होगी, इसी बात की अधिक सम्भावना है। क्योंकि, एक शक्तिशाली एवं कर्मशील देश के मन्त्रिमण्डल को उसी का एक छोटा-सा विभाग अँधेरे में रखे, इस बात पर सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता।

जो भी हो, जापानियों की स्वार्थी वृत्ति उनके लिए अन्त में विनाशकारी ही

सिद्ध हुई थी। अपने किसी मित्र राष्ट्र को अपने हाथ की कठपुतली समझना उस देश के अन्तिम हित के बारे में मन में अच्छी धारणा न रखना तथा अपनी ओर से जितना सम्भव हो उतनी सहायता न करना, नैतिक दृष्टि से यह सर्वथा निन्दनीय व्यवहार है और उसका अन्तिम परिणाम हानिकारक ही होता है—जापान के प्रकरण में यह हमने प्रत्यक्ष देखा है।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के सम्बन्ध के सारे अधिकार 'हिकारी किकान' को सौंप दिए गए थे। जापानी मन्त्रिमण्डल ने इस आन्दोलन से अपना कोई सीधा सम्बन्ध रखा ही नहीं था। ब्रह्मदेश, मलय, फिलिपीन्स इत्यादि देशों में स्वतन्त्रता सरकार को, सेना को अथवा संघ को कुछ डाक या तार आदि भेजने हों तो वे सब उसे 'हिकारी किकान' विभाग के माध्यम से ही भेजना होता था। जापानी आपूर्ति विभाग से यदि कभी कोई काम करने की आवश्यकता पड़ जाए तो उसके लिए भी 'हिकारी किकान' का दुभाषिया ही लेना पड़ता था। हमारे भारतीय दुभाषिये को वे स्वीकार नहीं करते थे, या यों कहा जाए कि उस पर विश्वास नहीं करते थे।

'हिकारी किकान' विभाग के किसी अंग्रेजी न जाननेवाले वरिष्ठ अधिकारी से आवश्यक परामर्श करना हो, तब भी यही कठिनाई आती थी। स्वतन्त्रता सेना के लिए यदि वस्त्र अथवा युद्धसामग्री आदि किसी भी वस्तु की आवश्यकता होती तो उसके लिए भी 'हिकारी किकान' का ही द्वार खटखटाना पड़ता था। यहाँ तक कि रेलगाड़ी अथवा विमान आदि वाहनों में स्थान पाने की आवश्यकता हो तो उसके लिए भी 'हिकारी किकान' ही व्यवस्था करता था।

स्याम इत्यादि जैसे दूसरे राष्ट्रों से सम्बन्ध रखा जाना हो तब भी इस विभाग की मध्यस्थता से ही यह कार्य सम्भव हो सकता था। अतः भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के अधिकारियों का बाहर की दुनिया से जो भी सम्बन्ध प्रस्थापित होता था वह इसी विभाग की ओर से होता था।

'हिकारी किकान' के अधिकारियों के मन में यह बात घर कर गई थी कि भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन पूर्णतया उन पर ही निर्भर करता है और इस धारणा के वशीभूत वे लोग एक प्रकार से बहुत ही घमण्डी हो गए थे। प्रत्येक वस्तु उनसे ही माँगते रहने के कारण भारतीय लोग बड़े मंगते होते हैं, उन्हें केवल मौज करना अच्छा लगता है—इस प्रकार भारतीयों के विषय में 'हिकारी किकान' के अधिकारियों की तुच्छतापरक वृत्ति हो गई थी। उनकी यह धारणा बन गई थी कि उनके बिना तो इस आन्दोलन का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, क्योंकि सारी आपूर्ति तो उनके विभाग द्वारा ही की जाती थी और हर बात के लिए उनके सामने

हाथ पसारना पड़ता था। इस पर भी वे सारी माँगें यथासमय पूरी कर देते हों, ऐसी बात भी नहीं थी। हर किसी माँग के लिए निरन्तर उनके पीछे लगा रहना पड़ता था। इसके साथ-साथ वे हमारी माँगों में भी कमी करने लग गए थे। इसके अतिरिक्त आपूर्ति विभाग जो कमी करता था, वह अलग ही होती थी। इस प्रकार दोनों ओर आपूर्ति में कटौती हो जाया करती थी।

स्वतन्त्रता सेना अथवा स्वतन्त्रता संघ द्वारा कभी कोई एक-दो काम किसी जापानी विभाग से सीधे कराने के लिए कहे जाने की बात 'हिकारी किकान' को विदित हो जाती तो वे उस विभाग में अपना व्यक्ति भेजकर उन्हें मना करते हुए कहलवा देते कि भारतीय अधिकारियों से कोई सीधा सम्बन्ध न रखे; उनके विषय में सारी जानकारी पहले हमको दी जानी चाहिए; हम उनके स्वभाव को खूब अच्छी तरह जानते हैं; वे बहुत अधिक माँग करते हैं, उन्हें इतना सामान देना उचित नहीं है, आदि-आदि।

अभिप्राय यह है कि 'हिकारी किकान' के अधिकारी ढीठ और घमण्डी होते थे। उनकी हाँ में हाँ मिलाने पर ही वे प्रसन्न रहते थे। ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिले थे। जापानी भाषा, उसकी लिपि और अपने व्यक्तियों पर ही विश्वास करना तथा दूसरों पर अविश्वास करना—यह इस विभाग के अधिकारियों का स्वभाव होने के कारण उनके यहाँ क्या खिचड़ी पक रही है, विरोध किस प्रकार और किस बात का हो रहा है, इसकी भनक भी किसी को मिल पाना सम्भव नहीं था।

एक बार की बात है, हम लोग सैगाँव में रेडियो सुन रहे थे। 'हिक्कारी किकान' का एक अधिकारी भी हमारे साथ बैठा था। दिल्ली से जापानी भाषा में सायंकाल के समय नित्य ही जो कार्यक्रम प्रसारित होता था, उसे सुनते हुए मैंने 'हिकारी किकान' के अधिकारी से कहा, "यह क्या कह रहा है, मुझे तनिक बताइये।"

उस व्यक्ति ने अन्त तक मुझे वह बात नहीं बताई और टालमटोल ही करता रहा। ऐसा ही एक बार उसके एक अन्य सहयोगी के साथ भी घटा। उसने भी मेरे प्रश्न को उसी प्रकार टाल दिया था।

भारतीय स्वतन्त्रता संघ ने जब स्वतन्त्रता सेना में अधिक सैनिक भर्ती करने का आन्दोलन चलाया तो 'हिकारी किकान' के अधिकारियों ने कहना आरम्भ कर दिया कि यदि आपने भारतीय नागरिकों को स्वतन्त्रता सेना में भर्ती करना आरम्भ कर दिया तो हमें अपने विभिन्न कार्यों के लिए श्रमिक कहाँ से मिलेंगे? अतः आप इस प्रकार के विज्ञापन प्रसारित न करें।

यदि उनके सबसे बड़े अधिकारी से इस विषय में कुछ कहा जाए तो वे कह देते कि आप उस छोटे-से अधिकारी की बात पर क्यों ध्यान देते हैं? किन्तु होता वही था जो 'हिकारी किकान' का छोटा या बड़ा अधिकारी चाहता था।

इस प्रकार की कठिनाइयाँ नेताजी जब रंगून में थे, उनको भी अनुभव होने लगीं तो नवम्बर 1944 में उन्होंने जनरल भोंसले को एक विस्तृत पत्र लिखकर अपनी वेदना व्यक्त की थी, ''मुझे ऐसा बहुत दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि स्वतन्त्रता सेना की पचास हजार सैनिकों तक की वृद्धि होने देने का अपना वचन 'हिकारी किकान' के अधिकारी अब स्वीकार नहीं कर रहे हैं.....''

जापानी अधिकारी, सैनिक तथा सामान्य नागरिकों में भी राष्ट्रीय हितों की बातों में जहाँ समानता दिखाई देती थी, किसी अन्य पर सन्देह करने की उनकी प्रवृत्ति भी सर्वत्र एक-समान ही थी। ये सारी खामियाँ 'हिकारी किकान' के अधिकारियों में ठूँस-ठूँसकर भरी हुई थीं।

स्वतन्त्रता सेना की टुकड़ियों को मलय से ब्रह्मदेश की ओर कूच करते समय उनमें से कुछ टुकड़ियों को स्याम में स्थित चुम्फोन स्थान पर कुछ दिन ठहरना पड़ा था। ले०क० ओहदे तथा उसके एक-दो सहायक और 'हिकारी किकान' का एक लेफ्टिनेन्ट उस टुकड़ी के साथ थे। एक दिन उस लेफ्टिनेन्ट ने एक प्रमुख भारतीय अधिकारी से कहा, ''जापानी तथा स्यामियों में शत्रुता है। वह कब बढ़ जाए इसका कोई भरोसा नहीं, अतः आप लोग भी अपनी टुकड़ी के साथ हमारे पक्ष में लड़ने के लिए पूरी तैयारी रखिये.....''

भारतीय अधिकारी ने उससे कहा, ''जब तक हमें नेताजी की आज्ञा नहीं होगी, तब तक हम किसी के पक्ष अथवा विपक्ष में कोई युद्ध नहीं करेंगे। विशेषतया स्याम से तो हमारी कोई शत्रुता है ही नहीं। वे लोग हमारे साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। हम आपके इस युद्ध में तटस्थ रहेंगे।''

एक बार भारतीय सेना के इस अधिकारी ने वहाँ के स्यामी बड़े अधिकारी को आमन्त्रित किया। भोजन के समय से आध-पौन घंटा पहले 'हिकारी किकान' के अधिकारी ने आकर कहा, ''आप स्यामी अधिकारी अथवा अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध क्यों रखते हैं? उनसे यदि कोई काम करवाना हो तो आप हमारे माध्यम से करवाइये। हम उनसे बात करेंगे। आपने जो इस बड़े अधिकारी को आमन्त्रित किया है, इसमें आपका क्या हेतु है? यदि संभव हो तो इस भोजन के कार्यक्रम को स्थगित कर दीजिए।''

इस प्रकार अपनी टाँग अड़ाने का 'हिकारी किकान' के अधिकारियों का रवैया रहता था।

चुम्फोन में ही जापानी अधिकारियों को कुछ श्रमिकों की आवश्यकता पड़ी। उसके लिए 'हिकारी किकान' के एक अधिकारी ने भारतीय सैनिकों की माँग की। भारतीय अधिकारी ने उससे कहा, "हमारे सैनिक यहाँ पर आपकी मजदूरी करने के लिए नहीं आए हैं।"

इस बात पर कुछ तनातनी-सी भी हो गई। उस समय उस भारतीय अधिकारी ने उससे साफ-साफ कहा, "देखो, ये मेरे लगभग दो हजार सैनिक यहाँ पर तैनात हैं। यदि आपने तनिक भी कुछ गड़बड़ की तो मेरे एक आदेश पर मेरे ये सैनिक आप पर टूट पड़ेंगे। आप हैं किस घमण्ड में?"

यह धमकी सुनकर 'हिकारी किकान' का वह अधिकारी कुछ नरम पड़ा। ऐसा कुछ न कुछ होता रहता था। सम्भवतया यह जापानी मन्त्रिमण्डल के वश में भी नहीं था कि 'हिकारी किकान' को अधिकार-च्युत कर सके।

व्यक्तियों में परस्पर मित्रता के समान ही अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता भी अविश्वास की नींव पर कभी नहीं टिक सकती। यदि परस्पर आदर और प्रेम की भावना हो तो मित्रता स्थायी रहती है और उसका लाभ दोनों को समान रूप से प्राप्त होता है। जापानियों के घमण्डी आचरण के कारण ही जापान से ऊपरी तौर पर मित्रता रखनेवाले देशों को भी जापान के विजयी होने के विषय में उतना विश्वास नहीं था। वास्तव में कोई भी देश उसके साथ सहयोग नहीं कर रहा था।

अन्त में नेताजी के कहने पर जापानियों ने श्री हाचिया को जापान के वकील के रूप में भारतीय स्वतन्त्रता सेना में नियुक्त किया, परन्तु उनके बर्ताव में उसके बाद भी किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं आया। सारे अधिकार तो 'हिकारी किकान' के पास ही थे। यही जापानियों की राजनैतिक चतुराई थी। किन्तु नेताजी की यही नीति थी कि इससे हमें जितना कुछ मिल सकता है, वह हम लेने का यत्न करें।

अध्याय सत्ताइस

आघात

उस समय बैंकाक में झाँसी रानी पथक की एक छावनी, स्वतन्त्रता सेना का एक अस्पताल, ब्रह्मदेश से आई एक रेजिमेन्ट, ब्रह्मदेश से पीछे हटकर आई विमान-विरोधक तोपखाने की दो टुकड़ियाँ, इस प्रकार स्वतन्त्रता सेना के लगभग दो हजार सैनिक थे।

झाँसी रानी पथक की जो तीन-चार अस्वस्थ सैनिक थीं उनको छोड़कर बाकी सब बैंकाक आने के 15-20 दिनों के बाद रेलगाड़ी से सिंगापुर की ओर रवाना हो गई थीं।

21 मई का दिन स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना का दिन था। उस दिन बैंकाक में भारतीय लोगों की सार्वजनिक सभा में नेताजी का बहुत ही स्फूर्तिदायक भाषण हुआ। उन्होंने कहा, ''यद्यपि जर्मनी देश पराजित हो गया है, तदपि हमें किंचित् भी निराश नहीं होना चाहिए। कल यदि जापान देश की भी हार हो जाए और हमारी सहायता के लिए कोई भी देश न बचे, फिर भी हमें स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते ही रहना चाहिए; प्रयत्न करना छोड़ देना उचित नहीं है। बाहर से मिलनेवाली सहायता जितने परिमाण में कम होती जाएगी, उतने ही परिमाण में हमारे प्रयास तीव्र होने चाहिएँ। हमारा ध्येय बहुत उच्च है। उसे प्राप्त करने तक हमें प्रयत्न करते रहना होगा। हम अभी हारे नहीं हैं। दूसरे व्यक्ति का यदि कुछ लूटना हो, उस प्रयत्न में यदि हम असफल हुए तो उसे अपनी हार कहा जाएगा। परन्तु जहाँ पर अपनी ही स्वतन्त्रता को हमें वापस प्राप्त करना है तो उसे प्राप्त करने में अपनी हार कभी भी नहीं मानेंगे।''

स्याम के मन्त्रियों से नेताजी के अच्छे सम्बन्ध थे। स्याम में आने के बाद उनसे भेंट होती रहती थी। इससे पूर्व सन् 1943 में नेताजी स्याम सरकार के विशिष्ट अतिथि बनकर कुछ दिनों तक बैंकाक में रहे थे। इस अवसर पर बैंकाक में आते ही उन्होंने स्वतन्त्रता सरकार के, संघ के तथा सेना के अधिकारियों को एकत्रित करना आरम्भ किया।

बैंकाक में भी एक-दो दिन के अन्तर पर हवाई आक्रमण होने आरम्भ हो गए थे। हमारे बैंकाक पहुँचने से कुछ मास पूर्व बैंकाक का बिजली उत्पादन-केन्द्र हवाई आक्रमण में ध्वस्त हो जाने से वहाँ का आकाशवाणी केन्द्र बन्द-सा पड़ गया था। यदि वह चालू होता तो वहाँ से नेताजी ने भारत में स्थित अपने लोगों को सम्बोधित करने के लिए भाषण दिया होता।

जून मास के मध्य में वायसराय लॉर्ड वेवल तथा महात्मा गांधी की शिमला-वार्ता में कोई समाधान निकल आएगा, ऐसी सम्भावना दीखने लगी थी। 'भारतीयों तथा अंग्रेजों में इसके बाद कोई भी समझौता नहीं हो सकेगा। अब अन्तिम उपाय के रूप में खुले तौर पर युद्ध घोषित करके उन्हें भारत से बाहर खदेड़ना था।' ऐसा नेताजी का विचार था। अंग्रेजों से किसी भी प्रकार का समझौता न किया जाए, ऐसा महात्मा गांधी तथा भारतीय जनता को समझाने के लिए उन्हें भारतीय आकाशवाणी केन्द्र से भाषण करना था। बैंकाक आकाशवाणी केन्द्र बन्द ही हो चुका था, रंगून शहर भी हाथ से निकल चुका था। अब केवल दो ही स्थान बचे थे—सैगाँव तथा सिंगापुर।

नेताजी ने 16 जून 1945 को जापानियों से कहा, ''सैगाँव और सिंगापुर में से जिस किसी भी स्थान पर मैं कल ही विमान से जा सकूँ उस स्थान पर मुझे अपने पाँच-छः सहयोगियों के साथ जाने की व्यवस्था हो जाए तो उत्तम होगा।''

दूसरे ही दिन प्रातःकाल 9 बजे वे हवाई जहाज से सिंगापुर पहुँच गए। वहाँ से उन्होंने उसी रात में महात्मा गांधी एवं अन्य नेताओं तथा भारतीय जनता को सम्बोधित करके आकाशवाणी पर अपना भाषण दिया। उन्होंने कहा, ''हम इधर जब स्वतन्त्रता के लिए युद्ध कर रहे हैं, तब ऐसे समय में उधर आप लोग अंग्रेजों से यदि कोई अपमानजनक समझौता करेंगे तो उसका अभिप्राय होगा कि आप हमें औंधे मुँह गिराएँगे और स्वयं भी मुँह के बल गिर पड़ेंगे।····

''हममें साहस है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक हम युद्ध करते रहेंगे। अतः आप लोगों को भी समझौता करने का विचार छोड़ देना चाहिए। आप लोग हमारे प्रयत्नों में किस प्रकार से सहयोग कर सकते हैं, इस बात के बारे में सोचिये····''

इसके बाद भी उन्होंने इस प्रकार के अनेक भाषण आकाशवाणी के माध्यम से प्रसारित करवाए थे।

सिंगापुर में नेताजी ने अवशिष्ट तीन नम्बर डिविजन तथा चार नम्बर डिविजन का काम देखना आरम्भ कर दिया था। परन्तु अब का अपना प्रयत्न सफ़ल नहीं होगा तथा जापान जल्दी ही पराजित हो जाएगा, यह बात उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रही थी। ब्रह्मदेश से स्याम में आने के बाद ही उन्होंने, यदि यह प्रयत्न

असफल हुआ तब, दूसरा कौन-सा उपाय अपनाया जाए, इस दृष्टि से सोचना आरम्भ कर दिया था।

समय आने पर उन्हें मंचूरिया तथा उसी के समान अन्य देशों में जाना पड़ेगा, इस दृष्टि से उनके साथ जाने के लिए कौन-कौन तैयार हो सकता है, इस प्रकार का विचार उनके निकटतम सहयोगियों में स्पष्ट प्रकट हो रहा था।

मैंने जनरल जगन्नाथराव भोंसले से कहा कि यदि नेताजी उनसे यह प्रश्न करें तो आप सहर्ष मेरा नाम उन्हें दे दें। मैं नेताजी के साथ कहीं भी जाने के लिए उद्यत हूँ।

सन् 1945 का अगस्त मास आरम्भ हो गया था। जापान की आन्तरिक स्थिति बड़ी चिन्ताजनक हो गई थी। नित्यप्रति हवाई आक्रमण के कारण जापानी नगर नष्ट होते जा रहे थे। जर्मनी ने जिसकी खोज आरम्भ की थी और अमेरिका ने जिसे पूर्ण किया था, उस 'एटम बम' जैसे भयंकर अस्त्र को सर्वप्रथम जापान पर ही डाला गया। बस एक ही बम से सारा हिरोशिमा नगर ध्वस्त हो गया। मरनेवालों की संख्या पचहत्तर हजार तक हो गई थी। इस बम की चिनगारियों के कण का भी जिसको स्पर्श हुआ, उसके शरीर में विष-प्रसार होकर वह नीला पड़ गया था। बम-विशेषज्ञों का मानना था कि जिस प्रदेश में यह बम गिरा है, उस प्रदेश में कई वर्षों तक घास का तिनका भी उगना सम्भव नहीं है।

एक ही बम गिराकर अमरीका को चैन नहीं मिला था। वैसा ही एक अन्य बम जापान के दूसरे नगर नागासाकी पर भी गिराया गया। उसको भी नष्ट कर दिया गया। ऐसा माना जाता था कि ऐसे 15-16 बम अमेरिका के पास अभी और भी हैं।

इसी प्रकार यदि बम-वर्षा होती रही तो न जापान रहेगा, न जापानी रहेंगे। दोनों के ही समाप्त होने में अधिक समय नहीं लगेगा। ऐसा जापान सरकार अनुभव करने लगी थी।

उसी समय रशिया ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। इससे जापान को बड़ा आघात लगा। यदि कोई अन्य समय होता तो रशिया ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषित नहीं किया होता, क्योंकि पैसिफिक महासागर में, अमेरिका को मात देने के लिए जापान को जीवित रखना रशिया के लिए हर दृष्टि से आवश्यक था। परन्तु अब जापान पराजित हो रहा है ऐसा स्पष्ट दिखाई पड़ने पर रूस ने सोचा कि यदि हम चुपचाप बैठे रहेंगे तो ब्रिटिश और अमेरिकन सेनाएँ इस प्रदेश में आ जाएँगी। अतः उपयुक्त यही होगा कि अवसर का लाभ उठाते हुए हमें भी अपने हाथ-पैर जमाने का उपक्रम करना चाहिए। और उसने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

रशिया की युद्ध-घोषणा से दो-तीन दिन पहले ही जापान ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली थी। परिणामस्वरूप रशिया को अपनी सेनाएँ जापान में दूर तक फैलाने का अवसर ही नहीं मिला। फिर भी उसने चीन, मंगोलिया एवं मंचूरिया को तो हड़प ही लिया था।

12 अगस्त को जब चर्चिल, स्टालिन और ट्रूमैन की पाट्स्डम में वार्ता चल रही थी तब जापान ने कह दिया था कि हम अपनी पराजय स्वीकार करते हैं। उस समय उन्होंने जो भी शर्तें रखीं उन सबको स्वीकार कर 14 अगस्त 1945 के दिन विधिवत् पराजय स्वीकार की और इस प्रकार यह द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ।

उन दिनों भारतीयों में उत्साह बनाए रखने के लिए सिंगापुर में स्थित झाँसी रानी पथक की नाट्य मण्डली की ओर से 'झाँसी की रानी' नाटक का अनेक बार नेताजी ने मंचन करवाया था। कुछ तो स्वतन्त्रता सेना के लिए और कुछ वहाँ की भारतीय जनता के लिए यह नाटक मंचित किया गया था। बिगड़ती जा रही परिस्थिति को देखते हुए झाँसी रानी पथक के सैनिकों को दो-दो तीन-तीन मास का अवकाश देकर उन्हें अपने-अपने घर पर भेज दिया गया था।

नेताजी जब सिंगापुर में रह रहे थे, तभी उनको जापान की पराजय की सूचना मिल गई। इस आधार पर उन्होंने अगला कार्यक्रम अपने मन में निश्चय कर लिया।

16 अगस्त 1945 के दिन प्रातःकाल नेताजी हवाई जहाज से सिंगापुर से निकलकर दोपहर को बैंकाक पहुँच गए। वहाँ उन्होंने लगभग डेढ़ घंटे तक जापानी अधिकारियों से विचार-विमर्श किया। स्वतन्त्रता सेना के कुछ प्रमुख अधिकारी भी उस समय वहाँ पर उपस्थित थे।

इस चर्चा के समाप्त होने के उपरान्त वे बैंकाक के अस्पताल और स्वतन्त्रता सेना की दो-तीन छावनियों में गए। जापान द्वारा विजित प्रदेशों में उसकी चौकियाँ अभी विद्यमान थीं। उधर सुदूर पूर्व के सारे देशों में केवल ब्रह्मदेश और फिलिपीन्स में ही अंग्रेज तथा अमेरिकन सेना थी। सिंगापुर, मलय, स्याम, इण्डोचीन, चीन, कोरिया, ताइवान—ये सारे प्रदेश अभी तक जापान के अधिकार में ही थे।

युद्ध समाप्त होने के 10-15 दिन बाद डरते-डरते तथा पूरी सुरक्षा का जापानियों से बारम्बार आश्वासन लेते हुए अंग्रेज और अमेरिकन सेनाएँ इन प्रदेशों में प्रविष्ट हुईं। सिंगापुर में प्रविष्ट होने के लिए उन्होंने पहले वहाँ पर भारतीय सैनिकों को उतारा था अर्थात् जापानियों का भय अभी भी साम्राज्यवादियों में घर किये हुए था।

विश्वयुद्ध समाप्त होने की घोषणा के बाद अंग्रेजों की सेना के आने तक जापानी एवं स्वतन्त्रता सेना को अपने सामान को सँभालने के लिए 15-20 दिनों

तक सब प्रकार की छूट थी। अतः युद्ध की समाप्ति के बाद भी नेताजी को सिंगापुर से बैंकाक तथा बाद में टोकियो की दिशा में जाना कैसे सम्भव हुआ— इस विषय में आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।

16 अगस्त 1945 को रातभर नेताजी ने स्वतन्त्रता सेना के अधिकारियों से विचार-विमर्श किया। उस समय उन्होंने कहा था कि सारे विश्व की परिस्थिति को देखते हुए यदि थोड़े समय के लिए हमें अपने शस्त्र नीचे रखने पड़े, तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि हमारा युद्ध समाप्त हो गया है। अपना स्वतन्त्रता-संग्राम चालू है। स्वतन्त्रता मिले बिना अंग्रेजों से अपना युद्ध कभी रुकेगा नहीं।

17 अगस्त के दिन प्रातः चार बजे नेताजी बैंकाक से अपने साथियों के साथ हवाई जहाज से निकले। दो विमानों में नेताजी तथा उनके साथी और स्वतन्त्रता सेना के कुछ अधिकारी तथा कुछ जापानी अधिकारी थे। ये दोनों विमान साथ-साथ यात्रा करते हुए सैगाँव से होते हुए तायवान फारमोसा द्वीप पर पहुँचे। वहाँ से उनका इरादा टोकियो जाने का था।

किन्तु दोपहर ढाई बजे के करीब फारमोसा द्वीप से उड़ने के दो-तीन मिनट बाद ही नेताजी के विमान का एक पंखा टूटकर नीचे गिर पड़ा। परिणामस्वरूप विमान का सन्तुलन बिगड़ा और वह भी नीचे जा गिरा। ईंधन की टंकी फूट जाने के कारण, दुर्भाग्य से जलता हुआ ईंधन नेताजी के शरीर पर गिर गया था। उनके सिर और कंधों पर बहुत बड़े घाव बन गए थे। वे तंग खाकी पोशाक पहनते थे, अतः उनको शीघ्रता से उतारा नहीं जा सका था। परिणामस्वरूप नेताजी का सारा शरीर जल गया। उन्हें तुरन्त अस्पताल ले-जाया गया, परन्तु 18 अगस्त की शाम को सात बजे उनके प्राण-पखेरू उड़ ही गए।

कर्नल हबीबुर्रहमान तथा उनके अन्य साथी अन्त तक उनके साथ होने के कारण और इसके विपरीत अन्य कोई साक्ष्य उपलब्ध न होने के कारण यही मानना पड़ेगा कि उस दुर्घटना में नेताजी का प्राणान्त हो गया था।

कर्नल हबीबुर्रहमान जब उस घटना का विवरण देते हैं, तब यह मानना ही पड़ता है कि उनका कहना सत्य है। तदपि भारत में इस प्रश्न को जो तूल दिया गया है, उस दृष्टि से केवल सामान्य मनुष्य के रूप में आज तक उपलब्ध सारी जानकारी की सहायता से हम इस प्रश्न को सभी कोणों से परखकर इस पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

जापानी संवाद एजेन्सी के अनुसार यह दुर्घटना 18 अगस्त 1945 के दिन में दोपहर ढाई बजे के लगभग हुई तथा उसी दिन शाम को नेताजी का स्वर्गवास हो गया था। परन्तु इस समाचार को टोकियो रेडियो ने पाँच दिन बाद 23 अगस्त

1945 के दिन क्यों प्रसारित किया?

नेताजी वास्तव में यदि किसी अन्य देश में चले गए हों तो अंग्रेज और अमेरिकन उनका पीछा न करें, अतः उन्हें सुरक्षित किसी स्थान पर पहुँचने दिया जाए। इस कारण इन पाँच दिनों का समय जानबूझकर बीतने दिया होगा। वे जब किसी स्थान पर सुरक्षित पहुँच गए हों तब ऐसी घोषणा कर देने में कोई हानि नहीं है, ऐसा सबके परामर्श से निश्चय किया गया होगा—ऐसी सम्भावना है।

अंग्रेज एवं अमेरिकन अधिकारियों के जापान में आने से पहले ही यदि ऐसा समाचार न दिया गया होता तो वे आते ही सबसे पहले नेताजी के विषय में ही पूछताछ करते, अर्थात् नेताजी को सुरक्षित स्थान पर पहुँचने के लिए जितना आवश्यक हो सके उतना समय तो मिलना ही चाहिए। परन्तु टोकियो रेडियो स्टेशन पर पाश्चात्य लोगों का अधिकार होने से पूर्व ही उनके निधन का समाचार पूरे विश्व में फैल जाए, इस दृष्टि से 18 अगस्त 1945 को तायवान में उनकी मृत्यु हो गई, इस प्रकार 23 तारीख को घोषणा की गई।

तायवान ऐसा स्थान है कि वहाँ पर बहुत कम भारतीय लोग होने के कारण वहीं नेताजी का निधन हुआ था, ऐसा बताने से समाचार सच्चा था अथवा गलत था, इस बात का पता लगाने के लिए पाश्चात्य अधिकारियों को कोई साक्ष्य उपलब्ध न हो—यह भी उद्देश्य हो सकता है।

जिस दुर्घटना में नेताजी तथा अन्य जापानी अधिकारी उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो गए, उसमें कर्नल हबीबुर्रहमान किस प्रकार बच गए, उनके दाहिने हाथ के तलवे की पिछली ओर थोड़ी-सी त्वचा जली हुई दिखाई देती है। बस इतना घाव उन्हें हुआ था। उनके शरीर में अन्य किसी भी स्थान पर कोई चोट अथवा जलने का चिह्न नहीं था।

दुर्घटना के समय नेताजी के हाथ में जो घड़ी थी वह भी केवल बन्द हो गई थी, परन्तु उसमें बाहर से किसी प्रकार की कोई चोट आदि का चिह्न नहीं था। किसी उड़ते हुए विमान से अथवा किसी ऊँचे स्थान से उसे जानबूझकर नीचे गिराकर बन्द कर दिया गया होने की सम्भावना हो सकती है।

विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद स्वतन्त्र ब्रह्मदेश के राष्ट्रपति डॉक्टर बा मा के विषय में जापानियों ने कहा था कि बैंकाक से टोकियो जाते समय रास्ते में ही उनका विमान लापता हो गया था, अतः उनके विषय में किसी प्रकार की आशा न रखना ही उचित होगा।

नानकिंग की राष्ट्रीय चीनी सरकार के अध्यक्ष के विषय में टोकियो रेडियो ने बताया कि उन्होंने जापान में आत्महत्या कर ली, इस प्रकार वे इस संसार से

विदा हो गए।

किन्तु ये दोनों व्यक्ति अभी जीवित हैं। चुंगकिंग सरकार के अधिकारियों ने तो नानकिंग सरकार के इस वरिष्ठ अधिकारी को जापान से पकड़कर चीन देश में ले-जाकर उस पर अभियोग चलाने की तैयारी कर दी थी। ऊपर के दो झूठे समाचारों के समान नेताजी के विषय में भी टोकियो रेडियो का समाचार झूठा हो सकता है—ऐसी सम्भावना थी।

नेताजी का जो विमान दुर्घटनाग्रस्त हुआ, उस गिरे हुए विमान का चित्र आज उपलब्ध है। वैसे ही नेताजी का शव जिस बक्से में उनकी मृत्यु के उपरान्त रखा गया बतलाते हैं, उस बक्स का तथा उनकी 'भस्म' जिस बक्स में रखी गई है, उन दोनों बक्सों के चित्र भी आज उपलब्ध हैं। किन्तु नेताजी के अन्तिम दर्शन का एक भी चित्र उपलब्ध नहीं है।

यदि केवल नाटक करना था तब भी, अथवा वास्तव में वह दुर्घटना घटित हुई थी तब भी, उनके अन्तिम दर्शन का एक चित्र लेना तो आवश्यक था।

युद्ध समाप्त होने के कुछ दिनों के बाद एक अज्ञात युवक बैंकाक स्थित स्वतन्त्रता सेना के कार्यालय में आया तथा वहाँ पर स्थित अधिकारियों को उसने कहा, "मैं स्वतन्त्रता सेना में था। अभी-अभी मैं एक स्थान से आया हूँ, नेताजी वहाँ पर सुरक्षित हैं तथा 14 अक्टूबर सन् 1945 के दिन वे आजकल जिस स्थान पर हैं, वहाँ से किसी अन्य स्थान पर चले जाएँगे।"

उस व्यक्ति को लोगों ने पागल समझा और उसके कथन पर विशेष ध्यान नहीं दिया। जब नेताजी रंगून से बैंकाक आए उसी समय ऐसा कहा जाता था कि यदि जापान पराजित हो जाए तो नेताजी की सुरक्षा के लिए यह मिथ्या समाचार फैलाया जाए। क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता के लिए दूसरे देश की सहायता से युद्ध आरम्भ करने के लिए उस देश में जाना पड़ेगा।

यह उनके मन में था। ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया गया है, वे सब 'नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जीवित हैं' इस तर्क की पुष्टि करती हैं।

इसके विपरीत आज वह जीवित नहीं हैं, उसका साक्ष्य तो कर्नल हबीबुर्रहमान का वक्तव्य है। विश्वयुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद नेताजी की मृत्यु के समाचार में अवश्य कुछ गड़बड़ है, ऐसा अनेक लोग समझते हैं। किन्तु जब विपत्तियाँ आती हैं तो वे चारों ओर से आती हैं—यह प्रत्येक का प्रतिदिन का अनुभव है। इटली की पराजय और मुसोलिनी की मृत्यु, जर्मनी की पराजय और हिटलर का अन्त, यदि यह सत्य है तब स्वतन्त्रता सरकार पर संकट आते ही उस सरकार के तेजस्वी संस्थापक का अन्त होना—यह ईश्वर की अगाध लीला में

असम्भव बात है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ऊपर दिए गए विवरण से प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना स्वतन्त्र निष्कर्ष निकाल सकता है।

इस विकट गुत्थी को सुलझाने में अन्य अनेक प्रमाणों के खुले सूत्र प्राप्त होते हैं जिन्हें खींचने की इच्छा होती है। परन्तु इससे बात सुलझने की अपेक्षा और भी उलझती जाएगी, परिणामस्वरूप किसी गलत स्थान पर गाँठ बन सकती है, अतः इस बात को, इन सूत्रों को अधिक न खींचा जाए तो अन्तिम ध्येय की दृष्टि से यही उचित होगा।

यदि नेताजी जीवित होते तो भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी कहीं पर छिपकर बैठे रह सकते हैं—यह बात जो लोग मानते हैं, उन्हें इस बात की तनिक भी कल्पना नहीं है कि नेताजी किस प्रकार के व्यक्ति थे। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस अपनी जान बचाने के लिए अथवा उचित समय की राह देखते हुए चुपचाप बैठनेवाले व्यक्ति नहीं थे। मेरा उनसे जो दो वर्ष का निकट का परिचय और सम्पर्क रहा, उसके आधार पर मैं यह बात डंके की चोट पर कह सकता हूँ कि अपने जीवन का प्रत्येक क्षण वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए ही व्यतीत करते थे। वे पक्के कर्मयोगी, स्थितप्रज्ञ और प्रयत्नवादी व्यक्ति थे; पलायनवादी नहीं।

केन्द्रीय सरकार ने उन पर लगाए गए सारे प्रतिबन्ध हटा लिये हैं, फिर भी नेताजी प्रकट क्यों नहीं होते? अनेक लोग इस प्रकार का प्रश्न भी करते हैं। परन्तु सरकार के प्रतिबन्ध अथवा सरकार की ओर से दी जानेवाली छूट के छोटे-छोटे विचार तो उनके मन का स्पर्श तक नहीं कर सकते।

वास्तव में रक्तपात के बिना अथवा खुले रूप में युद्ध की घोषणा किये बिना केवल परकीय सत्ता से कभी सहयोग और कभी असहयोग करके स्वतन्त्रता कभी भी प्राप्त नहीं होगी, इस बात का उन्हें पक्का विश्वास हो गया था। यदि भारतीय जनता परकीय सत्ता के विरोध में युद्ध की घोषणा करती है, तब उस युद्ध का मार्गदर्शन करने के लिए नेताजी जहाँ पर भी होंगे, वहीं से दौड़े-दौड़े चले आएँगे—ऐसा उस समय का वातावरण था। परन्तु कुछ अंशों तक हमारे ही कुछ व्यक्तियों की रुकावट के कारण तथा कुछ अंशों तक परकीय सत्ता के कारण अभी कुछ समय तक यह सम्भव नहीं है, ऐसा विश्वास करना भी गलत है। वह बाहर रहकर भी कुछ न कुछ करने का यत्न करते हुए अपना प्रत्येक क्षण देश की सेवा करने में ही व्यतीत करते होंगे, ऐसा सब भारतीयों को विश्वास करना चाहिए था।

नेताजी यदि जीवित होते तो उनके विषय में इस प्रकार की जो चर्चाएँ प्रचलित रहीं, वे उन्हें किंचित् भी अच्छी न लगतीं और न वे इसके लिए इतना

अवसर ही देते। वे कहा करते थे, "भारतीय लोगों को कोई भी बात गुप्त रखना नहीं आता। भारतीयों की यह बहुत बुरी आदत है। बिना बात ही किसी बात की चर्चा करना, जिस बात से अपना दूर का भी नाता नहीं, उस बात के विषय में पूछताछ करना, कुछ भी झूठमूठ बोलना, अपनी प्रशंसा करने के लिए गुप्त बातों को भी उजागर कर देना, भारतीयों की यह मनोवृत्ति जब बदलेगी, तब बदलेगी परन्तु आज तो समाज अथवा देश के उत्तरदायी व्यक्ति के रूप में उन्हें ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। यह बुराई हम जितनी जल्दी त्याग दें उतना ही अच्छा है।"

अनेक लोगों ने उनसे प्रश्न किया, "आप भारत से कैसे निकल भागे?" उस समय उनका उत्तर होता था, "जब तक भारत स्वतन्त्र नहीं हो जाता, मैं उस रहस्य को प्रकट नहीं करूँगा। क्योंकि एक तो मेरी सहायता करनेवाले व्यक्तियों को कष्ट न हो, और दूसरे—किसी अन्य व्यक्ति को इसी मार्ग से आना पड़ जाए तो उसके लिए यह मार्ग अंग्रेजों द्वारा बन्द न कर दिया जाय।"

मई मास के आरम्भ में रंगून पर अंग्रेजों का अधिकार हो जाने पर भी, उत्तरी ब्रह्मदेश के जंगलों में स्वतन्त्रता सेना और जापानी सेना द्वारा निरन्तर संघर्ष चल रहा था। मई मास की 14 तारीख को प्रातः दस बजे श्री शाहनवाज की टुकड़ी के कुछ सदस्य तथा कुछ जापानी अंग्रेजी सेना के अधिकार में आ गए थे। बचे सैनिकों को साथ लेकर जंगलों में घूमते हुए तथा अनेक स्थलों पर गोलाबारी से बचते हुए श्री शाहनवाज और श्री ढिल्लों को भी अपने 80 सैनिकों के साथ 17 तारीख को अंग्रेजों ने बन्दी बना लिया था।

सिंगापुर, बैंकाक तथा रंगून में श्री अमान क्यानी, जनरल जगन्नाथराव व भोंसले तथा जनरल लोकनाथन के अधीन स्वतन्त्रता सेना जूझ रही थी। हम अंग्रेजों को अपना शासक नहीं मानते, हम स्वयमेव उनके अधिकार में कभी नहीं जाएँगे, ऐसा जिन्हें लगता था, जिन्हें परदेश में स्वतन्त्रतापूर्वक रहना सम्भव था, वे लोग अपनी-अपनी छावनी से चले गए थे; परन्तु ऐसे लोग तो बहुत थोड़े ही थे।

जिनके पास पर्याप्त धन था, जो वहाँ के स्थानीय लोगों से परिचित थे, जो लोग उस स्थान की भाषा को जानते थे, विश्व की सामान्य स्थिति का जिन्हें ज्ञान था, परदेश में समय बिताने की जिनकी तैयारी थी, आदि-आदि बातें जिनके अनुकूल थीं, वे वहाँ के नागरिक बनकर रुक गए थे। शेष सभी अपनी-अपनी छावनियों में ही थे।

अंग्रेज अधिकारियों ने जिन प्रदेशों को अपने अधिकार में ले लिया था, स्वतन्त्रता सेना के शस्त्र अपने अधिकार में लेकर उन्होंने उनकी छावनियों पर अपने पहरेदार बैठा दिए थे।

अध्याय अट्ठाइस

उपसंहार

हमारा सुदूरपूर्व में संचालित स्वतन्त्रता-आन्दोलन सफल क्यों नहीं हो पाया, सर्वप्रथम इस पर विचार करना आवश्यक है। किसी भी सेना को विजय प्राप्त करने के लिए सारे सैनिकों में तत्परता के साथ युद्ध करने की लगन होनी आवश्यक है। भारतीय स्वतन्त्रता सेना के सैनिकों में यही भावना थी और तत्परता विद्यमान थी, इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है।

विजय के लिए आवश्यक जो दूसरी बात है वह है उचित मात्रा में सैनिकों का होना और उसी परिमाण में युद्धसामग्री की उपलब्धता।

भारतीय स्वतन्त्रता सेना की संख्या मात्र चालीस हजार थी। किन्तु आवश्यकतानुसार युद्धसामग्री, यातायात के लिए वाहन और जीवित रहने के लिए खाद्यसामग्री तथा वस्त्रादि, विमान, नौकादल, टैंक, तोपें आदि का उनके पास सर्वथा अभाव ही बना रहा था। इस सबके लिए उसको जापानियों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। सेना के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ कम से कम सीमा में अपने पास होनी ही चाहिएँ। यदि ऐसा न हो तो किस प्रकार का संकट आता है, यह हमने इम्फाल-युद्ध के समय भलीभाँति अनुभव किया था। यदि युद्धसामग्री की कमी न होती तो हमें अंग्रेज किसी भी प्रकार पराजित नहीं कर सकते थे। यह पराजय युद्धसामग्री की कमी के कारण हुई थी।

इसके दूरगामी परिणाम जितने उस समय दिखाई दे रहे थे, उससे भी कहीं अधिक थे। हमारे विमानों के पंखों के निचली ओर भारतीय तिरंगा झण्डा रँगवाकर उन विमानों के झुण्ड के झुण्ड यदि प्रतिदिन भारत में जाते तो उनको देखकर भारतीयों के हृदय में उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता और वे लोग स्वयं ही अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े होते।

सुदूरपूर्व के भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के सम्बन्ध में अंग्रेजों ने भारतीयों को अँधेरे में रखा था। इस स्वतन्त्रता-युद्ध का कोई भी समाचार भारतीय

समाचारपत्रों में प्रकाशित नहीं होने दिया जाता था। उनके इस दुष्प्रचार को रोकने के लिए उचित यही होता कि सुदूरपूर्व में इस प्रकार के समाचार प्रकाशित कर उनको विमानों की सहायता से भारत-भर में डाला जाता। जहाँ पर अंग्रेजों से युद्ध चल रहा था, वहाँ के प्रत्येक कोने में अंग्रेजों के पक्ष में युद्धरत भारतीय सेना की छावनियों में इस प्रकार के समाचारों को डाला जाना चाहिए था। उससे उनको हमारे आन्दोलन की पूर्ण जानकारी प्राप्त होती। लाउडस्पीकरों के माध्यम से भी इसको प्रसारित किया जाता तो उसका भी प्रभाव होता। किन्तु यह सब करने के लिए किसी भी प्रकार की सामग्री उपलब्ध नहीं थी।

स्वतन्त्रता आन्दोलन की सहायता करने का जापान का इरादा यदि साफ होता तो आज द्वितीय विश्वयुद्ध का इतिहास कुछ और ही मोड़ ले लेता। यदि उनकी हार्दिक इच्छा इस आन्दोलन की सहायता करने की होती तो वह भारतीय स्वतन्त्रता सेना को युद्धसामग्री की कमी न होने देता और उसे शस्त्र-सज्जित करके ही मैदान में भेजता।

इसके साथ ही भारतीय स्वतन्त्रता सेना में भी दोषों की कमी नहीं थी। सबसे प्रमुख बात यह थी कि नेताजी की टक्कर का अन्य कोई भी नेता हमारे पास नहीं था। जो कुछ थे, नेताजी ही थे। अकेले नेताजी यह सारा कार्य किस प्रकार संचालित कर सकते थे, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। नेताजी के अनुपम उदाहरण से प्रेरित होकर अपने सर्वस्व का त्याग करने एवं नेता जो काम बताए उसके अनुसार एकनिष्ठ होकर कार्य करके देश के लिए प्राणों को अर्पण करने की भी तैयारी होना आवश्यक था।

''गुप्त कार्य करने के लिए भारत में भेजे गए अनेक लोगों को अंग्रेजों ने फाँसी पर लटका दिया था, फिर भी उन्होंने अंग्रेजों से अपने प्राणों की भीख नहीं माँगी, न वे उनकी शरण में ही गए। इनमें से अधिकतर तमिल और मालाबार के लोग थे।'' ऐसे लोग द्वितीय श्रेणी के देशभक्तों में गिने जाते हैं।

''हम सेना में तो हैं ही, अत: अंग्रेजों की ओर से लड़ने की अपेक्षा अपने देश के लिए युद्ध करना अच्छा ही होता है। हम नेताजी के एकनिष्ठ रहेंगे, डरपोक बनकर अंग्रेजों से जाकर मिलेंगे नहीं, अथवा अपने देश से विश्वासघात नहीं करेंगे''—इस निश्चय के साथ तथा शुद्ध निर्मल हेतु से, युद्धबन्दी से स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित होकर अपने प्राणों की आहुति देनेवाले ये वीर देशभक्त की तीसरी श्रेणी में गिने जाते हैं।

''अपने-अपने व्यवसाय अथवा स्वार्थ को न छोड़ते हुए, अपने कारोबार को सँभालते हुए, दान से अथवा शारीरिक श्रम से यथासम्भव देशकार्य करना,

जितना सम्भव हो उतनी सहायता करना, प्रसन्नता और निष्ठा से सारे काम करना''—इस विचारधारा के लोग देशभक्ति की चतुर्थ श्रेणी में गिने जाते हैं। इनमें सैनिक अथवा असैनिक कार्यकर्त्ताओं का तथा यथाशक्ति द्रव्य दान करनेवालों का समावेश होता है।

''स्वयं सम्मुख न आना, किसी में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करना, जितना किसी ने काम बता दिया उतना कर देना, जितना धन माँगा जाए उतना दे देना और स्वेच्छा से कुछ भी न देना, कुछ भी काम न करना किन्तु काम करनेवालों के प्रति सद्भावना रखना—इस प्रकार के लोग देशभक्ति की निचली श्रेणी में गिने जाते हैं।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता आन्दोलन सफल न होने पाए, ऐसा मन में सोचनेवाले, उसमें रुकावटें डालनेवाले अथवा केवल पैसे के लिए ही अथवा आदर, शोहरत प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेनेवाले, जापानियों के हस्तक के रूप में काम करनेवाले—इस तरह के नीच लोग भी कुछ कम नहीं होते। दूर पूर्व में स्वतन्त्रता-आन्दोलन बहुत जोरों पर था तथा वहाँ नेताजी सुभाषचन्द्र बोस थे, अतः दूर पूर्व में स्थित सारे भारतीय लोग देशभक्त ही थे—ऐसा मानना गलत होगा।

वर्षों तक दासता की जंजीरों में जकड़ा होने के कारण भारतीय लोगों का हर प्रकार से ह्रास ही हुआ है। ऊपर जिनका वर्णन किया जा चुका है, ऐसे प्रथम श्रेणी के देशभक्त तो हर पीढ़ी में कोई एक या दो ही होते हैं। दूसरी श्रेणी के देशभक्त भी थोड़े कम ही होंगे तथा उस मात्रा में आगे के सारी श्रेणी के देशभक्त अधिक होंगे। परन्तु साधारण भारतीय जन निचली दो श्रेणियों में ही गिने जाने योग्य हैं।

जापान तथा जर्मनी जैसे तेजस्वी स्वतन्त्र देश की साधारण जनता आमतौर पर दूसरे दर्जे के देशभक्तों में गिनी जा सकती है। भारतीय जनता को अभी भी वह श्रेणी प्राप्त करनी है—यह बात प्रत्येक नागरिक को ध्यान में रखनी चाहिए। हमारे दोषों के कारण भी स्वतन्त्रता-आन्दोलन को पर्याप्त हानि हुई है, इसका उल्लेख हम पिछले अध्यायों में अनेक स्थानों पर कर चुके हैं।

इस बात की पुष्टि में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। 17 फरवरी 1942 को सिंगापुर के फेरर पार्क में नेताजी के भाषण से प्रोत्साहित होकर जिन युद्ध-बन्दियों ने सेना में सम्मिलित होने का वचन दिया था, उन्हें तुरन्त सेना में प्रविष्ट करने की अपेक्षा महीनों तक उन छावनियों में ही रहने दिया गया जिसके परिणामस्वरूप परस्पर वाद-विवाद और स्वतन्त्रता के पक्ष-विपक्ष में हुए विचार-

विनिमय और अंग्रेजों के पिट्ठुओं की तत्परता के कारण उनमें से अनेक लोग अपने वचन से पीछे हट गए थे। परिणामस्वरूप 52 हजार में से केवल 20 हजार बन्दी ही सेना में प्रविष्ट हुए थे।

उसके बाद भी विभिन्न बन्दी-छावनियों में से स्वतन्त्रता सेना में सम्मिलित होने के लिए सूचियों पर सूचियाँ भेजी जा रही थीं। उन सबको बन्दी-छावनियों से निकालकर अलग स्वतन्त्रता सेना का गठन नहीं किया गया। भारत में गुप्त रीति से काम करने के लिए, आकाशवाणी केन्द्र पर काम करने के लिए, दुभाषिये के रूप में काम करने के लिए तथा क्लर्क के रूप में काम करने के लिए जापानियों को जिन दस-पाँच लोगों की बीच-बीच में आवश्यकता होती थी, उन लोगों को तो तनिक भी विलम्ब न करते हुए तुरन्त ले-जाया जाता था।

इस बात से इतना तो स्पष्ट है कि प्रचार तो भारत की स्वतन्त्रता के नाम से किया जाता था, परन्तु कइयों का उपयोग जापान द्वारा केवल अपने मतलब के लिए किया जाता था। जितने लोग चाहिए होते थे केवल उतने ही लोगों को ले-जाना, प्रारम्भ से ही जापानियों की कार्यप्रणाली रही थी।

कै० मोहनसिंह को स्वतन्त्रता सेना का सबसे बड़ा अधिकारी तथा श्री राघवन, गोहो, मेनन, इत्यादि भारतीय लोगों को बड़े अधिकारियों के रूप में जापानियों ने मान्यता दी थी। तदपि इनमें से किसी की भी अनुमति लिये बिना ही पेनांग की गुप्त कार्यशाला में तैयार किये गए विद्यार्थियों को उन्होंने भारत में कार्य करने के लिए भेज दिया। 'भारतीय स्वतन्त्रता सेना को हम भारत और ब्रह्मदेश की सीमा पर युद्ध करने के लिए ले-जा रहे हैं'—यह बात जापानी अधिकारियों ने 29 नवम्बर 1942 को मोहनसिंह को कही थी। इसके साथ ही 6 दिसम्बर को उनसे कहा गया था कि उनको ले-जाने के लिए जहाज आ गया है। इससे पूर्व भी उन्होंने 800 लोगों की एक टुकड़ी सीमा पर भेज दी थी।

इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के अधिकारियों को धोखे में रखकर अपना काम निकालने की वृत्ति को उन्होंने अपनाया हुआ था।

कैप्टन मोहनसिंह ने जब त्यागपत्र दे दिया था तो उस समय श्री रासबिहारी बोस तथा उनके साथियों ने मिलकर नई सत्ता आरम्भ की। इसके बाद ऐसा न हो, किसी एक ही भारतीय संगठन का महत्त्व न बढ़े, इस दृष्टि से जापानियों ने 'युवक संघ' की स्थापना की। उन्होंने उसको अधिक बढ़ावा दिया। उसमें उन्होंने अपने पिट्ठुओं को ही सम्मिलित किया था।

अतः जापानियों के किसी प्रस्ताव को यदि श्री रासबिहारी बोस के संगठन ने अस्वीकार किया तो उसी प्रस्ताव को वे युवक संघ की ओर से स्वीकार करवा

लेते थे। ऐसी ही जापानियों की नीति बन गई थी।

उन्होंने यह ढिंढोरा भी पीटना आरम्भ कर दिया था कि 'युवक संघ' ही सारे भारतीयों का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था है तथा उसके साथ ही श्री रासबिहारी बोस के कार्यकर्त्ताओं का अपमान भी कर दिया करते थे। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि भारत की स्वतन्त्रता के विषय में सारे विदेशियों का एक-जैसा ही व्यवहार था।

जापान सरकार ने न स्वयं ही भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के पुरस्कर्त्ताओं अथवा संगठनों से सीधा सम्पर्क रखा और न अन्य देशों को रखने दिया। भारतीय स्वतन्त्रता सेना की 50 हजार तक की संख्या पर समझौता हो जाने के बाद भी 'हिकारी किकान' के संकेत पर जापान ने उतनी संख्या नहीं होने दी। विभिन्न आकाशवाणी केन्द्रों पर भारत-सम्बन्धी कार्यक्रमों के प्रसारण पर भी उन्होंने व्यर्थ का अपना नियन्त्रण जारी रखा था। भारतीयों को प्रचार-तन्त्र की स्वतन्त्रता नहीं थी। आन्दोलन के लिए जो-जो जितनी सामग्री चाहिए थी, उसकी पूर्ति में भी कटौती ही की जाती रही थी। जापानियों के मन में था कि भारतीयों की पूरी सहानुभूति उनके साथ हो, बस उतने तक ही उन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन को महत्त्व दिया था, उससे अधिक नहीं।

सन् 1944 की बात है, फकीर स्वामी नामक सिंगापुर का एक तमिल-निवासी जापानियों के पुलिस-विभाग में नौकरी कर रहा था। एक दिन किसी राष्ट्रीय दिन के उपलक्ष्य में सिंगापुर के सारे भारतीय नागरिकों ने अपने-अपने घरों के सामने तिरंगा झण्डा लगा रखा था। वह जापानियों का प्रदेश होने के कारण उनके व हमारे राष्ट्रीय दिनों पर भारतीय नागरिकों को जापानी व तिरंगा दोनों ध्वज फहराने की प्रथा प्रचलित हो गई थी। उस दिन मध्याह्न दो बजे यही फकीर स्वामी सिंगापुर के बाजार के मार्ग पर चलता हुआ स्वतन्त्रता सरकार और नेताजी के विरुद्ध बकवास करता हुआ जा रहा था। यहाँ तक कि उसने अनेक भारतीयों को डाँट-डपटकर अपने मकान के सामने से तिरंगा झण्डा हटाने के लिए कहा। उसका कहना था, "यह झण्डा सच्चा नहीं है, केवल जापान का ही झण्डा फहराना उचित है।" उसकी इस बात के लिए सिंगापुर के स्वतन्त्रता संघ के केन्द्रीय कार्यालय में उसके विरुद्ध दो शिकायतपत्र दिए गए।

एक शिकायत पर तो भारतीय नागरिकों के हस्ताक्षर थे तथा दूसरी शिकायत की अर्जी किसी ने स्वतन्त्र रूप से दी थी। उन आवेदनों के आधार पर फकीर स्वामी को संघ के कार्यालय में उपस्थित किया गया। वहाँ पर भी उसने अत्यन्त अशिष्ट व्यवहार किया। दण्डस्वरूप उसको दो-चार थप्पड़ मारे गए और

दिनभर उसको बाहर एक खम्भे के साथ बाँधकर खड़ा रख दिया गया। तदपि उसने क्षमा-याचना नहीं की।

उस दिन की कैद से छूटने के उपरान्त दूसरे दिन उसने खूब मद्यपान किया और शिकायतकर्त्ताओं में से एक व्यक्ति की दुकान में घुस उसने स्वतन्त्रता-आन्दोलन और उसके कार्यकर्त्ताओं को गालियाँ देनी आरम्भ कर दीं और मारपीट शुरू कर दी।

उस दिन फिर से उसको स्वतन्त्रता संघ के कार्यालय में लाकर पिछले दिन की ही भाँति दण्डित किया गया। उसके बाद 'हिकारी किकान' को उसकी शिकायत भेजी गई। जब उनको बताया गया कि फकीर स्वामी जापानी पुलिस का नौकर है तो 'हिकारी किकान' के अधिकारी ने मन ही मन जो निर्णय करना था वह कर लिया और बाहरी तौर पर कहने लगा, "हाँ, हाँ, आप ठीक कहते हैं, ऐसे व्यक्ति को दण्डित किया ही जाना चाहिए था।" किन्तु उन्होंने स्वयं उसे दण्डित नहीं किया। उन्होंने उसको पुलिस की प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर टाल दिया।

इसके कुछ दिनों बाद एक अन्य घटना हुई। प्रतिदिन प्रातःकाल जापानी अधिकारी बन्दी सैनिकों को काम पर ले जाते थे। जिस लारी में वे जाते थे, एक दिन एक लारी झाँसी रानी पथक के पास कुछ दूरी पर रुक गई और उसमें से एक बन्दी उतर गया और लारी आगे निकल गई। झाँसी रानी पथक की छावनी के पास स्त्री सैनिकों का ही पहरा होता था। किन्तु उसके सामने स्वतन्त्रता सेना का सैनिक पुलिसवाला दिनभर पहरे पर रहता था।

अल्लाबक्स नाम का वह युद्धबन्दी लारी के जाते ही पहरा देनेवाली स्त्री सैनिक के बिल्कुल बराबर से ऐसा निकला कि उसकी बन्दूक से वह टकराया। स्त्री सैनिक ने कहा, "दिखाई नहीं देता क्या?" और उसे परे धकेल दिया।

वह तो तकरार करने के लिए ही उतरा था। वह उसके पास आकर कहने लगा," क्या कहा तुमने?"

सामने बैठा पुलिस का सैनिक उसे देख रहा था। वह दौड़ता हुआ आया और उसने उस युद्धबन्दी की अच्छी तरह पिटाई कर वहाँ से भगा दिया।

इस प्रकार की घटनाएँ बिना जापानियों के प्रोत्साहन के हो जाएँ—यह सम्भव नहीं था। वैसे जापानी बड़े देशभक्त होते हैं। अपने देश के लिए प्राण न्यौछावर करने में वे कभी पीछे नहीं हटते। युद्धबन्दी बनने की अपेक्षा वे आत्महत्या करना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। आत्महत्या का उनका अपना एक प्रकार होता है, जिसे वे हाराकिरी कहते हैं अर्थात् पेट काटकर आत्महत्या करना। उनके अनुसार यही पुण्यकारी आत्महत्या है, अन्यथा किसी अन्य प्रकार से की

गई आत्महत्या पाप की भागिनी बनाती है।

जापानियों में वर्णभेद बिल्कुल नहीं होता। जापानी स्वयं को किराये का सैनिक अथवा केवल नौकर नहीं समझता। वह प्राणापण से सेना का कार्य करता है। बाहरी दिखावट को भी वे आवश्यक नहीं समझते।

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है—भारत में आए दिन हिन्दू-मुसलमान दंगे होते रहते हैं; सुदूरपूर्व में जब स्वतन्त्रता-आन्दोलन चल रहा था तो उस समय यह हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न 'क्यों' नहीं उठा? हिन्दू-मुसलमान परस्पर लड़े क्यों नहीं?

भारत में यह सब इसलिए होता रहा था क्योंकि अंग्रेज शासक उसके लिए भूमिका बनाते थे।

दासता की स्थिति में मनुष्य का इतना पतन हो जाता है कि वह क्षणिक सुख के लालच के कारण ही चाहे किसी के साथ, चाहे उसमें अपना देश ही क्यों न सम्मिलित हो, विश्वासघात करने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसा होने से अंग्रेज लोग कभी भी लोभ-लालच देकर सामान्य भारतीय को अपना क्रीतदास बना लेते थे।

अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए अंग्रेजों ने मुसलमानों के मनों को हिन्दुओं के प्रति दूषित करने में किसी प्रकार की कोई कसर नहीं छोड़ी थी। उसका कुछ अंश सुदूरपूर्व में भी दिखाई दे ही जाता था।

राष्ट्रीय दिनों पर कुछ मुसलमान लोग तिरंगा झण्डा न फहराते हुए हरे झण्डे फहराते थे। फौजी छावनी में जब कभी मुर्गे अथवा बकरे लाए जाते थे तो यह समस्या खड़ी हो जाती थी कि उन्हें झटके से काटा जाए अथवा उन्हें हलाल किया जाए। इस प्रकार की घटनाएँ कभी-कभी अवश्य हो जाया करती थीं।

स्याम में स्थित फौजी प्रशिक्षण केन्द्र में 8-9 सौ हिन्दू रिक्रूट होते थे। छावनी के अधिकारियों में केवल 2 या 3 मुसलमान होते थे। इतनी अल्प संख्या में होने पर भी यह हलाल और झटके का विवाद उठ ही जाता था। अन्त में उसका हल यही निकाला जाता था कि आधों को हलाल किया जाए और आधों को झटके से काटा जाए। उनको एक-साथ मिलाकर पकाया जाए। तब जिसको खाना हो वह खाए और जिसको न खाना हो वह न खाए।

ऐसा नियम बनाया गया था कि गाय और सूअर का मांस छावनी में लाया ही न जाए। झटका और हलाल का यह विवाद बहुत छोटा था। किन्तु जब तूल पकड़ने लगता है तो विवाद बहुत बढ़कर पारस्परिक शत्रुता का रूप ले लेता है।

हिन्दू-मुसलमान से इतर लोग जब इस बात को देखते और सुनते थे तो

हमारी खिल्ली उड़ाते थे। जापानी लोगों की समझ में नहीं आता था कि इसमें झगड़ने की क्या बात है?

तिरंगे के स्थान पर हरा झण्डा फहरानेवाले दोषी को स्वतन्त्रता संघ के कार्यालय में बुलाकर उन्हें समझाया जाता रहा था और उसे रोकने का यत्न किया गया था।

उस युग में भी 'वन्दे मातरम्' पर कुछ मुसलमानों को आपत्ति थी। तब उस राष्ट्र-वन्दना को बन्द कर दिया गया और उसके स्थान पर नया राष्ट्रगान रचना पड़ा था, जिसे स्वतन्त्रता सरकार का राष्ट्रगीत का पद प्राप्त हुआ था।

स्वतन्त्रता सरकार की स्थापना के दिन जो शपथ तैयार की गई थी वह भी जानबूझकर 'मैं खुदा का नाम लेकर यह पवित्र कसम उठाता हूँ....' इस प्रकार की बनाई गई थी।

इस प्रकार कभी शान्ति से, कभी समझा-बुझाकर, कभी डाँटकर और यह सोचकर कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर स्वयं ही यह सब ठीक हो जाएगा, इस प्रकार के अनेक उपाय निकालकर समस्या को सुलझाया जाता रहा था।

"प्रत्येक वस्तु का कुछ-न-कुछ मूल्य होता है....स्वतन्त्रता का अभी पूरा मूल्य हमने नहीं चुकाया है"—नेताजी सदा यही कहा करते थे।

हम नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जैसे महान् नेताओं के अनुयायी हैं, यह कहना तभी सार्थक माना जाएगा जब उनके एक-एक गुण को अपनाकर हम उसे अपने जीवन में ढालें। प्रत्येक देशवासी को हर क्षण यह स्मरण रखना चाहिए कि वह महान् देश का महान् नागरिक है और देश के प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य हैं, जिनका पालन करना नितान्त आवश्यक है।

प्रत्येक देशवासी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी भावी पीढ़ी को भी उसी प्रकार देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत करने के लिए प्रयत्नशील रहे। अपने खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि में स्वदेशी का विशेष ध्यान रखे।

आज भी यदि हम इन बातों पर विशेष ध्यान दें और मातृभूमि के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने में प्रमाद न करें, तो नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का यह बोध-वाक्य यथार्थ होने में विलम्ब नहीं लगेगा।

॥ जय हिन्द ॥



पुरुषोत्तम नागेश ओक

जन्म : 2 मार्च 1917, इन्दौर (म० प्र०)
शिक्षा : बम्बई विश्वविद्यालय से एम० ए०, एल-एल० बी०
जीवन कार्य : एक वर्ष तक अध्यापन कर सेना में भर्ती।

द्वितीय विश्व युद्ध में सिंगापुर में नियुक्त। अंगरेजी सेना द्वारा समपर्ण के उपरान्त आज़ाद हिन्द फौज के स्थापन में भाग लिया, सैगौन में आज़ाद हिन्द रेडियो में निदेशक के रूप में कार्य किया।

विश्व युद्ध की समाप्ति पर कई देशों के जंगलों में घूमते हुए कलकत्ता पहुँचे। 1947 से 1974 तक पत्रिकारिता के क्षेत्र में (हिन्दुस्तान टाइम्स तथा स्टेट्समैन में) कार्य किया तथा भारत सरकार के सूचना प्रसारण मंत्रालय में अधिकारी रहे। फिर अमरीकी दूतावास की सूचना सेवा विभाग में कार्य किया।

देश-विदेश में भ्रमण करते हुए तथा ऐतिहासिक स्थलों का निरीक्षण करते हुए उन्होंने कई खोजें कीं। उन खोजों का परिणाम उनकी रचनाओं के रूप में हमें मिलता है। उनकी कुछ रचनाएँ हैं-ताजमहल मन्दिर भवन है, भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें, विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय, वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास, कौन कहता है अक्बर महान था?

उनकी मान्यता है कि पाश्चात्य इतिहासकारों ने इतिहास को भ्रष्ट करने का जो कुप्रयास किया है, वह वैदिक धर्म को नष्ट करने के लिए जानबूझकर किया है और दुर्भाग्यवश हमारे स्वार्थी इतिहासकार इसमें उनका सहयोग कर रहे हैं।

हिन्दी साहित्य सदन
2 बी॰डी॰ चैम्बर्स,10/54 डी. बी. गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली 110005
Email : indiabooks@rediffmail.com